ॐ

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–चतुर्थ पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

वायव्य उत्तर ईशान

पश्चिम पूर्व

नैर्ऋत्य दक्षिण आग्नेय

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्

(मानितविश्वविद्यालयः)

नवदेहली-110016

ISSN :- 0976- 4321

वास्तुशास्त्र अध्ययन माला–चतुर्थ पुष्प

वास्तुशास्त्रविमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो० वाचस्पति उपाध्याय
कुलपति

सम्पादक
प्रो० देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष– ज्योतिष विभाग
संयोजक– वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम
विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

ज्योतिष विभाग
श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ
(मानित विश्वविद्यालय)
नव देहली-११००१६

पुरोवाक्

आवास प्राणी मात्र की एक स्वाभाविक कामना है। इस कामना की पूर्ति के लिए प्राणी का नैसर्गिक भाव उसके गृह का निर्माण करवाता है। मनुष्य एक बुद्धि सम्पन्न प्राणी है इसलिए उसने अपनी बुद्धि के अनुरूप अपने निवास का विकास किया परन्तु विकास के साथ उसके विलासिता के भाव ने नई समस्यायें उत्पन्न कर दीं। आज का मानव जिस गृह में रहता है वह भौतिक सुविधा सम्पन्न तो है परन्तु वह वहाँ सुख का अनुभव नहीं करता है। इसका क्या कारण है? इस जिज्ञासा ने ही लोगों का ध्यान वास्तुशास्त्र के प्रति आकर्षित किया। भारतीय चिन्तन मानव के सुख एवं दुःख के तीन कारणों को मूलरूप में स्वीकार करता है। ये तीन कारण हैं–भौतिक, दैविक एवं आध्यात्मिक। भौतिक संसाधन वास्तविक सुख को प्रदान नहीं कर सकते हैं क्योंकि भौतिक से भौतिक की तो पूर्ति हो सकती है अन्यों की नहीं, मानव देह मात्र भौतिक पिण्ड नहीं है वह इसके इतर भी है, जिसका विचार आज का विज्ञान भौतिक दृष्टि से नहीं कर सकता है। उसके पास भौतिक के इतर सोचने के लिए कोई धरातल नहीं हैं। इसलिए आज का विज्ञान सब कुछ भौतिक पदार्थ में ही देखने का चिन्तन करता है जो कि सम्भव नहीं है। मात्र पञ्चज्ञानेन्द्रीय, ज्ञान ही भौतिक है; जैसे मनुष्य पार्थिव अपार्थिव का सम्मिश्रण है ठीक वैसे ही गृह भी इन दोनों का ही मिश्रित रूप है। किसी भी अपार्थिव को समझने के लिए पार्थिव की आवश्यकता होती है। व्यक्ति की भौतिक देह एक पार्थिव रूप पिण्ड है परन्तु इसमें रहने वाला व्यक्ति अपार्थिव है। व्यक्ति का स्वरूप उसके भौतिक देह के द्वारा ही समझ में आता है। वैसे ही जैसे विद्युत को समझने के लिए एक भौतिक उपकरण की आवश्यकता होती है। गृह भी मानव की तरह ही पार्थिव अपार्थिव का ही संयुक्त रूप है तभी तो हमारे ऋषियों ने वास्तुपुरुष के रूप में गृह के उस अपार्थिव स्वरूप को समझने का प्रयास किया जो हमारे सुख एवं दुःख का ध्यान रखता है, नहीं तो पत्थर, ईंट, लोहा, लकड़ी से बना हुआ पिण्ड हमें शुभ-अशुभ फल कैसे प्रदान कर सकता है। इसलिए ऋग्वेद में वास्तोष्पति से प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि हे वास्तोष्पते (गृहस्वामिन्)! तुम हमारे तारक हो और हमारे धन के विस्तारक हो। हे सोम! गोओं और अश्वों से युक्त होकर हम जरा से रहित होवे। तेरी मित्रता में हम रहें। पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है वैसे ही आप हमारा पालन करें। यथा–

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।।–ऋग्वेद ७.५४.२

भारतीय वास्तुशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य सर्वविध सुख समृद्धि एवं शान्ति प्रदान करना है। कुछ लोगों का कहना है कि यह तभी सम्भव है जब सभी को आहार, परिधान एवं आवास सुलभ हो। आज यह देखा जा रहा है कि इन तीनों से परिपूर्ण लोग अधिक परेशान एवं अशान्त हैं। इसलिए इन मूल भूत सुविधाओं पर पुनः विचार की आवश्यकता है। इन तीन मूल भूत तत्त्वों की परम आवश्यकता हर प्राणी का प्रारम्भिक सुख हैं और इन तत्त्वों की विकृति ही दु:ख है जो आज देखा जा रहा है। आज के समाज में आहार, परिधान एवं आवास विकृत हो चुके हैं। इन तीनों मूलभूत आवश्यकताओं को यदि दिग्-देश एवं काल के साथ जोड़कर न देखा जाय तो विकृति अवश्यम् भावी है।

वास्तुशास्त्र गृह निर्माण के सन्दर्भ में हमारा पथ प्रदर्शक शास्त्र है। यह आवास की समग्र सुविधाओं के साथ-साथ निर्माण से सम्बन्धित प्रविधि का निर्देशन भी करता है। वास्तुशास्त्र ज्योतिष का अंगभूत शास्त्र है इसलिए यह ज्योतिष के मूलभूत उद्देश्य के अनुरूप यह जानने का पूर्ण प्रयास करता है कि कौन व्यक्ति किस दिग्-देश में किस काल तक सुख समृद्धि के साथ रहकर अपने अभ्युदय को प्राप्तकर सकता है। अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि ही धर्म है– **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः।** (वैशेषिक सूत्र १:१२)

ऋग्वेद प्रथमग्रन्थ है जिसमें धार्मिक एवं लौकिक वास्तु का वर्णन मिलता है। यहाँ धार्मिक वास्तु के रूप में यज्ञशाला एवं यज्ञवेदियों का तथा लौकिक वास्तु के रूप में गृह, पुर, आदि का बहुत-स्थलों पर उल्लेख उपलब्ध होता है। साधारण घरों तथा बड़े भवनों के अतिरिक्त इस साहित्य में त्रिभौमिक प्रासाद, सहस्त्र स्तम्भों द्वारा निर्मित भवन एवं सहस्त्रद्वारों से युक्त सभा कक्ष का भी वर्णन मिलता है। नगर निवेश का विवरण भी वैदिक साहित्य में मिलता है। वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि भारतीय कला धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित तथा सौंदर्य एवं आनन्द से परिपूर्ण है।

ऋग्वेद में यज्ञशाला, यज्ञवेदियों का उल्लेख तो मिलता है परन्तु पतिमाओं से सम्बन्धित उल्लेख कम मिलता है। पतिमा पूजन एवं मन्दिरों के स्पष्ट उल्लेख पूर्ववैदिक काल में प्रायः नहीं मिलते हैं। पतिमाओं के उल्लेख उत्तरवैदिक काल एवं उपनिषद काल में तथा मन्दिर निर्माण के प्रमाण ई. पूर्व चौथी शती से मिलने लगते हैं। मन्दिरों की परम्परा के कारण ही बौद्धों एवं जैनों के स्तूप बनने लगे। सम्राट अशोक (२७२-२३२ ई. पू.) ने तो बड़ी संख्या में देशभर में बौद्ध स्तूप बनवाये। गुप्तकाल तथा मध्ययुग में सर्वाधिक बौद्ध एवं जैनों के स्तूपों, चैत्यों तथा बिहारों का निर्माण हुआ।

भारतीय वास्तु शास्त्र के उद्भावकों में विश्वकर्मा एवं मय का नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध है इन दोनों आचार्यों की परम्परा ही भारतीय स्थापत्य में विकसित हुई दिखाई देती है। धीरे-धीरे इनके अनेक तत्त्व एक-दूसरे में मिश्रित होते चले गये। अतः कह सकते हैं कि आज इन दोनों परम्पराओं

का ही मिला-जुला रूप वास्तुशास्त्र दिखाई देता है। इन दोनों परम्पराओं पर क्षेत्रीय प्रभाव भी उत्तरोत्तर दिखाई देते हैं। वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र, जैन तथा बौद्धग्रन्थ, आगम तंत्र, पुराण एवं वृहत्संहिता आदि ग्रन्थों में वास्तु भी प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है। इन सभी में भी इन दोनों परम्पराओं का ही समिश्रण मिलता है।

भारतीय वास्तु शास्त्र की परम्परा सूदृढ़ एवं वैज्ञानिक है। आज समाज में सर्वाधिक इस शास्त्र की चर्चा हाती हुई दिखाई देती है परन्तु शास्त्रीय ज्ञान के अभाव में जिज्ञासुओं को सम्यक् दिशा निर्देश नहीं मिल पा रहा है। प्राय: आज के वास्तुशास्त्री मात्र दिग् का सहारा लेकर समाज को दिग् भ्रमित करने लगे हैं। यदि आज इस शास्त्र का शास्त्रीय ज्ञान एवं परम्परा लोगों को बताई जाय तो इस शास्त्र के अनुरागी लाभान्वित हो सकते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति एवं इस शास्त्र के जनोपयोगी एवं व्यावहारिक होने के कारण विद्यापीठ इस शास्त्र के अध्ययन एवं अध्यापन में संलग्न है। सम्प्रति इस शास्त्र का अध्ययन ज्योतिष विभाग में स्नातकोत्तर वास्तुशास्त्रोपाधि (पी.जी. डिप्लोमा वास्तुशास्त्र) के रूप में चल रहा है। इसी के प्रतिफल के रूप में इस वास्तुशास्त्रविमर्श "चतुर्थपुष्प" को ज्योतिष विभाग के अध्यक्ष एवं वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम के संयोजक प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी ने विभिन्न शोधपूर्ण लेखों से सुसज्जित किया है। यह इनके निरन्तर कार्य करते रहने का ही परिणाम है। अत: मैं इन्हें हार्दिक साधुवाद देता हूँ।

यह विषय जितना लोकप्रिय, उतना ही शास्त्रीय भी है। इस शास्त्र के गूढ़ तथ्यों को जन-जन तक पहुँचाने और प्रचलित भ्रांत धारणाओं के निराकरण में ज्योतिष विभाग द्वारा किया जाने वाला यह कार्य एक स्वच्छ एवं सुदृढ़ भूमिका का निर्वहन कर रहा है। मैं विभागीय सभी विद्वज्जनों को धन्यवाद देते हुए, इस वास्तुशास्त्रविमर्श "चतुर्थपुष्प" को वास्तुशास्त्र प्रेमियों के अध्ययनार्थ समर्पित करते हुए हर्ष एवं गौरव का अनुभव कर रहा हूँ।

चैत्र पूर्णिमा, वि. सं. २०६७ — **प्रो. वाचस्पति उपाध्याय**
दिनाङ्क ३०-०३-२०१० — कुलपति

सम्पादकीय

त्रिस्कन्ध ज्योतिष शास्त्र के संहिता विभाग में वास्तु विद्या का वर्णन उपलब्ध होता है इसी विभाग में वास्तु से सम्बन्धित अन्य विषयों का वर्णन भी मिलता है। जैसे दकार्गल, वृक्षायुर्वेद, प्रासादलक्षण, वज्रलेपाध्याय, प्रतिमा लक्षण, वन सम्प्रवेशाध्याय, प्रतिमा प्रतिष्ठापनाध्याय आदि। ज्योतिष शास्त्र के विचारणीय पक्ष पूर्वानुमान के कारण ही वास्तु विद्या ज्यौतिष के संहिता विभाग में समाहित हुई। पदार्थ एवं पिण्ड का वर्तमान के धरातल पर पूर्वानुमान करना ही ज्योतिष का मुख्य उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की पूर्ति में ज्यौतिष शास्त्र को यह विचार करना है कि कौन सा व्यक्ति किस वास्तु में कब तक सुख का अनुभव कर सकता है। इसी जिज्ञासा से वास्तु शास्त्र ने सभी पहलुओं पर विचार करना प्रारम्भ किया, जो व्यक्ति के सुख एवं दुःख को प्रभावित करते हैं। वैदिक काल से ही ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के विविध पक्षों का सूक्ष्मातिरूक्ष्म विचार करता आ रहा है। इस शास्त्र ने ही मनुष्य के हर पहलू का विचार सटीक एवं विस्तृत रूप से करने का सर्वप्रथम प्रयास किया है। आज कोई भी विज्ञान ऐसा नहीं है जो किसी व्यक्ति एवं प्राणी के व्यक्तिगत विषय में विचार करता हो कि यह कब तक सुखी एवं दुःखी रहेगा। आज विज्ञान सारे सुख दुःख को भौतिक पदार्थों से जोड़ कर देखता है जबकि मूलतः ऐसा नहीं है। व्यक्ति मात्र एक भौतिक पिण्ड ही नहीं अपितु भौतिकेतर भी है। जीवन में घटने वाली व्यष्टिगत एवं समष्टिगत घटनाओं के पूर्वानुमान एवं विश्लेषण में ही ज्योतिषशास्त्र के होरा एवं संहिता विभाग विकसित हुए।

पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए सभी आश्रमियों में एक मात्र गृहस्थ ही ऐसा आश्रमी है जिसे गृह की नितान्त आवश्यकता होती है। यथा–

वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजः।
गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधिः।।

गृहस्थ एव यजति गृहस्थस्तप्यते तपः।
ददाति च गृहस्थश्च तस्माच्छ्रेयो गृहाश्रमी।। –(वास्तुरत्नाकर १/४५)

गृह में वास करने के कारण ही गृहस्थ कहा जाता है। एक निश्चित स्थान में स्थित रह कर त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, एवं काम) का सेवन करते हुए एक धार्मिक समाज का निर्माण करने वाला ही गृहस्थ होता है। यथा–

त्रिवर्गसेवी सततं देवतानां च पूजनम्।
कुर्यादहरहर्नित्यं नमस्येत् प्रयतः सूरान्।।

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत्।। –(कूर्मपुराण २/१५/२५,२६)

इस सन्दर्भ में व्यास कहते हैं कि उत्तम गृहस्थ वही है जिसमें दया, क्षमा, श्रद्धा, लज्जा, त्याग एवं कृतज्ञता जैसे गुण विद्यमान हैं। यथा–

दया श्रद्धा क्षमा लज्जा प्रज्ञा त्यागः कृतज्ञता।
गुणाः यस्य भवन्त्येते गृहस्थो मुख्य एव सः।। –(वास्तुरत्नाकर १/६)

गुण सम्पन्न कोई भी गृहस्थ अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन बिना स्वगृह के सम्यक्तया नहीं कर सकता है। दूसरे के गृह में किये गये श्रौत–स्मार्त कर्म का फल कर्त्ता को प्राप्त नहीं होता है। वह सम्पूर्ण फल गृहेश को ही चला जाता है। इसलिए सर्वप्रथम गृहस्थ को यत्नपूर्वक गृह का निर्माण करना चाहिए। यथा–

गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना।
यतस्तस्माद् गृहारम्भकर्म चात्राभिधीयते।।

परगेहकृताः सर्वा श्रौतस्मार्तक्रियाः शुभाः।
निष्फलाः स्युर्यतस्तासां भूमीशः फलमश्नुते।।
–(भविष्यपुराण उद्धृत वास्तुरत्नाकर १/७–८)

गृहनिर्माण की दृष्टि से व्यक्ति सर्वप्रथम स्थान अर्थात् ग्राम नगर आदि का चयन करता है। स्थान चयन करने में वह स्वतन्त्र नहीं है क्योंकि वर्ग काकिणी के द्वारा ही स्थान का ठीक–ठीक निर्धारण किया जा सकता है। ग्राम–नगर का चयन करने के पश्चात् इसके किस दिशा में गृह निर्माण करना चाहिए इसका विचार वर्गाक्षर एवं नाम राशि से किया जाता है। गृह के मापन में दैर्घ्य–विस्तार आदि का निर्धारण पिण्ड साधन द्वारा सम्पन्न होता है। वास्तु में पिण्ड साधन प्रक्रिया ही गृह एवं गृहेश की मेलापक प्रक्रिया है। जिसके द्वारा गृह में व्यक्ति के सुख दुःख का विचार किया जाता है। यदि हम स्वच्छन्द रूप से लम्बाई–चौड़ाई का निर्धारण कर गृहनिर्माण करते हैं तो हमें अनुकूल आयादि के अभाव में कष्ट मिलने की सम्भावना अधिक बढ़ जाती है। इस प्रक्रिया में गृही के नाम नक्षत्र से जिस इष्ट नक्षत्र का मेलापक अनुकूल हो उसी नक्षत्र को इष्ट नक्षत्र कल्पित कर विवाह मेलापक की भांति गृह का भी मेलापक देखना चाहिए। यथा– **तत्र राशिकूटादिकं सर्वं दम्पत्योरिव चिन्तयेत्।** गृह मेलापक में गृह और गृही की एक ही नाड़ी

प्रशस्त कही गयी है। यथा–

सेव्यसेवकयोश्चैव गृहतत्स्वामिनोरपि।
परस्परं मित्रयोश्च एका नाडीप्रशस्यते।। –(मुहूर्त्तचिन्तामणि १२/१२ पी.टी.)

पिण्डसाधन में नाडी को ध्यान में रखकर इष्टनक्षत्र का तथा द्वार दिशा को ध्यान में रखकर इष्ट आय का निर्धारण कर अनुकूल पिण्ड साधन किया जा सकता है। बिना इस प्रक्रिया के अनुकूल पिण्ड साधन सम्भव नहीं है। यह प्रक्रिया वास्तविक रूप में शास्त्रीय है परन्तु सम्प्रति अशास्त्रीय वास्तुशास्त्री इस प्रविधि का उल्लंघन करते हैं क्योंकि वे सम्यक् शास्त्रज्ञान के अभाव में इसे भलीभाँति नहीं समझ पाते हैं। इस प्रविधि के तहत गृह का मुख्यद्वार किसी भी दिशा में बनाया जा सकता है किन्तु आश्चर्य है कि आज के वास्तुशास्त्री मात्र दिशा के भ्रमजाल में लोगों को बाधे रखते हैं जो कि सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है।

वास्तुशास्त्र की एक विस्तृत शास्त्रीय परम्परा एवं वर्तमान में इसके स्वरूप को देखते हुए हमारे यशस्वी कुलपति प्रो. वाचस्पति उपाध्याय जी ने जुलाई २००४ में निवर्तमान संकाय प्रमुख एवं ज्योतिष विभागाध्यक्ष प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के सहयोग से विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा स्वीकृत इन्नोवेटिव प्रोग्राम के अन्तर्गत विद्यापीठ ने इस विषय का पठन पाठन प्रारम्भ किया। जो वर्तमान में पी.जी. डिप्लोमा पाठ्यक्रम के रूप में सफलतापूर्वक चल रहा है।

सर्वप्रथम एतदर्थ में संस्कृत उन्नायक परमश्रद्धेय कुलपति **प्रो. वाचस्पति उपाध्याय** जी के चरणकमलों में प्रणाम करते हुए कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी सत् प्रेरणा एवं दृढ़संकल्प से यह योजना निर्वाधगति से अपना कार्य कर रही है। इस योजना को कार्यरूप में परिणत करने एवं सम्यक् दिशा निर्देशन के लिए प्रो. शुकदेव चतुर्वेदी जी के हम कृतज्ञ हैं। इस प्रकाशन कार्य में उत्साहवर्धन करने वाले हमारे कुशल प्रशासक कुलसचिव डॉ॰ बी.के. महापात्र जी तथा शोध एवं प्रकाशन विभाग के अध्यक्ष प्रो. रमेशकुमार पाण्डेय जी का सराहनीय योगदान रहा है। अतः मैं इन्हें हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। इसी संदर्भ में प्रकाशन समिति एवं ज्योतिषविभाग के वरिष्ठ आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष प्रो. प्रेमकुमार शर्मा जी व अन्य सभी सदस्यों को हार्दिक धन्यवाद प्रदान करता हूँ। जिनके सत् परामर्श से **वास्तुशास्त्रविमर्श "चतुर्थपुष्प"** का प्रकाशन हो सका। मुद्रण कार्य के लिए अमर प्रिंटिंग प्रेस एवं अन्य सभी सहयोगी सुहृद जनों का, जिनका सहयोग इस प्रकाशन कार्य में प्राप्त हुआ, हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ। शमिति।

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी
अध्यक्ष– ज्योतिषविभाग
संयोजक– वास्तुशास्त्र नवीकरण कार्यक्रम

शोध एवं प्रकाशन समिति

1.	प्रो. प्रेमकुमार शर्मा	अध्यक्ष
2.	प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी	संयोजक
3.	डॉ. विहारीलाल शर्मा	सदस्य
4.	डॉ. विनोदकुमार शर्मा	सदस्य
5.	डॉ. नीलम ठगेला	सदस्य
6.	डॉ. दिवाकरदत्त शर्मा	सदस्य
7.	डॉ. परमानन्द भारद्वाज	सदस्य
8.	डॉ. सुशीलकुमार शर्मा	सदस्य
9.	डॉ. फणीन्द्रकुमार चौधरी	सदस्य
10.	डॉ. रश्मि चतुर्वेदी	सदस्य

विषयानुक्रमणिका

वास्तुशास्त्र की ऐतिहासिक परम्परा

प्रो. देवीप्रसाद त्रिपाठी

वास्तु और वास्तुशास्त्र की चर्चा वैदिक काल से ही उपलब्ध होती है। जब मनुष्य पेड़ की झुरमुटों एवं गुफाओं में निवास करते थे तब आवासीय व्यवस्या नहीं थी। तब भी मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार एक सुरक्षित स्थान का चयन करता था। पौराणिक अवधारणा के अनुसार वर्णन मिलता है कि राजा पृथु ने सर्व प्रथम पृथिवी को समतल करके सुव्यवस्थित आवास की परिकल्पना सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा के समक्ष प्रस्तुत की। इस प्रस्तुतिकरण में राजा पृथु ने कहा कि हे भगवन! आपके कथनानुसार मैंने पृथिवी को ग्राम-नगर आदि के निर्माण के लिए समतल कर दिया है अब आप मुझे आगे कार्य करने के लिए आदेश करें।[१]

इसके अनन्तर ब्रह्मा जी ने निर्माणादि कार्य को पूर्ण करने की दृष्टि से अपने चार मुखों से विश्वकर्मा आदि की रचना की। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा जी के पूर्व मुख विश्वभू से विश्वकर्मा की, दक्षिणमुख विश्वविद् से मय की, पश्चिम मुख विश्वस्रष्टा से मनु की तथा उत्तर मुख विश्वस्थ से त्वष्टा की उत्पत्ति हुई।[२] इसके पश्चात् ब्रह्मा जी ने अपने मानस पुत्रों को आदेश दिया कि आप लोग पृथ्वी पर जाकर राजा पृथु की अभिलाषा के अनुसार नगर-ग्राम एवं पुरों की पृथक्-पृथक्

---

१. निवासान् कल्पनाञ्चक्रे तत्र तत्र यथार्हतः।।
ग्रामान् पुरः पत्तानानि दुर्गाणि निविधानि च।
घोषान् ब्रजान् सशिविरानाकरान् खेटखर्वटान्।।
प्राक्पृथोरिह नैतेषां पुरग्रामादिकल्पना।
यथा सुखं बसन्ति स्म तश्र तत्राकुतोभयाः।। -वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - ५

२. स एवायं विश्वकर्मा ब्रह्माण्डं सृजते मुहुः।
पूर्वाक्तवक्त्रचत्वारि वक्ष्येऽहन्तु पृथक्-पृथक्।।
विश्वभूरिति नामैतत्पूर्ववक्त्रं प्रकीर्तितम्।
दिक्षणे विश्वविद्वक्त्रं विश्वस्थं च तथोत्तरे।।
पश्चिमे विश्वस्रष्टाख्यं वक्त्रमेवं चतुर्विधम्।
एतेभ्यः प्रथमं जातं विश्वकर्मचतुष्टयम्।।
पूर्वानने विश्वकर्मा जायते दक्षिणे मयः।
उत्तरस्य मुखे त्वष्टा पश्चिमे तु मनुः स्मृतः।। -वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - ८

रचना करें। विश्वकर्मा ने जगत्स्रष्टा ब्रह्मा को कहां कि मैं पृथ्वी पर जाकर अपनी बुद्धि से सुर, असुर, उरग एवं नागों के साथ ही पृथु और मनुष्यों के निवास के लिए सुन्दर पुर-नगर एवं ग्रामादि का निर्माण करूंगा।[१]

विश्वकर्मा को यह चिन्ता होने लगी कि जगत्-स्रष्टा ब्रह्मा जी की कामना के अनुसार निर्माण में हमें कुछ और सहायकों की आवश्यकता होगी, इसी उद्देश्य की पूर्त्ति में विश्वकर्मा ने स्थपति की, मय ने सूत्रग्राही की, मनु ने तक्षक की तथा त्वष्टा ने बार्द्धकी की उत्पति की।[२] आज के सन्दर्भ में यह भी कह सकते है कि इन लोगों ने अपने एक-एक सहायक नियुक्त किये। यह भी सर्वविदित है कि किसी भी निर्माण कार्य में कई प्रकार के विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। जैसे पाषाण विशेषज्ञ, काष्ठविशेषज्ञ, धातु विशेषज्ञ, निर्माण विशेषज्ञ आदि। इन सभी के संयुक्त प्रयास से ही कोई कार्य पूर्ण हो सकता है। इसी लिए प्राचीन काल में स्थपति, सुत्रग्राही, बार्धकी एवं तक्षक के कार्य निश्चित थे। इनके विषय में वर्णन इस प्रकार मिलता है।[३]

१. **स्थपति-** ये सभी वेद शास्त्रों के ज्ञाता तथा समग्र निर्माण कार्यों में पारङ्गत होते थे। इन्हीं की आज्ञा से सूत्रग्राही आदि कार्य करते थे।

२. **सूत्रग्राही-** ये किसी भी निर्माण योजना को पूर्णरूप से सुनने एवं समझने में कुशल तथा रेखाचित्र (मानचित्र) मनाने में निपुण होते थे

---

१. गत्वोर्विवैन्यनृपतेः प्रियं तव करष्यति।
नगर-ग्राम-खेटादीन् करिष्यति च पृथक्-पृथक्।।
स्वयं करिष्येऽहमथो निवासाय पृथो पुरीम्।
विचित्र-नगर-ग्राम-खेटामतिमनोहराम् ।। -वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - ६

२. विश्वकर्मणः पुत्रः स्यात् स्थपतिश्चैव स स्मृतः।
मयस्य तनयः सुत्रग्राहीति परिकीर्तितः।।
त्वष्टुर्देव ऋषे पुत्रो वार्धकिरिति विश्रुतः।
मनो पुत्रस्तक्षकः स्यात्स्थपत्यादिचतुष्टयम्।। -वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - ९

३. स्थपतिः सर्वशास्त्रज्ञो वेदविच्छास्त्रपारगः।
स्थापत्यधिपतिर्यस्मात् तस्मात् स्थपतिरुच्यते।।
स्थपतेराज्ञया सर्वे सूत्रग्राह्यादयः सदा।
कुर्वन्ति शास्त्रादेशेन वास्तुवस्तु प्रयत्नतः।।
आचार्यलक्षणैर्युक्तः स्थपतिः स्यादिति विश्रुतः।
श्रुतज्ञ सुत्रग्राही च रेखाज्ञः शास्त्रवित्तमः।।
विचारज्ञः श्रुतिज्ञश्च चित्रकर्मज्ञवार्धकिः।
तक्षकः कर्मवित्सभ्यः सबान्धवदयापरः।।
इहैव लोकस्य यत्कर्म सर्वं तच्छिल्पिनां गुरुः।
न लभ्येत तु यत्तस्मादेभ्यः सर्वं प्रसाधयेत्।। -वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - ९

३. वार्धकि– ये किसी भी योजना कार्य को यथार्थ रूप देने में निपुण, वेदज्ञ एवं चित्रकला में प्रवीण होते थे।

४. तक्षक– ये सभी प्रकार के निर्माण कार्यों के ज्ञाता, कुशल कर्मियों से मुक्त, वेदज्ञ धीर गम्भीर एवं सभी शिल्पशास्त्रियों के गुरु होते थे।

इन सभी के सहयोग से ही गृह-ग्राम-एवं पुर का निर्माण सम्भव होता था। पुराणों के अनुसार अगर इन चारों में से एक भी अनुपलब्ध हो तो भी कार्य सम्पन्न हो जाता था क्योंकि ये चारों सभी प्रकार के कार्यों में दक्ष होते थे। शास्त्र का एक अपना अनुशासन होता है कि सभी कार्य जानने पर भी आपको नियत कार्य ही करना है और उसी से आपकी पहचान भी है। स्थपति, सूत्रगाही, वार्धकि और तक्षक चारों सर्व गुण सम्पन्न होते थे। तक्षक के कुछ कार्य विशिष्ट भी थे। इन्हें विशेष रूप में काष्ठ विशेषज्ञ माना जाता था। जिस प्रकार आजकल भवनों में उपयोग होने वाली लकड़ी एवं फर्नीचर आदि को दीमक, कीट एवं शीलन से बचाने के लिए विभिन्न रसायनों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार पौराणिक काल में भी काष्ट निर्मित सामग्री की सुरक्षा की व्यवस्था सुदृढ़ थी। इस कार्य में तक्षक पारङ्गत माने जाते थे। तक्षक ही गृह निर्माण हेतु अरण्य में जाकर उचित वृक्ष का चयन करते थे और उसे लाकर आवश्यकतानुसार काट छाँटकर तीन मास तक औषधीय जल में डुबो कर रखते थे। इसके बाद निकालकर प्रयोग में लाते थे जिससे यह लकड़ी अधिक समय तक सुरक्षित एवं दृढ़ रहती थी।

इन चारशिल्पियों के द्वारा ही निर्माण कार्य सम्पन्न होता था जब कि ये चारों पृथक्-पृथक् भी सभी प्रकार के निर्माण कार्य को पूर्ण करने में समर्थ होते थे। इन सभी में स्थपति सर्वज्ञ और सभी को आदेश देने में भी समर्थ होता था। इसीलिए स्थपति को सभी का गुरु माना जाता था। इस क्रम में सूत्रग्राही, वार्धकि एवं तक्षक का तथा बार्धकि, तक्षक का गुरु, निर्देशक एवं आदेशक होता था।[१]

इस प्रकार सभी वर्णित शिल्पियों के साथ विश्वकर्मा ने ब्रह्मा जी के आदेशानुसार पृथु के मनोनुकूल पृथ्वी पर ग्राम-नगर-एवं पुर आदि का निर्माण सम्पन्न किया। यही वास्तुशास्त्र का उद्भव माना जाता है।

आरम्भ काल से ही वास्तुशास्त्र में वास्तुपुरुष की एक आवधारणा वास्तोष्पति देवता विशेष के रूप में मिलती है जिनकी आराधना से गृह पति सुख का अनुभव करते हैं। ऋग्वेद में इस

---

१. स्थपतिस्तु स्वतुर्येभ्यस्त्रिभ्यो गुरुरिति विश्रुतः।
सुत्रग्राही गुरुर्द्वाभ्यां तुर्येभ्योऽथ प्रकीर्तितः।।
तक्षकस्य गुरुर्नाम्ना वार्धकिरिति विश्रुतः।। –वास्तुसारसंग्रहप्राक्कथनम् पृष्ठ - १०

सन्दर्भ का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि हे वास्तोष्पते। तुम हमको समझो। हमारे घर को निरोग करने वाले होओ। जो धन हम तुम्हारे पास मांगे, हमें दे दो। हमारे द्विपद एवं चतुष्पदों के लिए कल्याणकारी होओ।[१] इसी प्रकार का वर्णन आगे भी दो मन्त्रों में मिलता है। जिनमें प्रार्थना करते हुए कहा गया है कि– हे वास्तोष्पते (गृहस्वामिन्) तुम हमारे तारक हो और हमारे धन के विस्तारक हो। हे सोम्! गोओं और अश्वों से युक्त होकर हम जरा रहित होवे। तेरी मित्रता से हम रहे। पिता जैसे पुत्रों का पालन करता है वैसे ही आप हमारा पालन करें।[२] हे वास्तोष्पते। सुखदायक और रमणीय प्रगतिशील तुम्हारी सभा को हम प्राप्त हो। ऐसा स्थान हमें मिले। हम ऐसे सभा स्थान के सदस्य बनें। प्राप्त धन को तथा अप्राप्त धन की प्राप्ति में हमारे श्रेष्ठ धन को सुरक्षित रखो। हमें सदा कल्याण साधनों से सुरक्षित रखो।[३]

पौराणिक काल में वास्तोष्पति के दो रूप मिलते हैं, प्रथम वास्तुपुरुष और द्वितीय वास्तुचक्र, वास्तुचक्र में ४५ देवता वास करते हैं जिनकी वास्तुशान्तिकर्म में पूजा की जाती है। वास्तुपुरुष के उद्भव की पुराणों में एक कथा सर्वाधिक प्रचलित है कि भगवान शिव और अन्धक के बीच घनघोर युद्ध हो रहा था उस युद्ध में भगवान शिव के शरीर से एक बूँद श्वेद् (पसीने) की भूमि पर गिरी, जिससे एक भयङ्कर आकृतिवान् पुरुष उत्पन्न हुआ, जो विकराल मुख फैलाये हुए था। उसने अन्धकासुर अर्थात् अन्धकगणों का रक्त पान किया परन्तु वह तृप्त नहीं हुआ और व्याकुल होकर त्रिलोकी को भक्षण करने के लिए उद्यत हो गया। इसके भय से आक्रान्त होकर सभी शंकरादि देवों ने उसे पकड़कर पृथ्वी पर ओंधे मुख लेटाकर वास्तुदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिस देवता ने जहाँ से वास्तु पुरुष को पकड़ा था वहीं उसी अंग में उस देवता ने वास किया। इसके पश्चात् वह वास्तुपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हो गया।[४] इस प्रकार का वर्णन राजबल्लभमण्डन में भी मिलता है।[५] इस कथा पर यदि हम विचार करें तो यह कथा एक वैज्ञानिक घटना प्रतीत होती है जिसे पुराणों ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है। 'शिव' विश्वकल्याण की भावना से ओत-प्रोत उस तत्व का नाम है जो विश्वकल्याण चाहता है। श्वेद् बिन्दु शिव के तृतीय नेत्र

१. वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवानः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्तो जुषस्व शं नो भव दिपदे शं चतुष्पदे।।–ऋग्वेद ७.५४.०१

२. वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।।–ऋग्वेद ७.५४.०२

३. वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमदि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेत्र उत योगे वरं नो युयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।। –ऋग्वेद ७.५४.०३

४. मत्स्यपुराण अध्याण २५।

५. संग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् क्षितौ,
तस्माद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावापृथिव्योर्महत्।
तद्देवैः सहसा निगृह्य निहितं भूमावधो वक्त्रकं
देवानां वचनाच्च वास्तुपुरुषस्तेनैव पूज्यो बुधैः।। –राजबल्लभमण्डनम् २.१

से निकला, नेत्र का सम्बन्ध ज्योति के उस प्रकाश पुंज से है जो आदि में तरल अवस्था में था और पृथ्वी में पड़ते ही गैस रूप में परिणत हुआ। यहीं प्रकाश के प्रथम पुंज के रूप में प्रकट होकर केन्द्र से परिधि की ओर फैलने लगा अर्थात् कह सकते हैं कि अन्धकासुर का नाश करते हुए आगे बढ़ता गया। यही प्रक्रिया सृष्टि की प्रथम प्रक्रिया है, जब अंधकार का नाश होकर प्रकाश का अभ्युदय हो रहा था। यही असत् से सत् की प्रक्रिया थी। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि ऊजा बढ़ती गयी। यहीं सृष्टि प्रक्रिया का आदि रूप है। इस प्रक्रिया के तहत एक समय ऐसा आया होगा जब सभी पिण्ड एवं तत्व अपनी धुरी पर स्थिर हो गये, और यही वह दृश्यमान् जगत है।

अग्नि, भविष्य, नारद आदि पुराणों में वास्तु पुरुष का विस्तृत वर्णन मिलता है। भवन, पुर, ग्राम, तडाग, वापी, वन, उद्यान एवं यज्ञ मण्डपादि निर्माण में तथा जीर्णोधार में इसी उपर्युक्त वर्णित वास्तुपुरुष के सर्वत्र पूजन का वर्णन मिलता है। इनके पूजन के बिना गृह में सुख शान्ति सम्भव नहीं है ऐसा वर्णन वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।[१]

यह वास्तुशास्त्र का एक कथानक रूप है। इस वैदिककाल में जन्मे वास्तुशास्त्र का पूर्ण-विकास आगम एवं पुराण काल में हुआ। महाभारत काल में इसके पूर्ण-विकसित होने के प्रमाण मिलते हैं। वास्तुशास्त्र का ज्योतिष एवं कल्प के साथ एक घनिष्ठ है। शुल्ब सूत्रों में यज्ञवेदियों की परिकल्पना इस शास्त्र की आधार शीला मानी जाती है।

वास्तुशब्द का अर्थ "वस् निवासे" धातु से निवास योग्य भूखण्ड एवं गृह होता है।[२] वेदों में वास्तु पद का अर्थ निवास अथवा गृह है।[३] वैदिक साहित्य में सुवास्तु शब्द अच्छे घर के लिए तथा अवास्तु शब्द गृहाभाव के लिए प्रयोग होता दिखाई देता है।[४] यजुर्वेदीय संहिताओं में वास्तु शब्द का अर्थ यज्ञवास्तु होता है।[५] सूत्रग्रन्थों में वास्तुशब्द का अर्थ सामान्यतया आवास ही होता है।[६] परन्तु कौशिक गृह्यसूत्र में इसका अर्थ मृतकों के संस्कार स्थल के रूप में किया है।[७] रामायण[८] एवं महाभारत[९]

---

१. प्रसादे भवने तडागखनने कूपे च वाप्यां वने,
जीर्णोद्धारपुरेषु यागभवनप्रारम्भनिर्वर्तने।
वास्तोः पूजनकं सुखाय कथितं पूजां विना हानये। –राजवल्लभमणुनम् २.२

२. वाचस्पत्यम् भाग ६ पृ. ४८८८

३. ऋग्वेद ८/१९/३६

४. अथर्ववेद १२:७:७

५. मैत्रायणी संहिता १:५:११३, तैत्रिरीय संहिता ३/१/१०/३

६. आपस्तम्ब श्रोतसूत्र ६:२८:६. पारस्करगृहसूत्र ३:४८

७. कौशिकगृहसूत्रम ५:२:१३

८. वाल्मिकी रामायण १:२३. ३३, ५६

९. महाभारत २.१८

में वास्तु शब्द गृह निर्माण का बोधक है। मत्यपुराण में देवताओं के निवास स्थान अर्थात् मन्दिर को ही वास्तु कहा जाता है। यथा–**निवासात् सर्वदेवानां वास्तुरित्यभिधीयते।**[१] गृह में भी सभी देवों का वास वास्तुपुरुषमण्डल के अनुसार होता है इसी लिए गृह को भी पुराणों के अनुसार वास्तु कहा गया। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में वास्तुशब्द गृह, क्षेत्र, आराम, सेतुबन्ध, तड़ाग आदि के लिए कहा गया है क्योंकि इन सबका आधार भूमि ही होती है।[२] इस शब्द का अर्थ– कामिका तन्त्र[३] में विमान, प्रासाद एवं भवन अपराजित पृच्छा में ग्राम–नगर आदि[४], मयमतम्[५] में भूमि, मानसार में देव एवं मनुष्यों के भवन तथा भूमि अर्थ किया है।[६] ऋग्वेद में गृह के अर्थ में वास्तु का प्रयोग मिलता है जैसे[७]– गृह, वास्तु, शरण, शर्म, क्षय, वरुथ्य, सदन, दुरोण आदि। यजुर्वेद में वास्तुशब्द का प्रयोग प्रायः यज्ञ के अर्थ में मिलता है। यथा– यूपनिर्माण, स्तूपनिर्माण आसन एवं पर्यङ्क आदि का निर्माण।[८] अथर्ववेद[९] के शालासूक्त में भवननिर्माण प्रक्रिया का, शतपथ ब्राह्मण में यज्ञादि प्रसंग में चिति और, इष्टि का निर्माण वर्णन[१०] तथा श्रोत एवं शुल्ब गृह सूत्रों में वास्तुशब्द का प्रयोग सर्वाधिक रूप में मिलता है। यज्ञवेदियों के निर्माण में शुल्बसूत्रों का विशिष्टं स्थान दृष्टिगोंचर होता है। शुल्ब का अर्थ यहाँ मापन में प्रयुक्त होने वाली रज्जू (रस्सी) से है। वेदी का निर्माण, इष्टिकाओं का प्रमाण, आदि सभी निर्माण कार्यों में रज्जू का ही सर्वाधिक प्रयोग होता था। यज्ञवेदियों के निर्माण में सर्वाधिक वर्णन एवं समीचीन प्रक्रिया बौधापन–आपस्तम्ब एवं कात्यायन शुल्बसूत्रों ने दी हैं जो एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। शांखायन, पारस्कर एवं आश्वालयन गृहसूत्रों में भूमिचयन, भूशोधन, भूमिपूजन, आदि विषयों का वर्णन मिलता है।[११]

वेदों में वर्णित वास्तुविद् देवगण–

प्रजापति– इस सम्पूर्ण सृष्टि का स्थापत्य एक अद्‌भुत प्रक्रिया प्रतीत होती है। इस सृष्टि प्रक्रिया में सभी देव गण प्रजापति के सहायक होते हैं। ऋग्वेद के हिरण्यगर्भ सूक्त के अनुसार "क" संज्ञक प्रजापति ही प्रथम वास्तु देवता हैं।[१२] जिन्होंने द्यु–अन्तरिक्ष एवं पृथिवी की रचना की।

१. मत्स्यपुराण २५१:१४
२. अर्थशास्त्रम् ३:८:२
३. कामिकागम २०८–२१०
४. अपराजितपृच्छा २.१७
५. मयमतम् २:१
६. मानसार २:२–३
७. ऋग्वेद २/३/८, १:१५४:६, ६:१६:३३, १:१२१:२, ४:५३:६, ८:१०१:५
८. तैत्तिरीय संहिता १:३:६:३, वाजसनेमी संहिता ३५, १९:८६, २०:०१
९. अथर्ववेद ३:१२:९:३
१०. शतपथब्राह्मण ७:१:२०, ८:१:५, ६:१:२:२२, २३, २९
११. शांखायन ३:४:५, १,२, पारस्कर ३:४, आश्वालपन २:९:१०
१२. हिरण्यगर्भ सूक्तम् १०:१२१

श्रुतियों के अनुसार स्वयं भू परमेश्वर ने सर्वप्रथम विश्वोत्पति के लिए प्रजापति का सृजन किया। प्रजापति ही हिरण्यगर्भ है। यथा–**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।**[१] ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में वर्णन मिलता है कि सृष्टि के आदि में न सत् था, और नहीं अस्त् था, न आकाश था, न वायुमण्डल था, न दिन था, न रात्रि थी केवल ब्रह्म की ही सत्ता थी। ब्रह्म ने संकल्प मात्र से ही सृष्टि की रचना की। संकल्प ही एक ज्वाजल्यमान तप था।[२]

विश्वकर्मा– वाजसनेयी संहिता के अनुसार विश्व कर्त्ता विश्वकर्मा प्रजापति से पूर्णरूप से सम्बद्ध है। निरुक्तकार यास्क विश्वकर्मा को **भौवन** और **सर्वस्य कर्त्ता** समग्र के कर्त्ता स्वीकार करते हैं।[३] शौनक ने विश्वकर्मा का अर्थ **"विश्वस्य कर्म जनयन् सः विश्वकर्मा"** किया है।[४] ऋग्वेद में सृष्टि करने वाला परमेश्वर है और परमेश्वर के गुणों की संज्ञा का नाम ही देवता है। देवता ही ब्रह्माण्ड का सृजन करते हैं। ये देवता हैं– विश्वकर्मा, विष्णु, सविता, त्वष्टा, इन्द्र, वरुण, आदि। ये देवता ब्रह्माण्ड निर्माण में विभिन्न कार्य करते हैं तभी ब्रह्माण्ड कार्य सम्पन्न हो पाया। इन देवताओं ने सृष्टि निर्माण में जिस पदार्थ का उपयोग किया वह था अन्तरिक्ष धूलि मेघ अर्थात् कास्मिक डस्ट। इस सृष्टि का धारक परमेश्वर है वही इस रहस्य को जान सकते हैं।[५] इस सृष्टि के रहस्य को जानना बड़ा ही कठिन कार्य है। ऋग्वेद ही इस सन्दर्भ में कहता है कि– इस सारी सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई और कहाँ से हुई, यह कोई नहीं जानता, क्योंकि इस रहस्य को जानने वाले देवता, विद्वान् एवं दूरदर्शियों की उत्पत्ति भी बाद में ही हुई।[६]

त्वष्टा– वैदिक साहित्य में इस देवता का वर्णन तक्षण कार्य से वस्तुओं के रूप निर्माण में मिलता है। यास्क के अनुसार त्वष्टा शब्द त्विष् त्वक्ष् धातुओं से सम्पन्न होता है।[७] शौनक ने भी यास्क के मत की दुष्टि की है।[८] तक्षण कार्यकुशल त्वष्टा मनुष्य एवं पशुओं के लिए आवश्यकतानुसार वस्तुओं का निर्माण करता है।[९] वास्तु शिल्पी त्वष्टा की प्रसिद्ध रचनायें हैं– वाहन, आयुद्ध, रथ, हरि संज्ञक अश्व आदि।[१०] त्वष्टा अग्निकला प्रदर्शन, व्रज लोहकुठांरों के

---

१. यजुर्वेदसंहिता १३:४, ४०:८, ऋग्वेदसंहिता १०:१२१:०१, १:१२२१:१, १:१२१:०७
२. ऋग्वेद संहिता १०:१२९:०२, १०:१२९:०३
३. निरुक्त १०:२६, १०:२५
४. वृहद्देवता २:५०
५. ऋग्वेद १०:१२९:०७
६. ऋग्वेद १०:१२९:६
७. निरुक्त ८:१३
८. वृहददेवता ३:१६
९. ऋग्वेद १:१८८:०९
१०. वृहदेवता ३:८५–८७

तीक्ष्णीकरण में कुशल थे।[१] इससे सिद्ध होता है कि त्वष्टा देवों के निष्णात शिल्पी थे।[२]

ऋभुदेवगण– हस्तकला कुशल ऋभु देवगण सुधन्वांगिर के पुत्र त्वष्टा के त्वष्ट कर्म कुशल शिष्य हैं। इन्होंने रथ, रथचक्र, चक्रधारा, वल्गा (लगाम), माता के निधन के कारण कृशकाय हुई गोवत्स के लिए चमड़े से मातृरूपा धेनु का निर्माण किया तथा अपने वृद्ध माता-पिता को पुनः यौवन प्रदान किया।[३]

वास्तोष्पति– वास्तु निर्माण कार्य में कहीं भी वास्तोष्पति का नामोल्लेख नहीं प्राप्त होता है परन्तु गृह के रक्षण एवं पालन में इनकी सर्वाधिक भूमिका मानी जाती है।[४]

रामायण एवं महाभारत में वास्तुशास्त्र का प्रचुर विकास दिखाई देता है। इन दोनों ग्रन्थों में नागर एवं द्राविण परम्परा के अनेक उदाहरण मिलते हैं जैसे– अयोध्यापुरी[५] किष्किन्धापुरी,[६] लंकापुरी[७], किकिन्धा क्षेत्र में वर्णित विचित्र गुफा,[८] पुष्पकविमान[९] सेतुबन्ध[१०], इन्द्रपुरी,[११] द्वारिकापुरी,[१२] मिथिलपुरी[१३] लाक्षागृह,[१४] सभा भवन[१५] आदि। पुराणों में वास्तुशास्त्र का वर्णन मिलता है। मत्स्य[१६], अग्नि[१७], स्कन्ध[१८], गरुड़[१९] एवं धर्मोत्तर[२०] पुराणों में विशेष वर्णन दिखाई देता है।

---

१. ऋग्वेद १:३२:०२, १०:५:०९
२. वृहदेवता ३:८४
३. ऋग्वेद १:८०:१, ८:५:२९, १:११०:८, १:११:१
४. ऋग्वेद ७:५४:०१, ७:५४:०२, ७:५४:०३
५. वाल्मीकि रामायण १:५:५-२१
६. वही किकिष्कन्धाकाण्ड ३३:४-१७
७. वही सुन्दरकाण्ड ३:२-२१, ४:४-३०
८. वही कि.का. ५०:२.४१, ५१:१०-१८
९. वही सुन्दरकाण्ड ९:११
१०. वा. रा. सुन्दर काण्ड ९:११
११. महाभारत १:२०७:३०-४८
१२. वही ३:१५:५-१८
१३. वही ३:२०७:७-११
१४. वही १:१४४, ८:११
१५. वही २:१:४-५, ४७
१६. मत्स्यपुराण अध्याय २५२-३६०
१७. अग्निपुराण अध्याय १०५, २४७
१८. स्कन्धपुराण महेश्वर खण्ड
१९. गरुड़पुराण अध्याय ४३-४९
२०. विष्णुधर्मोत्तर ३:८६-८७

वास्तुविद् पौराणिक देवता–

वैदिक देव परिवार के उपर्युक्त वर्णित देवों का वास्तुकर्म से सम्बन्ध तो है परन्तु इनका वास्तुविद्या के साथ साक्षात् सम्बन्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। जबकि पुराणों में देवाधिदेव, ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का साक्षात् सम्बन्ध वास्तुशास्त्र के साथ प्रतीत होता है। सृष्टि के मूलकारण परब्रह्म परमेश्वर को ही पुराणों में ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से जाना जाता है। ये देवता ही क्रम से जगत का संचालन करते हैं।

ब्रह्मा– सृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा को ही वास्तुशास्त्र का प्रोक्ता कहा गया है।[१] जैसाकि पूर्व में वर्णन भी किया गया है। मानसार के अनुसार ब्रह्मा के पूर्वादि चार मुखों से क्रमशः विश्वकर्मा, मय, त्वष्टा एवं मनु की उत्पत्ति हुई।[२] ब्रह्मा के मानस पुत्र नारद, भृगु, पुलस्त्य, अत्रि, वशिष्ठ भी वास्तुशास्त्र वेत्ता कहे गये हैं।[३]

विष्णु– भगवान् विष्णु के मत्स्यावतार ने ही मनु को वास्तुशास्त्र का उपदेश दिया।[४] भगवान विष्णु ने ही स्वयं विश्वकर्मा को चित्र शास्त्र का ज्ञान प्रदान किया।[५] इन्हों ने ही वराहरूप में पङ्क निमग्न भूमि का उधार किया और तब ही ग्राम-नगरादि का निर्माण सम्भव हो पाया।[६]

शिव– समग्र ज्ञान राशि के मूल स्रोत भगवान शिव ही है।[७] अपने दक्षिणामूर्ति विग्रह से ये भक्तों को ज्ञान प्रदान करते हैं। इन्हें भी मूल रूप में वास्तु शास्त्र का उपदेष्टा कहा गया है।[८] वास्तुमण्डल के अधिदेव वास्तु पुरुष के उत्पत्ति के मूल कारण भगवान शिव ही हैं जैसा कि पूर्व में वर्णन भी किया गया है।[९]

वास्तुशास्त्र के आचार्य– वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख पुराणों, वास्तुशास्त्र के मानकग्रन्थों एवं शिल्पशास्त्र के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मत्स्य पुराण में अठ्ठारह[१०] तथा

१. स्थापत्यं चासृजद् वेदं क्रमात्पूर्वादिभिर्मुखैः। भागवत पुराण ३:१२:३८
२. मानसार १:२
३. मत्स्यपुराणे २५२:२-४
४. वही २५२:४
५. विष्णुधेर्माक्षरपुराण ३:२५:५
६. वराहपुराण ११२:१
७. मत्स्यपुराण ६८:४१
८. मानसार १:२
९. मत्स्यपुराण ५:३०
१०. भुगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चेव विशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽग्निरुद्धश्च तथा शुक्रवृहस्वती।।

अग्निपुराण में पच्चीस आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[१] इस संदर्भ में मानसार की सूची और भी विस्तृत है। इस सूची में बत्तीस आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[२] जिनके नाम इस प्रकार हैं– विश्वकर्मा, बिश्वेश, विश्वेसार, प्रबोधक, वृत्त, मय, त्वष्टा, मनु, नल, मानवित्, मानकल्प, मानसार, प्रष्टा, मानबोध, विश्वबोध, नयः आदिसार विशाल विश्वकाश्यप, वासुबोध, महातन्त्र वास्तुविद्यापति, पाराशरीयक, कालयूप चैत्य, चित्रक, आवर्य, साधकसारः भानु इन्द्र लोकज्ञ और सूर्य। वास्तुशास्त्र की परम्परा को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक अवस्था में यह विद्या पूर्ण रूप से द्विजों की विद्या के नाम से विख्यात थी।[३] कालान्तर में यह विद्या द्विजों के हाथों से निकलकर द्विजेतरों द्वारा अधिग्रहीत कर ली गयी। इस स्थिति में स्थपतियों के शास्त्रीय ज्ञान, शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रयोग एवं चारित्रिक गुण उत्तरोत्तर ह्रास होते गये। जिसके कारण यह विद्या अभिशप्ता बनकर स्वतन्त्र गरिमामय शास्त्र का स्थान खो बैठी। इसी सन्दर्भ में ब्रह्मवैवर्त पुराण में विश्वकर्मा के शापदग्ध पुत्रों–मालाकार, कर्मकार (लोहार), शंखकार, कुविन्द (जुलाहा), कुम्भकार, कांस्यकार (ठठेरा), सूत्रधार (राजगीर एवं बढ़ई), चित्रकार एवं स्वर्णकार का वर्णन उपलब्ध होता है जो ब्रह्मशाप से

अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरुपिणः।। मत्स्यपुराण २५२:२-४

१. व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशति संख्यया।
हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।।
वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रहलादं गार्ग्यगालवम्।
नारदीयं च सम्प्रश्नं शाण्डिल्यं वैश्वकं तथा।।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वशिष्ठं ज्ञानसागरम्।
स्वायम्भुवं कापिलं च ताक्ष्य नारायणीयकम्।।
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणकम्।
बौधायनं तथार्षं तु विश्वोक्तं तस्य सारतः।।–अग्निपुराण ३९.१ १-५

२. विश्वकर्मा च विश्वेशः विश्वसारः प्रबोधकः।
वृतश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः।।
मानविन्मानकल्पश्च मानसारो बहुश्रुतः।
प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो नयस्तथा।।
आदिसारो विशालाश्च विश्वकाश्यप एव च।
वास्तुबोधो महातन्त्रो वास्तुविद्यापतिस्तथा।।
पाराशरीयकश्चैव .कालयूपो महाऋषिः।
चैत्याख्यः चित्रकः आवर्यः साधकसारसहितः।।
भानुश्चेन्द्रश्च लोकज्ञः सौराख्यः शिल्पिवित्तमः।
ते एव ऋषयः प्रोक्ता द्वात्रिंशति संख्यया।।–मानसार० ६८.५-९

३. सुशीलश्चतुरो दक्षः शास्त्रज्ञो लोभवर्जितः।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधार स उच्यते।।–राजवल्लभमण्डन १.४१

दग्ध हुए थे।[१]

उतथ्यपुत्र गर्ग ज्योतिष शास्त्र के आचार्य हैं इन्होंने ज्योतिर्विद्या का अध्यन शेषनाग से किया। ज्योतिर्विद्या के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये वास्तुशास्त्र के आचार्य भी थे[२] क्योंकि वास्तु शास्त्र ज्योतिष शास्त्र का ही अंग है। अग्नि पुराण से ज्ञात होता है कि इनका "गार्ग्यतन्त्र" नाम का ग्रन्थ था।[३] महर्षि नारद के नारदीय तन्त्र, नारदसंहिता, नारदीय पाञ्चरात्र एवं नारद वास्तुविधान नामक ग्रन्थ मिलते हैं।[४] इन सभी ग्रन्थों में वास्तु विद्या का वर्णन उपलब्ध होता है।[५] ब्रह्मा के मानस पुत्र अत्रि का आत्रेयतन्त्र[६], अत्रिसंहिता, अत्रि स्मृति,[७] शुक्राचार्य की शुक्रनीति, वृहस्पति की वृहस्पति स्मृति एवं बार्हस्पत्यशास्त्र[८] आदि ग्रन्थों में इन आचार्यों के वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित विचार उपलब्ध होते हैं। चित्रकर्म में कुशल "नग्नजित" का चित्र लक्षण ग्रन्थ मिलता है।

बाल्मीकी रामायण के युद्ध काण्ड में वास्तुविद् नल और नील का वर्णन मिलता है। नल कृताची से उत्पन्न विश्वकर्मा के पुत्र थे।[९] नल भी अपने पिता विश्वकर्मा के सदृश वास्तुशास्त्र में पारङ्गत थे।[१०] इन्होंने ही अपने भाई नील के साथ मिलकर समुद्र के उपर १० योजन दीर्घ पुल का निर्माण किया।[११] महाभारत के अनुसार लाक्षागृह निर्माता पुरोचन भी वास्तुविद् था। इनकी लाक्षागृह में ही जलने से मृत्यु हुई।[१२] वराहमिहित ने वृहत्सहिता में स्थान-स्थान पर प्रसङ्गानुसार गर्ग, मनु, वशिष्ट, पराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित्, मय आदि आचार्यों का वर्णन किया है।[१३] वास्तुकौस्तुभ ग्रन्थ में शौनक, राम, रावण, परशुराम, हरि, गालव, गौतम, शोभित, वैद्याचार्य मयपुत्र, कार्तिकेय एवं च्यवन आदि आचार्यों का उल्लेख मिलता है।[१४] विश्वकर्मा प्रकाश में गर्ग, पराशर एवं वृहद्रथ को

---

१. ततो बभूबुः पुत्राश्च नवैते शिल्पकारिणः।
मालाकारकर्मकारशङ्खकारकुविन्दकाः।।
कुम्भकारः कांस्यकारः स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद् अयाज्या वर्णसङ्करा।। -ब्रह्मवैवर्तपुराण १.१०.१९.२९

२. प्राचीन चरित्रकोश पृष्ठ- ५८८-५८९

३. अग्निपुराण ३९. १-५

४. मत्स्यपुराण २५२:३

५. अग्निपुराण ३९. १-५

६. अग्निपुराण ३९. १-५

७. प्राचीन चरितकोष पृ.-१६

८. वही पृष्ठ ७७६

९. बाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड-२२.४५

१०. वामनपुराण ६२, मानसार ६८.१-२

११. बाल्मीकि रामायण युद्धकाण्ड-२२.५२, २२.७३, महाभारत वन पर्व २७४ : २५, भा. पु. ९:१०:१०

१२. महाभारत १३२.८-१३

१३. वृहत्संहिता अध्याय ५७, ५८

१४. वास्तुविद्या प्रस्तावना-पृष्ठ ६

वास्तु का प्रवर्तक आचार्य कहा गया है।[१] ऋषि कश्यप का काश्यशिल्प, अगस्त्य का सकलाधिकार तथा मरीचि का वैशानस ग्रन्थ प्रसिद्ध है।[२] इन सभी ग्रन्थों में वास्तु एवं शिल्पशास्त्र का प्रतिपादन आचार्यों द्वारा विशेष रूप से किया गया है। वास्तुशास्त्र के आचार्यों में दो परम्पराएँ देवशिल्पी विश्वकर्मा एवं दानवशिल्पीमय की सर्वाधिक रूप से प्रचलित हैं।

देवशिल्पी विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र में नागर परम्परा के प्रवर्तकाचार्य हैं जिन्होंने वास्तु एवं शिल्प का ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त किया।[३] वैदिक संहिता एवं ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्णन के अनुसार विश्वकर्मा सृष्टि कार्य में प्रवृत्त देवता हैं। इन्होंने ही ब्रह्मा की मानसी सृष्टि को मूर्तरूप दिया। शिल्पशास्त्र में इन्हें विष्णु का अवतार माना जाता है। इन्हें ६४ कलाओं का अधिपति, ऐरावत गज पर आरूढ़, प्रसन्न वदन, आभूषणों से आवृत्त, पीतवस्त्रधारी, चतुर्भुज आकार, शान्तस्वरूप, हाथ में सूत्रादि निर्माण कार्य सामग्री लिए हुए दिखाया गया है।[४] विश्वकर्मा के जन्म के विषय से सम्बन्धित वास्तुग्रन्थों में विविध विचार मिलते हैं जिसमें कहा गया है कि धर्म की १० भार्याओं में से एक दक्षपुत्री थी, जिससे आठ वसुओं का जन्म हुआ। इनमें से सबसे कनिष्ठ प्रभास वसु थे। जो विश्वकर्मा के जनक थे।[५] यही विश्वकर्मा शिल्पविद्या के निष्णात थे, जिन्होंने प्रासाद, भवन, उद्यान, प्रतिमा, भूषण, तडाग, कूप आदि की रचना की। यथा– सन्निवेशान् पुरग्रामनगराणां विधास्यति।[६] इन्हीं विश्वकर्मा ने ही इन्द्र राजधानी अमरावती भी बनायी है। यथा–

विश्वाभिसायि सर्वं विश्वकर्मा करिष्यति।
राजन्नसौ महेन्द्रस्य विदधावमरावतीम्।।[७]

विश्वकर्मा की माता बृहस्पति की भगिनी थी।[८] अतः विश्वकर्मा बृहस्पति के भागनेय हुए। यथा–

तदेव त्रिदशाचार्यः सर्वसिद्धिप्रवर्तकः।
सुतः प्रभासस्य वभोः स्वस्त्रीयश्च बृहस्पतेः।।[९]

---

१. विश्वकर्मा प्रकाश–१३.२५–२७
२. भवननिवेश पृ० ४
३. भारतीय स्थापत्य पृ० २७
४. शिल्पप्रकाश १.१–३
५. समराङ्गणसूत्रधार १.१९
६. समराङ्गणसूत्रधार १.२२
७. वहीं १.२०
९. समराङ्ण सूत्रधार १.१९

ब्रह्मवैवर्तपुराण के वर्णनानुसार विश्वकर्मा के नौ शिल्पकर्मदक्ष पुत्र थे। जो शाप के कारण प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त नहीं कर सके।[१] अपराजित पृच्छा शिल्पग्रन्थ में विश्वकर्मा का कुलपरिचय पृथक् ही अवलोकित होता है। यहाँ विश्वकर्मा का जन्म चाक्षुष मनु के वंश में माना गया है। जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित इनके मानस पुत्र हैं। इनमें से जय और अपराजित वास्तुविद् हैं। जय और विश्वकर्मा का प्रश्नोत्तर रूप ग्रन्थ 'जयपृच्छा' तथा अपराजित और विश्वकर्मा का प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ 'अपराजित पृच्छा' वास्तु के दो मानक ग्रन्थ हैं।[२] इस प्रसङ्ग में बहुत से सन्दर्भ मिलते हैं। विशेष रूप से विश्वकर्मा द्वारा प्रोक्त वास्तुग्रन्थ हैं–वास्तुशास्त्र, विश्वकर्मा प्रकाश, दीपार्णव क्षीरार्णव, वृक्षार्णव, अपराजितपृच्छा, जयपृच्छा, वास्तुप्रदीप आदि।[३]

वास्तु विद्यानिष्णात असुरशिल्पी द्राविड़ परम्परा के उद्भावक आचार्य मय माने जाते हैं। महाभारत के एक प्रसङ्ग में मय कहता है कि **'अहं हि विश्वकर्मा दानवानां महाकविः।'**[४] जैसे विश्वकर्मा देवताओं के शिल्पी थे उसी प्रकार मय दानवों के शिल्पी थे। रामायण में इनका कुल परिचय वर्णित है। मय दिति के पुत्र थे तथा स्वर्ग की अप्सरा हेमा इनकी पत्नी थी। हेमा के ही गर्भ से मायावी–दुन्दुभि संज्ञक दो पुत्र एवं मन्दोदरी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई। जिसका विवाह रावण के साथ हुआ। अतः मय रावण का श्वसुर था।[५]

महाभारत में मय को दनु तथा कश्यप का पुत्र और मनुचि का भाई कहा गया है।[६] मय माया विद्या के अप्रतिम ज्ञाता एवं कुशल प्रोक्ता थे।[७] मय रचित शिल्प शास्त्र के ग्रन्थों में ऐसे अप्रतिम उदाहरण अनेकों स्थलों पर दिखाई देते हैं, जैसे पाण्डव सभा भवन[८], सुवर्ण वन, सुवर्ण भवन[९], मायानगर[१०], त्रिपुर[११], वैहायस विमान[१२] एवं पुष्पक विमान[१३]। मय का प्रधान ग्रन्थ 'मयमतम्' नाम से प्रसिद्ध है। कुछ ग्रन्थों में मयोक्त 'मयसंहिता' का वर्णन भी मिलता है।

---

१. ब्रह्मवैवर्त पुराण। १०.:१९:-२१
२. अपराजित पृच्छा ३४:३-१४
३. वास्तु विमर्श द्वितीय पुष्प पृ० १२
४. महाभारत सभापर्व १:५
५. बाल्मीकि रामायण उत्तरकाण्ड १२
६. महाभारत २:८:३९
७. बाल्मीकि रामायण किष्किंधाकाण्ड ५१:१०
८. महाभारत सभापर्व १५:४:९-१२
९. वहीं ५१:११
१०. वही १२:८९
११. शिवपुराण ५:२
१२. भागवत पुराण ८:१०:१६-१७
१३. बाल्मीकि रामायण सुन्दर-काण्ड।

परवर्ती साहित्य में वास्तु वर्णन

कौटिल्य अर्थशास्त्र में वास्तुपरिभाषा[१] दुर्ग निवेश[२], ग्राम, नगर, राष्ट्रों की स्थापना[३], भवन में द्वार स्थापना तथा पुर, तोरण, प्रतौलि इत्यादि शब्दों के प्रयोग से ग्रन्थकार का वास्तुशास्त्रीय ज्ञान प्रदर्शित होता है। मनुस्मृति[४] में ग्राम, गुल्म, राष्ट्र, दुर्ग आदि के प्रसङ्ग में तथा शुक्रनीति[५] में भूमि मापन, राजधानी प्रकल्पन, राजप्रसाद, दुर्ग, राजमार्ग, प्रतिमा निर्माण व मन्दिर निर्माण आदि वास्तुशास्त्रीय विषयों की चर्चा पर्याप्त रूप में मिलती है। आगम साहित्य में कामिकागम के ४८वें पटल में वास्तुशास्त्र का वर्णन मिलता है। इसके अतिरिक्त कर्णागम के तालमान और सुप्रभेदागम के प्रासादपटल में वास्तुशास्त्र का उल्लेख मिलता है।[६]

अग्निपुराण में मूर्तिस्थापना प्रसङ्ग में २५ तन्त्रों का उल्लेख मिलता है।[७] मेरू तन्त्र में शालिग्राम एवं शिवलिंग स्थापना का विशेष वर्णन उपलब्ध होता है।[८] बौद्ध साहित्य में भी प्रासाद, हर्म्य, गुहा, विहार, मण्डप आदि के प्रसंग में वास्तुशास्त्र का वर्णन मिलता है।[९] वृहत्संहिता में ५ वास्तुशास्त्र सम्बन्धी अध्याय हैं।[१०] वास्तुशास्त्र ज्योतिशास्त्र का अंग है। जिसका उल्लेख संहिता प्रखण्ड में उपलब्ध होता है।

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ

वास्तुशास्त्र के समग्र ग्रन्थ ३ श्रेणियों में विभाजित है जिसमें प्रथम श्रेणी विश्वकर्मा की नागरी परम्परा, द्वितीय श्रेणी मय की द्राविडी परम्परा एवं तृतीय श्रेणी नूतन वास्तुशास्त्रीयों की परम्परा है।

विश्वकर्मा की परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं–वास्तुशास्त्र, अपराजित पृच्छा, जयपृच्छा, कृष्णार्णव, विश्वकर्मायत, अपराजितप्रभा (विश्वकर्म संहिता), आयतत्त्वम्, ज्ञानरत्नकोश, वास्तुप्रकाश, वास्तुनिधि, वास्तुसंग्रह, वास्तु समुच्चय, सनत्कुमार का वास्तुशास्त्र, समरांगणसूत्रधार, युक्ति कल्पतरु, वास्तु राजबल्लभ (राजबल्लभ मण्डन), प्रासादमण्डन, रूपमण्डन, राजसिंह का वास्तुशास्त्र, भुवनप्रदीप, बृहत्शिल्पशास्त्र, मानसोल्लास, वास्तुरत्नावली, वास्तुमुक्तावली, दीपार्णव, क्षीरार्णव,

१. अर्थशास्त्र २:८
२. वहीं २:४
३. वहीं १:१.६
४. मनुस्मृति ७:११४
५. शुक्रनीति १:१९३-२७४, ४:४:७४-२०६
६. भारतीय स्थापत्य पृ० ३६-३७
७. अग्निपुराण ३९:१-५
८. मेरुतन्त्र ५:५८८-६६५, ९:६९-१०१
९. भारतीय स्थापत्य पृ. ३३
१०. बृहत्संहिता अध्याय ५३, ५६-५९

वृक्षार्णव, स्वर्गार्णव, परिणाममञ्जरी, वास्तु कौस्तुभ, कलानिधि, वास्तुद्वार, सुधानन्द वास्तु, रत्नतिलक, वास्त्वाध्याय, सूत्रप्रतान, दैव्याधिकार एवं शिल्पप्रकाश आदि।[1]

मय परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ हैं—मयमतम्, मानसार, चित्रलक्षण, कश्यपशिल्प, एकलाधिकार वास्तुपुरुषविधान, प्रयोगमञ्जरी, प्रयोगपारिजात, शिल्परत्न, शिल्पसंग्रह, शुक्रनीति, ईशानशिवगुरुदेव पद्धति, हरिभक्तिविलास, मठप्रतिष्ठा, मनुष्यालय चन्द्रिका, चतुर्वर्गचिन्तामणि आदि।[2]

वास्तुकोश में डॉ० प्रसन्नकुमाराचार्य ने **वास्तुशास्त्रीय नूतन ग्रन्थ एवं आचार्य परम्परा**— एक विस्तृत सूची दी है।[3] जिन ग्रन्थों की सूची डॉ० कुमार ने दी है उन ग्रन्थों के लेखक आधुनिक दृष्टि से वास्तुशास्त्र के विचारक हैं। जैसे—स्टेला, क्रेमरिश, कुमारस्वामी, प्रसन्नकुमाराचार्य, वासुदेव उपाध्याय, वासुदेव शरण अग्रवाल, गोपीनाथ राव, जितेन्द्र नाथ बनर्जी, रायकृष्णदास, द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल, तारापद भट्टाचार्य मल्लाया, विनयतोष भट्टाचार्य, वृन्दावन भट्टाचार्य, सरस्वती, हैवेल स्मिथ, मार्शल लागहर्स्ट, चान्दा, वत्स, पर्सी ब्राडन, श्रीनारायण चतुर्वेदी ढाके, लोवर ड्राविडदेश, जेम्स फगुर्सन, जेम्स बर्गेस, सतीश ग्रोवर, एन०एम० गांगुली, देवल मित्र, आरवन-जानसन, वाल्टरहेन, निस्मर, यजदानी, सुरेन्द्र, स्टुटली, एलिस बोनर इत्यादि। अतः ज्ञात होता है कि वास्तुशास्त्र की आदि काल से ही एक सुदृढ़ परम्परा प्रचलित है।

---

१. वास्तु शास्त्र -१ द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल पृ. ८३
२. वास्तु-शास्त्र-१, द्विजेन्द्र नाथ शुक्ल पृ. ८१-८३
३. वास्तु शास्त्र विमर्श-२, पृ०-१६

भूमि की गुणवत्ता एवं परीक्षण विधियाँ

डॉ. सच्चिदानन्द मिश्र

यह विषय वास्तु, कृषि, एवं वाटिका आदि से समान रूप से जुड़ा है। भूमि की गुणवत्ता निर्धारण वास्तु विद्या में परमोपयोगी है। बृहद्वास्तुमाला, वास्तुविद्या, वास्तुराजवल्लभ आदि ग्रन्थों में एतदर्थ विधान मिलते हैं। जल भी भूगुण सम्बद्ध है। मानव गृह निर्माण क्यों करता है? परगृहवास से क्या हानि है? कब गृहारम्भ करें, किस दिशा में करें? किस ग्राम या नगर में वास करें? तथा कहाँ नहीं करें? ग्राम या नगर में भी किस दिशा में किस तरह की भूमि में वास करें? वर्ग, काकिणी, राशिभेद से चयनित ग्राम या नगर में किस स्थान पर वास करें? आदि प्रश्न वास्तुशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं।

नामराशि से ग्राम के शुभाशुभत्व का निर्धारण, दिशा ज्ञान, तथा उनके प्रभाव आदि समस्त विषयों का निर्धारण कर भूमि के ग्राह्याग्राह्यत्व के निर्धारण में शिवाबलि विधान के प्रयोग से वास स्थान की निर्दुष्टता को परखना चाहिए।

शिवाबलिविधान–

मध्यरात्रि में भोज्यपदार्थ किसी पात्र में लेकर अभिष्ट भूमि पर रख दें। कुछ दूर जाकर अन्वेषण करें। श्रृगाल भोज्य पदार्थ को खाकर चुपचाप लौट जाए, या न खाए या अन्य जीव खा जाए तो ठीक है। यदि श्रृगालादि भोज्य पदार्थ खाकर शब्द करे तो निम्नाङ्कित विधान से प्रभाव निर्धारण करें।

ईशाने मरणं प्रोक्तं चोत्तरे कुरू सर्वतः।
वासं वायव्य कोणेषु भयं किञ्चित्प्रजायते।।

पश्चिमे वास करणादानन्दः परिकीर्त्तितः।
नैर्ऋत्ये हि शिवा रौति तदावासं न कारयेत्।।

दक्षिणे रौति कल्याणं वह्निकोणे भयं महत्।
पूर्वेऽप्युच्चाटनं ज्ञेयं कलिर्वा रिपुभिस्सह।।

अष्टदिक्षु यदा रौति तदावासं न कारयेत्।
निश्शब्दे सर्वलाभः स्यादितिगर्गादि भाषितम्।।[१]

यह गर्ग प्रोक्ता भूमिवास निर्धारक प्रथम परीक्षण विधान है।

वर्ण से भूमि लक्षण–

शुक्ल मृत्सना च या भूमिर्ब्राह्मणी सा प्रकीर्तिता।।
क्षत्रिया रक्तमृत्स्ना च हरिद्वैशया प्रकीर्तिता।
कृष्णा भूमिर्भवेच्छूद्रा चतुर्धा भू परिकीर्तिता।।[२]

श्वेत, रक्त, हरित, कृष्ण ये चार वर्ण की भूमि ब्राह्माणादि संज्ञिका है। पीत रंग की भूमि को वैश्या भूमि ग्रन्थान्तर में कहा गया है।

तृण एवं वनस्पति आदि से भू वर्ण निर्धारण–

ब्राह्मणी भूः कुशोपेता, क्षत्रिया स्याच्छराकुला।
कुशकाशाकुला वैश्या, शूद्रा सर्वतृणाकुला।।[३]

इनके प्रभाव–

ब्राह्मणी सर्व सुखदा, क्षत्रिया राज्यदा भवेत्।
धनधान्यकारी वैश्या शूद्रा तु निन्दितास्मृता।।[४]

सर्वसुख, राज्य, धन्यधान्य, तथा निन्दित इनके वर्णक्रम से उत्पन्न प्रभाव हैं।

गन्ध से भूवर्ण ज्ञान–

सुगन्धा ब्राह्मणी भूमि रक्तगन्धा तु क्षत्रिया।
मधुगन्धा भवेद् वैश्या, मद्यगन्धा च शूद्रिका।।[५]

सुगन्धित, रक्त, मधु तथा मद्य गन्ध से भूमि के ब्राह्मणादि वर्ण ज्ञात होते हैं।

स्वाद से भूमिवर्ण ज्ञान–

अम्लाभूमिर्भवेद् वैश्या तिक्ता शूद्रा प्रकीर्तिता।
मधुरा ब्राह्मणी भूमिः कषाया क्षत्रिया मता।।[६]

---

१. वृहद्वास्तुमाला १:१३-१६
२. वही १.२७-२८
३. वही १.२९
४. वही १.३२
५. वही १.३०
६. वही १.३१

अम्ल, स्वाद से वैश्यवर्ण, तिक्त से शूद्रवर्ण, मधुर से ब्राह्मण वर्ण तथा कसैले स्वाद से क्षत्रिय वर्ण की भूमि होती है।

भूमि वर्ण से ब्राह्मणादि वर्ण के लिए शुभाशुभ निर्णय–

यहाँ वर्ण शब्द गुणवत्तता तथा रंग दोनों के द्योतक हैं। यथा–

श्वेता शस्ता द्विजेन्द्राणां रक्ताभूमि महीभुजाम्।
विशां पीता च शूद्राणां कृष्णान्येषां विमिश्रिता।।[1]

ब्राह्मण के लिए श्वेत, क्षत्रिय के लिए रक्त, वैश्य के लिए पीत, शूद्र के लिए कृष्ण तथा अन्यों के लिए मिश्रित वर्ण की भूमि प्रशस्त होती है।

नारद के अनुसार गंध भेद से भूमि वर्ण विचार–

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च शुभावहः।
घृतासृगन्नमद्यानां गन्धश्च क्रमशो भवेत्।।[2]

घी, रक्त, अन्न तथा मद्य गन्ध की भूमि क्रम से ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र वर्ण की होती हैं। जिस वर्ण की भूमि हो उस वर्ण के लोगों का वास प्रशस्त कहा गया है।

भूमि की ढाल तथा प्राकृतिक जल प्रवाह से शुभाशुभ निर्धारण में ऊर्ध्व एवं अधः को छोड़कर दिशायें आठ हैं। पूर्वादि दिशाओं में भूमि की ढाल होने पर जल प्रवाह भी पूर्वादि क्रम से होना तय है। इनके प्रभाव निम्नांकित क्रम से होते हैं। यथा–

श्रियं दाहं तथा मृत्युं धनहानिं सुतक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च ।।

विदध्यादचिरेणैव पूर्वादिप्लवतो मही।
मध्यप्लवा मही नेष्टा न शुभा प्लवतत्परा।।[3]
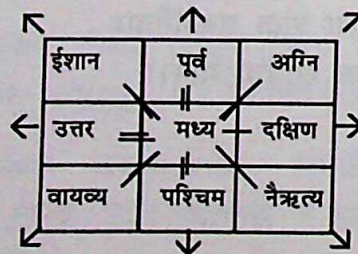
१. वृहद्वास्तुमाला १.३३
२. वही १.३४
३. वही १.३५-३६

ऐश्वर्य, दाह-ताप, पीड़ा एवं कष्ट, मृत्यु (आठ प्रकार में से कोई भी), धन हानि, पुत्र हानि, प्रवास, धन लाभ, विद्या लाभ ये पूर्वादि प्लवन (ढाल) के प्रभाव होते हैं। यदि चारों ओर का जल प्रवाह मध्य भाग में जमा हो तो भूमि वास्तु की दृष्टि से खराब होती है। अन्य ग्रन्थान्तर से भी इस प्रमाण की पुष्टि होती है। यथा-

शम्भुकोणे प्लवाभूमिः कर्त्तुः सुखदायिनी।
पूर्व प्लवावृद्धिकरी धनदा तूत्तरप्लवा।।

मृत्युशोकप्रदा नित्यमाग्नेयी दक्षिणप्लवा।
गृहक्षयकरी सा च भूमिर्यानिर्ऋतिप्लवा।।

धनहानिकरी चैव कीर्तिदा वरुणप्लवा।
वायुप्लवा तथा भूमिर्नित्यमुद्वेग कारिणी।।[१]

अर्थात् ईशान कोण में ढाल वाली भूमि गृहकर्त्ता को सुख सम्पत्ति देती है। पूर्व दिशा में ढाल सभी तरह से वृद्धि (विकास) प्रदान करता है। अग्नि कोण में यदि ढाल हो, तो- मृत्यु तथा शोक, दक्षिण ढाल गृहक्षयकारी, नैऋत्य कोण में ढाल हो तो धन की हानि, पश्चिम ढाल से यश की हानि तथा अपयश, वायुकोण के ढाल से उद्वेग का नैरन्तर्य होता है।

भूमिढाल एवं जल प्लवन का अपवाद-

सौम्यादि प्लवभूतले विरचयेद् विप्रादिकोऽग्रोऽखिले।
नान्येषां नियमोऽथ यत्र निखिलाः कुर्युर्गृहं ह्रतस्थिरम्।।[२]

अर्थात् उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम प्लवन की भूमियों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण का वास शुभद होता है। अन्य वर्ण के लिए कोई विशेष नियम नहीं है। सभी के लिए एक विशेष नियम यह है कि जहाँ अधिक सुख शान्ति तथा सन्तोषप्रद लगे, वहाँ गृह निर्माण कराना चाहिए।

जलप्लवन में बृहत्संहितोक्त प्रमाण-

उदगादिप्लवमिष्टं विप्रादीनां प्रदक्षिणेनैव।
विप्रः सर्वत्र वसेदनुवर्णमथेष्टमन्येषाम्।।[३]

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.३७-३९
२. वही १.४०
३. बृहत्संहिता ५३.९१

उत्तर, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम ढाल क्रम में ब्राह्मणादि वर्ण के लिए निर्माण शुभ है। विप्र=वेदाभ्यासी सर्वत्र किसी भी ढाल की भूमि पर वसे, उसके लिए शुभ है, लेकिन अन्य वर्ण क्रम से ही उत्तरादि प्रदक्षिण क्रम से ढाल के हिसाब से बसे। टिप्पणी में तथ्य अन्वेषणीय हैं। इस प्रकार के विधान वराह के समय प्रचलित थे?

भूमि प्लवन विचार में विशेष संज्ञा तथा उनके प्रभाव–

पूर्वप्लवा वृद्धिकरी, उत्तरा धनदा स्मृता।
अर्थक्षयकरीं विधात् पश्चिमप्लनवा तटाः।।

दक्षिण प्लवना पृथ्वी नराणां मृतिदा भवेत्।[१]

यह विधान भी पूर्ववत् है। यहाँ विचारणीय है कि वर्ण से जल प्लवन को नहीं जोड़ा गया है। क्षेत्र भेद से अगर मैदानी भाग को छोड़ दें, तो पर्वतीय क्षेत्रों में हिमालय में दक्षिणी भाग दक्षिण ढाल प्रधान है। हिमालय का कामरूप (आसामादि) भाग पश्चिम, नैऋत्य तथा दक्षिण ढाल प्रधान है। काश्मीर में दक्षिण, पश्चिम तथा पूर्व तीनों ढाल मिलते हैं। उत्तर का मैदान दक्षिण तथा पूर्व ढाल प्रधान है। विन्ध्य पर्वत शृंखला में उत्तर, पश्चिम, दक्षिण तथा पूर्व चारों प्रकार के ढाल हैं। दक्षिण के पठार में भी चारों ढाल मिलते हैं। बंग सागर तटवर्ति क्षेत्र पूर्व ढाल, हिन्द महार्णव तटवर्ति क्षेत्र दक्षिण ढाल तथा अर्बुद सागर का अरब सागर तटवर्ति क्षेत्र पश्चिम ढाल प्रधान है। गुर्जरप्रदेश की ढाल दक्षिण तथा पश्चिम नैर्ऋत्याभिमुख है, सिन्ध प्रान्त की ढाल दक्षिण है। तिब्बत पूर्वोत्तर ढाल है। ब्रह्म देश वर्मा दक्षिण ढाल। इस प्रकार बिना देश की चर्चा किये उपर्युक्त जल प्लवन का प्रमाण अगर सार्वभौम तथ्य का द्योतक है, तो भारतीय वास्तुविद इस तथ्य की भी समीक्षा प्रयोग सरणी के आधार पर करें। अन्य देशों में भी इन नियमों के आधार पर परीक्षण आवश्यक है।

जल प्लवन से भूमि की वीथि संज्ञा तथा उनके प्रभाव–

वारूणोच्चसमायुक्ता नीचमाहेन्द्रसंयुता।।

सा गोवीथिरिति ज्ञेया ऐन्द्रोच्चा नीचवारुणा।।
जलवीथिरिति प्रोक्ता वास्तुज्ञानविशारदैः।।

सोमोच्चयमनीचा च यमवीथीति कथ्यते।
यमोच्च सोमनीचा च गजवीथीति कथ्यंते।।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.४१-४२

ईशानोच्चं निऋतौ नीचं भूतलं भूतवीथिकम्।
आग्नेयोच्चं वायुनीचं नागवीथी प्रशस्यते।।

वायूच्चमाग्निनीचं यद् वीथिं वैश्वानरीं विदुः।
निऋत्युच्चमीशनीचं धन वीथीत्युदाहृता।।[1]

यदि प्राकृतिक दृष्टि से वास के लिए गुणयुक्त भूमि चयन करना हो तो वीथि का विचार अवश्य करना चाहिए। यथा–

१. गोवीथि – पश्चिम भाग में उच्च तथा पूर्व भाग में नीच भूमि।

२. जल वीथि – पूर्वोच्च पश्चिम नीच,

३. यमवीथि – उत्तर में उच्च दक्षिण नीच

४. गजवीथि – दक्षिण में उच्च उत्तर दिशा नीच

५. भूतवीथि – ईशान में उच्च नैऋत्य नीच,

६. नागवीथि – आग्नेय उच्च वायुनीच

७. वैश्वानरवीथि – वायु उच्च अग्नि नीच।

८. धनवीथि – नैऋत्य उच्च ईशान नीच

१, ४, ८ वीथियाँ उत्तमफल तथा अन्य विथियाँ अधम फल देने वाली होती हैं।

वास्तु की पितामहादि संज्ञा[2]–

ये पितामह, सुपन्थ, दीर्घायु तथा पुण्यक चार प्रकार की वास्तुभूमि की संज्ञाएँ भी भूमि की प्राकृतिक बनावट पर उच्च, नीच भेद से की गयी हैं। एक दिशा और एक कोण दिशा के मध्य

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.४७-४७

२. इन्द्राग्न्यन्तर मुच्चं स्यान्नीचं वरूणवातयोः।
वास्तु पैतामहं विद्यान्नराणां कुरूते शुभम्।।
याम्याग्न्यन्तरमुच्चं स्यान्नीचं मारूतसोमयोः।
सुपथं नाम तद्वास्तु प्रशस्तं सर्वकर्मणि।।
सोमेशानन्तरं नीचमुच्चं निर्ऋतिकालयोः।
दीर्घायुर्नाम तद्वास्तु प्रशस्तं कुलवर्धनम्।।
ईशानेन्द्रान्तरं नीचमुच्चं वरुणरक्षसोः।
पुण्यकं नाम तद् वास्तु द्विजानां च शुभावहम्।। वृहद्वास्तुमाला १.४७-५०

में उच्च तथा उसके सम्मुख १८०° पर दिशा तथा कोण दिशा के भेद से की गयी संज्ञाएँ तथा उनके प्रभाव वास्तु भूमि की गुणवत्ता निर्धारण में प्रयुक्त किये गये हैं।

उत्तम संज्ञक वास्तु–

१. पितामह संज्ञक वास्तु– पूर्व △ अग्नि > पश्चिम ▽ वायव्य = शुभप्रद।

२. सुपंथ संज्ञक वास्तु– दक्षिण △ अग्नि > पश्चिम ▽ वायव्य = सर्व कर्म सिद्धिदायक।

३. दीर्घायु संज्ञक वास्तु – उत्तर ▽ ईशान < दक्षिण △ नैर्ऋत्य = कुलवृद्धिकारक।

४. पुण्यक वास्तु – ईशान ▽ पूर्व < नैर्ऋत्य △ पश्चिम = पुण्यवृद्धिकारक।

टिप्पणी – दिशा एवं विदिशा के मध्य △ चिन्ह उच्चता का तथा ▽ चिन्ह निम्नता का तथा >, < चिह्न अधिक ऊँचाई एवं न्यूनता के क्रमशः द्योतक है।

दुष्ट संज्ञक वास्तु[1]–

१. अपथ वास्तु– पूर्व ▽ अग्नि < पश्चिम △ वायव्य प्रभाव शत्रुवृद्धि एवं कलह।

---

१. इन्द्राग्न्योरन्तरं नीचमुच्चं वायुजलेशयोः।
अपथं नाम तद् वास्तु वैराय कलहाय च।।
कालाग्न्योरन्तरं नीच मुच्चं स्याद् वायु सोमयोः।
रोगकृन्नामतद् वास्तु नराणां रोगवृद्धि कृत्।।
निर्ऋत्यन्तकयोर्नीचमुच्चं सोमशिवान्तरम्।
अर्गलं नाम तद्वास्तु ब्रह्म हत्याविनाश कृत्।।
रूद्रेन्द्रान्तरमुच्चं स्यान्नीचं वरूणरक्षसोः।
श्मशानं नाम तद्वास्तु केवलं कुल नाशनम्।।
नीचमग्नौ भवेदुच्चं निर्ऋतीशान वायुषु।
श्येनकं नाम तद्वास्तु नाशाय मरणाय च।।
रूद्राग्नि वरूणेषूच्चं नीचं स्यान्निर्ऋतौ तथा।
श्वमुखं नाम तद्वास्तु दारिद्रयं कारयेत्फलम्।।
नैर्ऋत्याग्निशिवेषूच्चं नीचं वह्नीन्द्रयोस्तथा।
ब्रह्मघ्नं नाम तद्वास्तु नेष्टं प्राणमृतां सदा।।
अग्नौ यदि भवेदूच्चं नीचं निर्ऋतिरूद्रयोः।
वातनिम्नं च तद्वास्तु स्थावरं नाम शोभनम्।।
उच्चं निर्ऋतिभागे स्यान्नीचं ज्वलन वातयोः।
रूद्र निम्नं च तद्वास्तु स्थाण्डिलं नाम शोभनम्।।
रूद्रोच्चं यदि निम्नं स्याद्वह्नौ निर्ऋतिवातयोः।
शाण्डुलं नाम तद्वास्तु प्राणयत्यशुभं सदा।।

२. रोगकृत वास्तु - दक्षिण ▽ अग्निकोण < उत्तर △ वायव्य, प्रभाव रोगवृद्धि।

३. जघन्य वास्तु - दक्षिण ▽ नैर्ऋत्य < उत्तर △ ईशान, प्रभाव जघन्य हत्या एवं पाप।

४. श्मशान वास्तु - पूर्व △ ईशान > पश्चिम ▽ नैर्ऋत्य, प्रभाव कुल नाश।

५. श्येनक वास्तु - अग्नि ▽ < नैर्ऋत्य ईशान तथा वायव्य, प्रभाव मृत्यु एव विनाश।

६. श्वमुखवास्तु - नैर्ऋत्य ▽ शेष कोण उच्च, प्रभाव दरिद्रयोत्पादक।

७. ब्रह्मघ्नवास्तु - नैऋत्य अग्नि तथा ईशान △ तथा > पूर्व ▽ अग्नि कोण, प्रभाव प्राणभय।

८. स्थावरवास्तु - अग्निकोण △> नैऋत्य ईशान तथा वायव्य ▽, प्रभाव शुभप्रद।

९. स्थण्डिलवास्तु - नैर्ऋति △> अग्नि एवं वायव्य ▽, प्रभाव शुभप्रद।

१०. शाण्डुलवास्तु - ईशान △> अग्नि वायव्य और नैऋत्य ▽, प्रभाव अशुभ।

११. सुस्थानवास्तु - नैऋत्य, अग्नि और ईशान △> वायव्य, ▽ प्रभाव ब्रह्म कर्मार्थ उत्तम।

१२. सुतलवास्तु - पूर्व ▽< पश्चिम, नैऋत्य और अग्नि △, प्रभाव समृद्धि।

१३. चरवास्तु - उत्तर, ईशान और वायव्य △> दक्षिण ▽ = प्रभाव वाणिज्य के लिए उत्तमफल दायक।

१४. श्वमुखवास्तु (द्वितीय भेद) - पश्चिम ▽< ईशान < पूर्व < अग्नि △ प्रभाव शिल्प तथा श्रम की दृष्टि से विकास कारक होता है।

ये भेद विभिन्न प्रकार की भूमि की प्रकृति बनावट एवं प्रभाव के द्योतक हैं। भूमि की प्राकृतिक बनावट, जल का प्रवाह, तथा ऊँची नीची भूमि की संरचना से संज्ञाभेद तथा प्रभाव भेद के कारणों का अन्वेषण जरूरी है।

नैऋत्याग्निशिवेषूच्चं नीचं चन्द्रमसं प्रति।
द्विजेन्द्राणां तु सुस्थानमवनी समुदाहृता।।
नीचमिन्द्रे भवेदूच्चं नैऋत्यां पश्चिमानिले।
सुतलं नाम तद्वास्तु राजराष्ट्र विवर्धनम्।।
सौम्येशपवनेषूच्चं नीचं भवति चेद्यमे।
नाम्ना वास्तु चरं यत्स्याद् वैश्यानां तद्भीष्टदम्।।
नीचंवारूणमुच्चं चेदीशानेन्द्राग्निषु क्रमात्।
श्वमुखं नाम तद्वास्तु शूद्राणां तदभीष्टदम्।। वृहद्वास्तुमाला १.५१-६४

भूमि की ढाल गंध एवं तृणादि प्रमाण से ब्राह्मणादि वर्णों के लिए वासयोग्य भूमि का निर्धारण[१]–

ब्राह्मण– उत्तर ढाल, कुश-दूर्वा से युक्त, घी के गन्ध से युक्त भूमि ब्राह्मण वर्ण के लिए प्रशस्त है।

क्षत्रिय– पूर्व ढाल, रक्त वर्ण, कुश दूर्वादि युक्त रक्त गन्ध भूमि क्षत्रिय वर्ण के लिए प्रशस्त है।

वैश्य– दक्षिण ढाल, कुशदूर्वादि युक्त, अन्न गन्ध युक्त, हीरा एवं पीत वर्णी भूमि वैश्यों के लिए प्रशस्त होती है।

शूद्र– पश्चिम ढाल, दूर्वादि युक्त, कृष्ण, हीरा पीत वर्ण भूमि, मद्यगन्ध या मत्स्यगन्ध युक्त शूद्र वर्ण के लिए प्रशस्त है।

प्राकृतिक भूमि किस दिशा में उच्च हो तो क्या प्रभाव होगा तथा किस दिशा में निम्न हो तो क्या होगा इस संदर्भ में कहा गया है कि– पूर्व △ सन्तति नाश, अग्नि कोण △ अर्थप्रद, अग्निकोण ▽ अर्थनाश, दक्षिण △ आरोग्य, नैऋत्य △ अर्थ लाभ, पश्चिम △ पुत्रप्रद, वायव्य △ द्रव्यनाश, उत्तर △ रोगप्रद, ईशान △ महाक्लेश, यह वास्तुशास्त्र का सर्व स्वीकृत विधान है। यथा–

इन्द्रोन्नतं पुत्रनाशं बह्न्युन्नरामथार्थदम्।
अग्निनीचेऽर्थनाशः स्याद् याम्योन्नतमरोगकृत्।।

निर्ऋत्युच्चे च श्रीलाभः पुत्रदं वारूणोन्नतम्।
वायून्नतं द्रव्यनाशं सौम्योन्नतं च रोगदम्।।

ईशानोच्चं महाक्लेशं वास्तुविद्या क्रमादिदम्।
फलं सर्वत्र विज्ञेयं वास्तुभूमि विनिर्णये।।[२]

उपर्युक्त प्रभाव क्यों होते हैं, नहीं बताया गया, अतः इस वास्तु भूमियों के प्रभावों का तत्त्वात्मक विश्लेषण प्रत्यक्ष प्रयोग से किया जाना आवश्यक है।

शुभवृक्ष एवं दिशा भेद–

वास्तुभूमि के पूर्व में पीपल (अश्वत्थ) दक्षिण में गूलर (उदुम्बर) पश्चिम में वट(न्यग्रोध), उत्तर में पाकड़ (प्लक्ष) शुभप्रद होते हैं। यदि इनकी दिशा बदल दी जाए जैसे पूर्व में वट, दक्षिण

१. वृहद्वास्तुमाला १.६५-६८
२. वही १.६९-७१

में पाकड़, पश्चिम में पीपल तथा उत्तर में गूलर, अशुभप्रद हो जाते हैं। पीपल-अग्निभय, पाकड़-प्रमाद, वट से शास्त्राघात तथा गूलर अशुभ स्थान में रहने से कुक्षि रोग उत्पन्न करते हैं। यथा-

अश्वत्थः पूर्वतो धन्यो दक्षिणस्यामुदुम्बरः।
न्यग्रोधः पश्चिमे श्रेष्ठः प्लक्षोऽप्युत्तरतः शुभः।।

न्यग्रोधः पूर्वतोवर्ज्यें दक्षिणे प्लक्ष एव च।
अश्वत्थः पश्चिमे भागे-उत्तरे चाप्युदुम्बरः।।[१]

फल-

अश्वत्थोऽग्निभयं कुर्यात् प्लक्षः कुर्यात् प्रमादकम्।
न्यग्रोधः शास्त्रसंपातं कुक्षिरोगमुदुम्बरः।।[२]

भूमिकर्षण तथा खनन काल में दृश्य पदार्थानुरोध से शुभाशुभ की दृष्टि से यदि काष्ठ, ईंट (इष्टिका), भूसा (तृण), पत्थर, अस्थि (हड्डी), सरीसृप (रेंगकर चलने वाले सर्पादि), दग्धकाष्ठ, आदि दिखाई पड़े, तो निम्नाङ्कित रूप से प्रभाव जानना चाहिए। सर्वप्रथम काष्ठ दिखे तो अग्निभय, ईंट से धनागम, जले हुए पदार्थ अंगार से रोगभय, भूसा से धनक्षय, पत्थर से कल्याण, अस्थि दर्शन से कुलनाश, सरीसृप विशेष से तज्जन्य भय होगा कहना चाहिए। यथा-

काष्ठेष्टकातृणाङ्गारपाषणास्थिसरीसृपान् ।
हलाग्रेणोद्धृतान् दृष्ट्वा तत्रविद्यादिदं फलम्।।

काष्ठेष्वग्निभयं विद्यादिष्टकासु धनागमम्।
अङ्गारेषु तथा रोगं तृणेष्वेव धनक्षयम्।।

पाषाणेष्वपि कल्याणं कुलनाशं तथास्थिषु।
सरीसृपेषु सर्वेषु तादृग्भ्यो भयमादिशेत्।।[३]

भूमि लक्षण-

ऊसर भूमि में जहाँ वनस्पतियों की उत्पत्ति नहीं हो, वहाँ वास निषिद्ध कहा गया है। अतः उर्वरा, स्निग्ध, समतल, आभा (कान्तियुक्त) जलयुक्त, तृण एवं वनस्पति से युक्त सर्वमान्य भूमि वास्तु के लिए प्रशस्त होती है। औषधियों को उत्पन्न करने वाली, मधुर, सुगन्धित, स्निग्ध, समतल,

---

१. वृहद्वास्तुशास्त्र १.७१-७२
२. वही १.७३
३. वही १.७४-७६

एवं जहाँ आने पर व्यक्ति की विश्राम करने की इच्छा करें, ऐसी भूमि निरन्तर धन और सुख दायिनी होती है। यथा–

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।
तृणोपलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ धरा।।

शस्तौषधिद्रुमलता मधुरा सुगन्धा,
स्निग्धा समान सुखिरा च मही नरायणाम्।
अप्यध्वनि श्रम विनोदमुपगतानां,
धत्तेश्रियं किमुत शाश्वत मन्दिरेषु।।[१]

भूमि के दोष–

फटी हुई, शल्य (हड्डी) वल्मीक (दीमक) से युक्त, असमतल, भूमि वासनेवालों के धन एवं आयु की नाशनी होती है। फटी भूमि मृत्युप्रद, ऊसर भूमि धन नाशिका, शल्ययुक्त भूमि क्लेश दायिनी एवं मरणप्रद, असमतल भूमि शत्रुवृद्धिकारिणी, चैत्याकार भूमि–भयदायिनी, दीमकयुक्त भूमि विपत्तिदायिनी, गर्त्तयुक्त भूमि विनाशिनी, तथा कूर्माकार भूमि धन नाशिनी होती है। ये भूमि के मुख्य दोष हैं। यथा–

स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी।
सशल्या क्लेशदा नित्यं विषमा शत्रुवर्धिनी।।

चैत्ये भयं गृहकृतो वल्मीके स्वकुले विपत्।
गर्तायां तु विनाशः स्यात्कूर्माकारे धनक्षयः।।[२]

विभिन्न प्रकार की भूमियों के लक्षण एवं प्रभाव–

गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, दैत्यपृष्ठ, तथा नागपृष्ठ, ये चार प्रकार के पृष्ठ विभाग हैं।

गजपृष्ठ लक्षण एवं फल–

दक्षिण, पश्चिम, नैऋत्य तथा वायु कोण में यदि भूमि उन्नत हो, तो गजपृष्ठ कहलाती हैं। इसमें वास करने पर धन, धान्य, आरोग्य तथा आयु की वृद्धि होती है। यथा–

दक्षिणे पश्चिमे चैव नैऋत्ये वायु कोणके।
एभिरूच्चा यदा भूमिर्गजपृष्ठाभिधीयते।।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.७७-७८
२. वही १.८०-८१

गजपृष्ठे भवेद्वासः सलक्ष्मीधन पूरितः।
आयुर्वृद्धिकरोनित्यं जायते नात्र संशयः।।[1]

कूर्मपृष्ठ लक्षण एवं फल–

मध्येऽत्युच्चं भवेद्यत्र नीचं चैव चतुर्दिशम्।
कूर्मपृष्ठा भवेद् भूमिस्तत्र वासो विधीयते।।

कूर्मपृष्ठे भवेद्वासो नित्योत्साहसुखप्रदः।
धनधान्यं भवेत्तस्य निश्चितं विपुलं धनम्।।[2]

मध्य में उन्नत, चारों तरफ ढाल वाली भूमि कूर्म पृष्ठ होती है। इस पृष्ठ पर वास से उत्साह सुख धन धान्य सभी विपुलता को प्राप्त करता है। ये दोनों पृष्ठ गज तथा कूर्म अति शुभप्रद कहे जाते हैं। प्लवनजन्य अशुभ प्रभाव से ये दोनों पृष्ठ मुक्त होते हैं।

दैत्यपृष्ठ लक्षण एवं फल–

बीच में गहरा तथा चारों तरफ ऊँची भूमि की दैत्यपृष्ठ संज्ञा है, तथा पूर्व अग्नि तथा ईशान उन्नत > पश्चिम नैऋत्य तथा वायव्य नत हो तब भी दैत्यपृष्ठ होता है। केवल ईशान पूर्व अग्नि > पश्चिम का प्रमाण भी दैत्यपृष्ठ है। इसका प्रभाव अर्थनाश, अर्थागमनाभाव, धन पुत्र तथा पशु का क्षय है। यथा–

पूर्वाग्नि शम्भु कोणेषु उन्नतिश्च यदा भवेत्।
दैत्यपृष्ठे भवेद्वासो लक्ष्मी नायाति मन्दिरे।
धनपुत्रपशुनां च हानिरेव न संशयः।।
पश्चिमे च यदा नीचं दैत्यपृष्ठोऽभिधीये।।[3]

नागपृष्ठ लक्षण एवं फल–

पूर्व-पश्चिम निम्न और लम्बाई युक्त हो तथा दक्षिण एवं उत्तर दोनों भाग ऊँचे हों, तो नागपृष्ठ भूमि होती है जो कर्त्ता को उच्चाटन प्रदान करती है। यदि इस पृष्ठ पर वास किया जाए तो अकाल मृत्यु, पत्नी हानि, पुत्र हानि, शत्रु एवं रोग की वृद्धि होती है। यथा–

पूर्व पश्चिमयोर्दीर्घो दक्षिणोत्तर उच्चकः।
नागपृष्ठं विजानीयात् कर्त्तुरूच्चाटनं भवेत्।।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.८२-८३
२. वही १.८४-८५
३. वही १.८६-८७

नागपृष्ठे यदा वासो मृत्युरेव न संशयः।
पत्नी हानिः पुत्र हानिः शत्रुवृद्धिः पदे पदे।।[१]

भूखण्ड आकृति के भेद–

	भूखण्डाकृति		प्रभाव		भूखण्डाकृति		प्रभाव
१.	आयत	=	सर्वसिद्धि,	२.	चतुरस्य	=	धनागम,
३.	वृत्त	=	बुद्धिवृद्धि,	४.	भद्रासन	=	सर्वत्रः कल्याण,
५.	चक्राकृति	=	दारिद्रय,	६.	विषमाकृति	=	शोक,
७.	त्रिकोणाकृति	=	राजभय,	८.	शकटाकृति	=	धननाश,
९.	दण्डाकार	=	पशुक्षय,	१०.	शूर्पाकार	=	गोधनहानि,
११.	गोव्यावप्रबन्धन	=	बन्धनभय,	१२.	गोमुख	=	बन्धनभय,
१३.	व्याघ्रमुख	=	बन्धनभय,	१४.	धनु क्षेत्र	=	महाभय।

ये प्रभाव क्षेत्राकृति के अनुसार पठित हैं।[२] बाह्यदृष्टि से वासयोग्यभूमि का लक्षण जिस भूमि पर मन में संतोष हो तथा नेत्र उत्फूल्लित हो जाए, उस भूमि में गृहनिर्माण करना गर्गादि सम्मत हैं।[३]

सुप्त एवं जाग्रत भूमि ज्ञान[४]–

गृहकर्त्ता के नामाक्षर संख्या + ग्रामनामक्षर संख्या + दिशा स्वाराङ्क (ग्रामदिशा स्वराङ्क), इन सबका योग कर तीन से भाग देकर, १ शेष से जाग्रत भूमि, २ शेष से सम, ० शेष से सुप्त भूमि होती है। सुप्त भुमि में वास से कर्त्ता का नाश तथा मरण संभव है।

भूमिशयन ज्ञान[५]–

सूर्यास्थित नक्षत्र से चन्द्र स्थित नक्षत्र की संख्या ५, ७, ९, १२, १९, २६ हो तो भूशयन होता है। इनमें गृहारम्भ, भूमिखनन, वापी, तडाग, कूप आदि का निर्माण नहीं करना चाहिए।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.८८–८९
२. वही १.९०–९२
३. वही १.९३
४. वही १.९४–९५
५. वही १.९६

जीवितादि भूमिज्ञान–

प्रश्न के अनुसार रुद्रयामल तन्त्र में भूमि के अवस्थाओं का विचार इस प्रकार किया गया है– [(भूमि की लम्बाई + चौड़ाई + ग्रामनामाक्षर संख्या) x ४ + गृहकर्त्तानामाक्षर संख्या] ÷ ३ = ल. + शे/३। १ शेष से जीवित, २ से सम तथा ३ या ० से मृत अवस्था समझनी चाहिए।[1]

वनस्पति प्रमाण से जीवितादि ज्ञान– जो भूमि उर्वरा हो, जहाँ वृक्षों का विकास ठीक-ठीक २ होता हो, उसे जीवित भूमि जानना चाहिए। इससे विपरीत मृत् भूमि समझनी चाहिए।[2]

इस प्रकार भूमि के शुभाशुभत्व गुण तथा दोष की परीक्षा कर गुणयुक्त शुभ भूमि में वास करना चाहिए। यदि भूमि में कोई दोष या शल्य आदि हो, तो संशोधन के बाद ही वास करना चाहिए। शल्ययुक्त भूमि गृह कर्त्ता के लिए विनाशक सिद्ध होती है।

गृहारम्भ से पूर्व कर्मव्यकर्म–

स्वामी हस्त प्रमाणेन ज्येष्ठ पत्नीकरेण च।
हस्तमात्रं खनेद्भूमिं नृणां प्रोक्तं पुरातनैः।।

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्यबोद्धृत्य-शल्यं सदनमारभेत्।।[3]

गृहकर्त्ता वा उसकी प्रथम पत्नी के हाथ से १ हाथ लम्बा चौड़ा तथा गहरा खात खोदकर भूमि परीक्षण करना चाहिए। जलान्त, प्रस्तरान्त, वा पुरूषान्त क्षेत्र संशोधन कर हड्डी यदि भूमि में हो, तो निकालकर गृहारम्भ करना चाहिए।

भूमिशोधन तथा गृहारम्भ के लिए कहाँ खाताराम्भ करें, इस सन्दर्भ में रामदैवज्ञ कहते है कि– देवालय में मीन से, गृहारम्भ में सिंह से तथा तडागनिर्माण में मकर से तीन-तीन राशि क्रम से ईशान वायव्य आदि विलोम क्रम से सूर्य राशि से राहु मुख का विचार होता है। खात का आरम्भ राहु के मुखभाग को छोड़कर पृष्ठस्थ कोणदिशा में करना चाहिए। यथा–

देवालये गेहविधौ जलाशये, राहोर्मुखं शम्भु दिशो विलोमतः।
मीनार्क सिंहार्क मृगार्कतस्त्रिभे, खाते मुखात् पृष्ठ विदिक शुभाभवेत्।।[4]

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.९७-९८
२. वही १.१०१
३. वही १.१०२-३
४. वही १.१०४

गर्ग के प्रमाण से खातदिशा का निर्धारण– वृष से ३ वेदी निर्माण में, सिंह से ३ गृहारम्भ में, मीन से तीन देवालय तथा मकर से तीन तड़ाग निर्माण में ईशानादि विलोमक्रम से ईशान, वायव्य, नैऋत्य तथा अग्निकोण में राहु का मुख होता है। मुख से १८०° पर पुच्छ जानें। पुच्छ भाग में तथा पृष्ठभाग में खात करना चाहिए। यथा–

वृषार्कादित्रिकं वेद्यां सिंहादि गणयेद् गृहे।
देवालये च मीनादि तडागे मकरादिकम्।।[१]

भूमि संशोधन प्रकार–

खातं भूमि परीक्षणे करमितं तत्पूरयेत्तन्मृदा।
हीने हीनफलं समे समफलं लाभो रजवर्द्धने।।

तत्कृत्वा जल पूर्णमाऽऽशतपदं गत्वा परीक्षणं पुनः।
पादोनाऽर्द्धविहीनकेऽथ निभृते मध्याद्यभेष्टाम्बुभिः।।[२]

एक हाथ घनक्षेत्र के खात को खोदकर पुनः मिट्टी (खोदे हुए को) उसमें भरे। यदि मिट्टी घट जाए तो ह्रास, सम हो, तो समान, यदि बढ़े तो वृद्धि कहे। मिट्टी निकालकर पुष्पाक्षत से भूमि पूजन कर १ हाथ घन क्षेत्र के खात को एक साथ जल से पूर्ण कर दे। १०० कदम जाकर लौटने पर यदि जल नहीं घटे तो उत्तम, ¼ प्रमाण कम होने पर मध्यम ½ से अधिक जल घटे तो अधम भूमि होती है। यह परीक्षण सूर्यास्त समकाल से पूर्व करना चाहिए। द्वितीय दिन प्रातः काल यदि खात में जल बच जाए तो उत्तम, जल नहीं रहने पर मध्यम तथा भूमि फटी हो तो अधम समझना चाहिए। प्रातःकाल खनित खात को उसी की मिट्टी से पूर्ण करते समय, कम, बराबर तथां अधिक मिट्टी प्रमाण से अधम, मध्यम तथा उत्तम वास्तु भूमि समझनी चाहिए। यथा–

निखनेद् हस्तनिर्माण पुनस्तेनैव पूरयेत्।
पांशुनाधिकमध्योन श्रेष्ठ मध्याधमाः क्रमात्।।[३]

प्रकारान्तर से–

कर्त्तुश्च हस्तप्रमितं खनित्वा खातं पयोभिः परिपूरितं चेत्।
वसेत्सुखार्थी परिपूरितं स्याच्छुष्कं भवेत्तत्क्षणमेवनाशः।।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.१०५
२. वही १.१०६
३. विश्वार्माप्रकाश उद्धृत वृहद्वास्तुशास्त्र १.१०७

स्थिरे जले वै स्थिता गृहस्य स्याद्दक्षिणावर्त्तजलेन सौख्यम्।
प्रियं जलं शोषयतीह खातो मृत्युर्हि वामेन जलेन कर्त्तुः।।[१]

यदि परीक्षण काल में जल स्थिर हो, तो गृह की स्थिरता, दक्षिण गति से सुख तथा प्रिय एवं वाम गति कर्त्ता के लिए मरणप्रद होती है। यदि समस्त जल एक साथ भरने पर भी शीघ्र सूख जाए, तब भी त्यागना चाहिए। मरूभूमि में यह नियम प्रयुक्त नहीं होता। बालू वाली भूमि में भी तारतम्य से विचार करना चाहिए।

प्रकारान्तर से परीक्षण–

अथवा सर्वधान्यानि वायमेच्च समन्ततः।
यत्र नैव प्ररोहन्ति तां प्रयत्नेन वर्जयेत्।।[२]

इससे भूमि के उर्वरत्व तथा दोष ग्रस्तता का भान होता है।

भूमि खोदने पर दृश्य पदार्थ के अनुसार शुभाशुभ प्रभाव–

भूमि खोदने के समय यदि पत्थर निकले तो धन की तथा आयु की चिरता एवं वृद्धि, ईंट निकलने पर धनागम, कपाल, कोयला, केश आदि से रोग भय एवं कष्ट, होता है। यदि खात में पत्थर हो तो हिरण्य (सोम) की वृद्धि, ईंट से समृद्धि, द्रव्य से रमणीय सुख तथा ताम्रादि धातु से वृद्धि होती है। पिपीलिका, दीमक, ८ मास तक भूमि के भीतर सोने वाले मेंढक, यदि खनन काल में निकले तो उस भूमि में वास नहीं करना चाहिए। भूसा, राख, हड्डी, भस्म, अण्डे, सर्प आदि निकलने पर कष्टदायिनी भूमि होती है। कौड़ी मिलने पर दुःख तथा कलह, कपास से दुःख, जले काष्ठ से रोगभय, खप्पर से कलह, लोहा से कर्त्ता की मृत्यु होती है।[३]

वास्तु राजवल्लभ[४] में लिखा भी है कि इस प्रकार परीक्षित भूमि में गणेश तथा दुर्गा सहित क्षेत्र पाल तथा दिक्पाल का विधिवत् पूजनादि सुख के लिए करना चाहिए। यदि भूमि छांटने का अवसर तथा सुविधा न हो, जैसा कि नगरों में आजकल स्थिति है, इस तरह एक मनुष्य प्रमाण मिट्टी खोदकर नयी मिट्टी, वा पत्थर से जमीन को भर दे। १ पुरुषप्रमाण से नीचे का शल्य दोषप्रद नहीं होता। यथा– **पुरुषाधः स्थितं शल्यं न गृहे दोषदं भवेत्।।**

---

१. वास्तुरत्न उद्धृत वृहद्वास्तुमाला १.१०८-१०९
२. वृहद्वास्तुमाला १.११०
३. वृहद्वास्तुमाला १.११२-११५
४. परीक्षितायां भुवि विघ्नराजं समर्चयेच्चाण्डिकया समेतम्।
क्षेत्राधिपं चाष्टदिगीश [illegible] पूर्वैर्बलिभिः सुखाय।। वही १.११६

गृहपिण्डप्रमाण में भित्ति विचार–

> **पाषाणे सर्वतो बाह्यमिष्टकायां तदर्धकम्।**
> **मृत्तिकायां पिण्डमात्रमित्युक्तं रूद्रयामले।।**[१]

इस प्ररुंग में कहा गया है– **पिण्डाद्वहिर्भित्तिका।** केवल प्रस्तर की दीवाल पिण्ड से बाहर, ईंट की अर्धभाग पिण्ड में अर्धभाग बाहर, तथा मिट्टी की दीवाल पिण्ड के भीतर मानी जाती है। इस प्रकार ग्रामवास से प्रारम्भ कर शुभ गुणवत्ता तक का विधिवत् परीक्षण कर गृहमानचित्र (पिण्ड) के अनुसार शास्त्रीय विधि से गृहारम्भ करना चाहिए।

भूमिशोधन–

ब्राह्मण कुश, क्षत्रिय मूंज, वैश्य कपास तथा शूद्र सुवर्ण सूत्र का भूमिशोधन में उपयोग करे।[२] सूत्र को छः गुणा कर भूमि शोधन करना चाहिए। शोधन के समय यदि कोई व्यक्ति सूत्र का लंघन करे तो लंघित स्थान पर पुरुष प्रमाण से धरती में मानव शल्य कहना चाहिए। सूत्र यदि कहीं से विभक्त उघेरा हुआ हो, उस स्थान पर अथवा उस दिशा में शल्य कहना चाहिए। ७० अंगुल नीचे शल्य जानें।[३] सूत्रमापन के समय यदि श्रृगाल आदि आ जाए तथा सूत्र का उल्लंघन करे या स्थित हो जाए, तो श्रृगालादि की हड्डी उस स्थान पर ६० अंगुल नीचे जानें।[४] यदि कोई उन्मादी व्यक्ति आ जाए तथा जहाँ रूके वहीं भूमि में २ हाथ नीचे शल्य कहना चाहिए। शोधन के समय यदि सूत्र छिन्न हो, अथवा घट छिन्न हो, तो वहाँ वास से कर्त्ता दम्पत्ति की मृत्यु होती है।[५] विभिन्न प्रकार से जब निर्दिष्ट स्थान में शल्य निर्धारण हो जाए, तब शास्त्रीय विधान से शल्य निकालने हेतु निम्नाङ्कित परीक्षण करना चाहिए।

> **स्मृत्वेष्टदेवतां प्रश्नवचनस्याद्यमक्षरम्।**
> **गृहीत्वा तु ततः शल्याशल्यं सम्यग् विचार्यते।।**[६]

शल्य अन्वेषण से पूर्व **"ॐ धरणी विदारिणी भूत्यै स्वाहा"** का ४००० जप कराना चाहिए।

ब्राह्मण-पुष्प, क्षत्रिय-नदी, वैश्य-देवता तथा शूद्र-फल का नाम ग्रहण करे। आद्यक्षर ग्रहण से शल्य का स्थान निर्धारण करना चाहिए।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.११७
२. वही १.५९
३. वही १.१६०-१६२
४. वही १.१६३
५. वही १.१६४
६. वही १.१६५

प्रश्न से शल्य ज्ञान–

पवर्ग ईशान	पूर्व अवर्ग	अग्नि कवर्ग
शवर्ग उत्तर	यवर्ग मध्य	चवर्ग दक्षिण
तवर्ग वायव्य	ए ऐ ओ औ पश्चिम	टवर्ग नैऋत्य

गृहस्वामी से देवता, पुष्प तथा वृक्ष का नाम लेने को कहे। कहे गये शब्दों में प्रथम अक्षर–अ, क, च, ट, ए, त, प, य वर्ग से पूर्वादि दिशाक्रम से प्रश्न का आदि अक्षर जिस कोष्ठक में पड़े, वहाँ शल्य, आदि कहना चाहिए। गो अस्थि से राजभय, घोड़े से रोग, कुत्ते से कलह, नाश, गदहा, ऊंट से हानि, सन्तति नाश, बकरे से अग्नि भय होता है।[1] कितने आचार्यों का मत है कि वर्ग के प्रथम अक्षर से शल्य कहे, अन्य से नहीं। यथा–

अवर्ग	–	पूर्व	–	मानव	–	मरण	–	१½ हाथ
कवर्ग	–	अग्नि	–	गर्दभ	–	राजदण्ड	–	२ हाथ
चवर्ग	–	दक्षिण	–	मानव	–	गृहकर्त्ता	–	½ मानव
टवर्ग	–	नैर्ऋत्य	–	कुत्ते	–	बालक नाश	–	१½ हाथ
एवर्ग	–	पश्चिम	–	बालक	–	उच्चाटन	–	१½ हाथ
तवर्ग	–	वायव्य	–	कोयला	–	नाश	–	४ हाथ
शवर्ग	–	उत्तर	–	मछली	–	दारिद्रय	–	२ हाथ
पवर्ग	–	ईशान	–	गोधन	–	नाशक	–	१½ हाथ
यवर्ग	–	मध्य	–	केश, लोहा	–	मरण	–	३ हाथ आदि

मतान्तर से अ, क, च, ट, ए, त, श प से पूर्वादि आठों दिशाओं में तथा य र ल व से मध्य में शल्य कहना चाहिए।[2]

उक्त सभी विधियों से भूमिका परीक्षण करने के उपरान्त ही सम्यक् गुणवान भूमि में निर्माणादि कार्य प्रारम्भ करना चाहिए तभी गृह स्वामी को सुख समृद्धि मिल सकती है।

---

१. वृहद्वास्तुमाला १.१६७–१६९

२. वास्तुराज वल्लभ १.१९–२०

आवासीय वास्तु में कक्ष विन्यास

प्रो. वासुदेव शर्मा

भारतीय वास्तुशास्त्र मनुष्य की आवासीय व्यवस्था हेतु गृह निर्माण के नियमों का विवेचन करते हुए षोडश गृह निर्माण द्वारा आवास की पूर्णता का संकेत करते हुए सर्वप्रथम एक उत्तम गृह में भूमि के आकार के अनुसार १६ गृहों की कल्पना का संकेत करता है। वास्तुशास्त्र के सभी प्रधान ग्रन्थों में चार दिशा और चार कोण तथा उनके मध्य में निर्मित किये जाने वाले सभी गृहों का क्रम लगभग समान है कहीं कहीं कुछ विशेषताएँ भी हैं इन्हीं विशेषताओं और निर्देशों का विवेचन इस लेख में किया जायेगा। वसिष्ठ, कश्यप, नारद, श्री रामदैवज्ञ आदि के वचनों का विमर्श करते हुए हम पाते हैं कि एक सर्वांगीण समृद्ध गृहस्थ की आवश्यकतानुसार ही आचार्यों ने यह १६ कक्ष गृहनिर्माण की व्यवस्था प्रस्तुत की है। यथा वसिष्ठ एवं कश्यप का वचन है–

ऐन्द्रयां स्नानगृहंकार्यमाग्नेय्याम् पचनालयः।
याम्यां शयनं वेश्मं नैऋत्यां शस्त्रमन्दिरम्।।

प्रतीच्यां भोजनगृहम् वायुभागेऽन्नसङ्ग्रहम्।।
भाण्डारसदनम् सौम्ये त्वैशान्यां देवतालयम्।।[१]

पूर्वादि ८ दिशाओं में क्रमशः बनाये जाने वाले प्रधानगृह (स्नानगृह, पाचनालय, शयनगृह, शस्त्रमन्दिर, भोजनगृह, धान्यमन्दिर, भाण्डार-सदन, देवतालय) बनाने का निर्देश करते हुए वसिष्ठ दिशा और कोण के मध्य में बनाये जाने वाले ८ उपगृहों का निर्देश भी करते हैं–

इन्द्राग्न्योर्मथनं गेहं याम्याग्न्योर्घृतमन्दिरम्।
यमराक्षसयोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम्।।

राक्षस्याम्बुपयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम्।।

तोयेशानिलयोर्मध्ये रौदनम् मन्दिरम् स्मृतम्।
वायव्योत्तरयोर्मध्ये सम्भोगस्यैव मन्दिरम्।।

उत्तरेशानयो र्मध्ये त्वौषधागार मुच्यते।
सदनं कारयेदेवं क्रमादुक्तानि षोडश।।[२]

---

१. वास्तुरत्नावली, श्रीमदच्युतानन्द झा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२५
२. वास्तुरत्नावली, श्रीमदच्युतानन्द झा, तृतीय संस्करण, पृष्ठ १२५-१२६

इन उपगृहों में क्रमशः पूर्व (इन्द्र)-अग्नि के मध्य मथनगृह, अग्नि-याम्य के मध्य घृतमन्दिर, यम-राक्षस के मध्य पुरीष त्याग मन्दिर, राक्षस और अम्बुप के मध्य विद्याभ्यास मन्दिर, तोयेश और अनिल के मध्य रौदन मन्दिर, वायव्य और उत्तर के मध्य सम्भोग मन्दिर, उत्तर-ईशान के मध्य औषधागार, पुरन्दर-ईश के मध्य सर्ववस्तु सुसंग्रह सदन बनावें। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पाचनालय और भोजन गृह, शयन गृह और सम्भोग मन्दिर, स्नानगृह और पुरीषत्यागमन्दिर, विद्याभ्यास और देवतालय सम्बद्ध क्रियाओं के केन्द्र होते हुए भी वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने उचित दूरी और देवतानुकूल दिग्विभाग में बनाने का निर्देश दिया है। कुछ आचार्य वायव्य दिशा में पशुगृह बनाने का भी निर्देश करते हैं यथा नारद का वचन है- **भाण्डागारं तूत्तरे स्यात् वायव्यां पशुमन्दिरम्।।**[1] विश्वकर्मा का निर्देश है कि- **उत्तरस्यां जलस्थानम् पूर्वस्यां श्रीगृहम् तथा।।**[2] भोजनगृह का निर्देश वसिष्ठ **"प्रतीच्यां भोजन-गृहम्"** करते हैं। विश्वकर्मा प्रकाश में लिखा है- **पूषाश्रितम् भोजनमन्दिरम् च।।**[3] पूषा का पद अग्निकोण रसोईघर के पास अग्नि और वितथ देवभाग के मध्य में होने के कारण रसोईघर से संल्लग्न भी भोजन-मन्दिर बनाने का निर्देश मिलता है। राजभवनों में भोजनगृह दक्षिण, नैऋत्य, पूषा स्थान और सोम तथा पुष्पदन्त भाग में भी बनाने के निर्देश मिलते हैं। यथा-**सभाजनाश्रयं पूष्णि विदध्यात् भोजनास्पदम्।**[4] **दक्षिणे नैऋते वाऽपि भोजनार्थं तु मण्डपम्।**[5] **सोमे वाऽन्तके भागे भोजनागारमीरितम्।**[6]

महर्षि कश्यप ने वसिष्ठप्रोक्त औषधागार के स्थान पर **"नवरत्नालयम् मध्ये कुबेरेश्वरयो स्तथा"** कहकर नवरत्नालय बनाने का निर्देश तथा वसिष्ठप्रोक्त सर्ववस्तु सुसंग्रह के स्थान पर "इन्द्रेशयोर्धान्य गृहम्" कहकर धान्य गृह बनाने का वैकल्पिक निर्देश दिया है।

राजप्रासादों में तथा धनाधीश जनों के आवास में प्राचीन काल में सूतिका गृह निर्माण की परम्परा भी विद्यमान थी इसका निर्माण प्रसूति संभव काल में नवममास प्राप्त होने पर ही किया जाता था तथा गृह के नैऋत्य कोण में ही यह सूतिका गृह बनाया जाता था। विश्वकर्म प्रकाश में इस विषय में स्पष्ट उल्लेख हैं-

नैऋत्यां सूतिकागेहं नृपाणां भूतिमिच्छताम्।
आसन्न प्रसवे मासि कुर्याच्चैव विशेषतः।।

---

१. वही,
२. वही,
३. विश्वकर्माप्रकाश
४. समराङ्गण सूत्रधार १८/५१
५. मानसार ४९/५
६. विश्वकर्मावास्तु १३/२४

तद्वत्प्रसवकाले स्यादिति शास्त्रेषु निश्चयः।[१]
मासे तु नवमे प्राप्ते पूर्वपक्षे शुभे दिने।
प्रसूति संभवे काले गृहारम्भणमिष्यते।।

वास्तुशास्त्र न केवल विभिन्न दिशा विदिशाओं में विभिन्न प्रकार के गृह निर्माण का निर्देश ही करता है अपितु विभिन्न दिशा विदिशा में बनाये जाने वाले विभिन्न गृहों में की जाने वाली क्रियाओं के सम्पादनार्थ निर्देश धर्मशास्त्र तथा अन्य सहयोगी शास्त्रों की सहायता से करने के लिये कहता है। मनुस्मृति में लिखा है कि मनुष्य को प्रतिदिन प्रातः काल पूर्वाभिमुख होकर जल में गङ्गा आदि तीर्थों का आवाहन कर संकल्प पूर्वक स्नान करना चाहिये। पद्मपुराण में लिखा है–

स्नान हीनो नरः पापी स्नानहीनो ऽशुचिः सदा
अस्नाई नरकं याति पुल्कसादिषु जायते।।
स्नानं विना नु यो भुङ्क्ते मलाशी स सदानरः।[२]

स्मृत्यर्थसार का वचन है–

स्नानमूलाः क्रियाः सर्वाः श्रुतिस्मृत्यनुदिता नृणाम्।
अस्नातश्च पुमान्नार्हो जप होमादि कर्मसु।।[३]

स्नान करने से पूर्व मलत्याग करते समय पुरुष को अपना मुख दिन में उत्तर की ओर रात्रि में दक्षिण की ओर करना चाहिये। मिट्टी या साबुन से हाथ धोने के बारे में मनुस्मृति (५/१३९) में लिखा है–

एका लिङ्गे गुदे तिस्र स्तथैकत्र करे दश।
उभयोः सप्त दातव्या मृदः शुद्धिमभीप्सिता।।[४]

बायां हाथ दस बार, दोनों हाथ सात बार तथा पैरों को (प्रथम बाएं पुनः दाएं पैर को) तीन तीन बार धोवें। यह क्रिया गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी को क्रमशः १-२-३-४ गुणी कही गयी है। यथा–

एतच्छौचं गृहस्थानम् द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्।
द्विगुणं स्याद् वनस्थानाम् यतीनां तु चतुर्गुणम्।।[५]

---

१. विश्वकर्माप्रकाश २.९८-९९
२. पद्मपुराण
३. स्मृत्यर्थसार
४. मनुस्मृति ५.१३९
५. मनुस्मृति ५.१३७

आश्वलायन गृह्यसूत्र में लिखा है–

कुर्याद् द्वादश गण्डूषान् पुरीषोत्सर्जने ततः।
मूत्रोत्सर्गे तु चतुरो भोजनान्ते तु षोडश।।[१]

कुल्ला किस दिशा में मुख करके करना चाहिये इस विषय में प्रयोग परिजात में लिखा है–

पुरतः सर्वदेवाश्च दक्षिणे पितरस्तथा।
ऋषयः पृष्ठतः सर्वे वामे गण्डूषमाचरेत्।।[२]

सूर्योदय से पहिले पूर्व को तथा सूर्योदय के बाद उत्तर की ओर मुख करके बांई तरफ गण्डूष (कुल्ला) करना चाहिये। दन्तधावन करने के लिये दिशा निर्देश करते हुए विष्णुस्मृतिकार कहते हैं–

प्राङ्मुखस्य धृतिः सौख्यं शरीरा रोग्य मेव च।
दक्षिणेन तथा कष्टम् पश्चिमेन पराजयः।।

उत्तरेण गवां नाशः स्त्रीणां परिजनस्य च।
पूर्वोत्तरेण तु दिग्भागे सर्वान् कामानवाप्नुयात्।।[३]

देवतागृह में पूजा के विषय में प्रतिमा के परिमाण आदि के विषय में पुराणों के वचन भी प्राप्त होते हैं–

अङ्गुष्ठ पर्वादारभ्य वितस्तिर्यावदेव तु।
गृहेषु प्रतिमा कार्या नाधिका शस्यते बुधैः।।[४]

सप्ताङ्गुल समारभ्य यावच्च द्वादशाङ्गुलम्।
गृहेष्वर्चा समाख्याता प्रासादे वाऽधिकाशुभा।।[५]

एक से अधिक मूर्तियों की पूजा के बारे में पद्मपुराण का उल्लेख है–

एका मूर्तिर्न पूज्येत् गृहिणा स्वेष्टमिच्छता।
अनेक मूर्ति सम्पन्नः सर्वान् कामानवाप्नुयात्।।[६]

---

१. आश्वालयनगृहसूत्र
२. प्रयोगपरिजात
३. वही
४. मत्स्यपुराण, भविष्यपुराण
५. देवीपुराण
६. पद्मपुराण

एक एक देवता की मूर्तियाँ एकाधिक पूजन में रखने पर नियमों का प्रावधान इस प्रकार है– पद्मपुराण का भी वचन है–

गृहे लिङ्गद्वयं नार्च्यं शालग्राम द्वयं तथा।
द्वे चक्रे द्वारकायास्तु नार्च्यं सूर्यद्वयं तथा।।

शक्तित्रयं तथा नार्च्यं गणेशत्रयमेव च।
द्वौ शङ्खौ नार्चयेच्चैव भग्नां च प्रतिमां तथा।।

नार्चयेच्च तथा मत्स्य कूर्मादिदशकं तथा।
गृहेऽग्नि दग्धा भग्नाश्च नार्च्याः पूज्याः वसुन्धरे।।

एतासां पूजनान्नित्यमुद्वेगं प्राप्नुयाद् गृही।
शालग्रामाः समाः पूज्याः समेषु द्वितयं न हि
विषमा नैव पूज्यास्तु विषमेष्वेक एव हि
शालग्राम शिला भग्ना पूजनीया सचक्रका।
खण्डिता स्फुटिता वापि शालग्राम शिला शुभा।।[१]

पूजा गृह में दीपक को भूमि पर नहीं रखना चाहिये और जलते दीपक को बुझाना भी नहीं चाहिये–

न चैव स्थापयेद्दीपं साक्षात् भूमौ कदाचन।
नैव निर्वापयेद्दीपम् देवार्थमुपकल्पितम्।।[२]

पुरश्चर्यार्णव में लिखा है–

दीपहर्ता भवेदन्धः काणो निर्वापको भवेत्।
दीप निर्वाणात् पुंसः कूष्माण्डछोद्नात् स्त्रियः।
अचिरेणैव कालेन वंशनाशो भवेद् ध्रुवम्।
नैव निर्वापयेद् दीपं लक्ष्मी नाशकरो यतः।।[३]

भोजन करने के लिये भी दिशा निर्देश मनु ने इस प्रकार किया है–

आयुष्यं प्राङ्मुखो भुंक्ते यशस्य दक्षिणामुखः।
श्रियं प्रत्यङ्मुखके भुंक्ते ऋतं (मोथम्) भुङ्क्ते ह्युदङ्मुखः।।[४]

१. वही
२. वही
३. पुरश्चर्यार्णव
४. मनुस्मृति २-५२

तथा च –

पुत्रवांस्तु गृहे नित्यं नाश्नीयादुत्तराङ्मुखः।।[1]

प्रयोग पारिजात में लिखा है–

पितरौ जीवमानो चेन्नाश्नीयाद्दक्षिणा मुखः।।
तयोस्तु जीवतो रेक स्तथैत्र नियमः स्मृतः।।
अनिशं मातृहीनानाम् यशस्यं दक्षिणामुखम्।।[2]

तथा–

पादुकास्थो न भुञ्जीत पर्यङ्क संस्थितोऽपि वा।
शुना चाण्डाल दृष्टो वा भोजनं परिवर्जयेत्।।[3]

लघुव्याससंहिता में लिखा है–

यो भुङ्क्ते वेष्टित शिरा यस्तु भुङ्क्ते विदिङ्मुखः।
सोपानत्कश्च यो भुङ्क्ते सर्वं विद्यात्तदासुरम्।।
नार्द्धरात्रे न मध्यान्हे नाजीर्णे नार्द्रवस्त्रधृक्।
न च भिथासन गतो न शयानः स्थितो ऽपि वा।
नोपानत्पादुकी वापि न च संविलपन्नपि।।[4]

नारदपुराण में वस्त्रभवन, भाण्ड गृह तथा देवालय में देवमुख का निर्देश प्राप्त होता है–

स्नानागारं दिशि प्राच्याम् आग्नेय्यामग्नि मन्दिरम्।
अवाच्यां शयनागारं नैऋत्यां वस्त्रमन्दिरम्।।

प्रतीच्यां भोजनागारं वायव्यां पशु मन्दिरम्।
भाण्डकोषम् तूत्तरस्यां ऐशान्यां देवमन्दिरम्।।
देवानां हि मुखं कार्यं पश्चिमायां सदा बुधैः।।[5]

देवालयों, भवन और मठ सूर्य की किरणों और वायु के आवागमन से वञ्चित नहीं होने चाहियें तथा गृह की छाया कूप पर नहीं पड़नी चाहिये। इस विषय में राजवल्लभ मण्डन में लिखा है–

---

१. पेठीनसि
२. प्रयोग पारिजात
३. वही
४. लघुव्याससंहिता
५. नारदपुराण

देवालयं वा भवनं मठश्च भानोः करैर्वायुभिरेव भिन्नम्।
तन्मूलभूमौ परिवर्जनीयम् छाया गता यस्य गृहस्य कूपे।।[१]

इस प्रकार गृह के कक्षों का क्रम मुहूर्तगणपति और मूहूर्त चिन्तामणि में पूर्व से प्रारम्भ कर तथा वास्तुमाणिक्य रत्नाकर में ईशान से देवागार द्वारा प्रारम्भ कर बताया गया है–

प्राच्यास्तु क्रमशः स्नानपाकशय्यायुधस्य च।
भोजनस्यान्न भाण्डार देवतानां गृहाः स्मृताः।।
मिथुनाज्य पुरीषाख्यविद्या भ्यासशुचां क्रमात्।
रति भैषेज्ययोः सर्वधाम्नस्ते मध्यगाः गृहाः।।
अल्पत्वे वा भुवः शक्तेः स्नानादींश्च गृहात् बुधः।
शक्तेर्भुवो ऽनुसारेण प्रकुर्वीत यथा रुचिः।।
उलूखलाम्बुस्थानं च तथा तुल्यादिकम् तथा।
क्षालनं पितृपादानां गेहाद्दक्षिणतः शुभम्।।[२]

इस श्लोक में सभी गृहों के निर्माण भूमि की अल्पता और विस्तार में बनाने के लिये "शाक्तेर्भुवोऽनुसारेण" तथा "अल्पत्वे वा भुवः शक्तेः" एवम् "प्रकुर्वीत यथा रुचि" इत्यादि वाक्य वास्तुशास्त्रीय सुविधा और यथारुचि व्यवस्था कर संकेत देते हैं।। मुहूर्तचिन्तामणिकार श्री रामदैवज्ञ भी वही क्रम बताते हैं–

स्नानाग्निपाक शयना स्त्र भुजेश्च धान्य-
भाण्डार दैवत गृहाणि च पूर्वतः स्युः।।
तमध्यतस्तुमथनाज्य पुरीष विद्या-
भ्यासाख्यरोदन रतौषध सर्वधाम।।[३]

वास्तुमाणिक्य रत्नाकर ग्रन्थ में शयनागार आदि को अनेक प्रकार की चित्रकारी से सजाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है तथा देवागार से क्रम इस प्रकार है–

देवागारं सर्वधाम स्नानगेहम् तथैव च।
मन्थनस्य गृहं वहन्यागारं गेहं घृतस्य तु।।

शोभितं चित्रकारेण शयनस्य निकेतनम्।
पुरीषोत्सर्गसदनं शस्त्रस्य भवनं ततः।।

---

१. राजवल्लभमण्डन ५/३१
२. मुहूर्त गणपति वास्तु. ९९-१०१
३. मुहर्त्तचिन्तामणि, १२.२१

विद्याभ्यास गृहं चैव भोजनस्य निकेतनम्।
रोदनस्य गृहं धान्यभवनम् रतिमन्दिरम्।
भाण्डागारं त्वौषधीनां गेहं रोगहरं ततः।।[१]

बृहत्संहिता के अनुसार श्रीगृह, महानस, निद्रागृह आयुधाश्रय, भोजनशाला, धान्यगृह, द्रव्यस्थान और देवगृह में क्रमशः कक्ष की लम्बाई को चौड़ाई से गुणा कर आठ से भाग देने पर शेष १ होने पर ध्वज आय २ होने पर धूम, ३ होने पर सिंह, ४ होने पर श्वान, ५ होने पर वृष (गौ), ६ होने पर कपि, (खर) ७ होने पर गज, एव ८ छेद होने पर काक आय होती हैं। इनके अनुसार उपरोक्त कक्षों (भवनों) का निर्माण, द्वार और शुभाशुभत्व भी देखना चाहिए। इसके विषय में वास्तुग्रन्थों में लिखा है–

विस्तारेण हतं दैर्घ्यं विभजे दष्टभिस्ततः।
यच्छेषं स भवेदायो ध्वजाद्यास्तेस्युरष्टधाः।।[२]

द्वार विचार तथा कक्ष निर्माण के विषय में लिखा है–

सर्व द्वार इहध्वजो वरुदिग्द्वारं च हित्वा हरिः।
प्राग्द्वारो वृषभो गजो यम सुरेथा शाश्वमुखःस्याच्छुभः।।[३]

वराहमिहिर ने भी शास्त्रान्तर का वचन उल्लेख करते हुए कहा है–

श्री गृहे ऽत्र ध्वजः कार्यो घूमश्चैव महानसे।
सिंहो निद्रा गृहे कार्ये श्वा कुर्यादाषुधाश्रये।।

वृषो भोजनशालायाम् कपिर्धान्यगृहे सदा।
द्रव्यस्थाने सदा भद्रो रिक्तो देवगृहे तथा।।[४]

'पूर्वस्यां श्रीगृहं प्रोक्तम्' से प्रारम्भ कर इनका विचार अपेक्षित है। अन्त में गृहस्वामियों के लिये विशेष निर्देश क्रिया सम्पादन में शुद्धि की आवश्यकता को अपरिहार्य बताते हुए आचार्य वराहमिहिर वास्तुविद्याध्यास में कहते हैं–

सुखमिच्छन् ब्रह्माणं यत्नाद् रथेद् गृही गृहान्तः स्थम्।
उच्छिष्टाद्युप घाताद् गृहपतिरूपतप्यते तस्मिन्।।[५]

---

१. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर १५७-१५९
२. वास्तुसोख्य, टोडरानन्द
३. बृहद्वास्तुमाला श्लो. १५०
४. बृहत्संहिता
५. वही

भवन निर्माण में वास्तु एवं ज्योतिषशास्त्र

डॉ. मोहन गुप्त

अनवच्छिन्न चैतन्य जब दिक्काल से अवच्छिन्न होता है तो उसमें शुभाशुभत्व और हेय प्रेयस्त्व का आरोप होता है। जो शास्त्र दिशा और देश के शुभाशुभत्व या हेय प्रेयस्त्व का विचार करता है, वह वास्तुशास्त्र कहलाता है तथा जो शास्त्र काल के शुभाशुभत्व तथा हेय प्रेयस्त्व का विचार करता है, वह ज्योतिषशास्त्र कहलाता है। अनन्त अन्तरिक्ष में अनेक सूक्ष्म तत्व विद्यमान हैं। हमारे महर्षियों ने देवताओं, नक्षत्रों, राशियों तथा पिशाचादि के रूप में उनका संज्ञाकरण किया। ज्योतिषशास्त्र और वास्तुशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि मनुष्य अन्तरिक्ष के इन सूक्ष्म तत्वों के अनुरूप कार्य करे तथा जो प्रतिकूल तत्व हैं, उनके विमुख कार्य करे। वास्तुशास्त्र में भी चारदीवारी के अन्तर्गत जो अन्तरिक्ष आता है, उसके अभिमानी देवताओं, राशियों, नक्षत्रों की अनुकूलता भूखण्ड तथा गृहस्वामी से हो, इस बात का विचार किया गया है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर स्थल का चयन, भूखण्ड का चयन, भूखण्ड का दिशा–निर्धारण, भूखण्ड में विन्यास, द्वारों की स्थापना इत्यादि का निर्धारण किया जाता है।

आधुनिक शिल्प विज्ञान अन्तरिक्ष के स्थूल अथवा भौतिक तत्वों जैसे वायु तथा प्रकाश पर तो ध्यान देता है लेकिन उसके सूक्ष्म तत्वों पर विचार नहीं करता। वास्तुशास्त्र ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न होने के कारण इन सूक्ष्म तत्वों पर भी विचार करता है, अतः प्राचीन स्थापत्य विज्ञान आधुनिक शिल्प विज्ञान से अधिक पूर्ण है और गृहस्वामी एवं उसके परिवार की सुख–समृद्धि सुनिश्चित करता है।

वास्तुशास्त्र के मूल तत्व : एक नज़र में

अधोलिखित चित्र–१ में वास्तु विन्यास दिशा के स्वामी तथा उसके देवता की प्रकृति के अनुसार है। पूर्व का स्वामी सूर्य तथा देवता इन्द्र है। यही प्रभात में प्रकाश की किरणों के प्रवेश का स्थान है। चारों दिशाओं के देवता, भारतीय देवमण्डल के प्रमुख देवता ही हैं– इन्द्र, यम, वरूण, कुबेर। इसी प्रकार ग्रह भी सूर्य, मंगल, शनि तथा बुध हैं। आयादि की परिकल्पना में प्रत्येक दिशा में मुख होने का परिणाम बताया गया है –
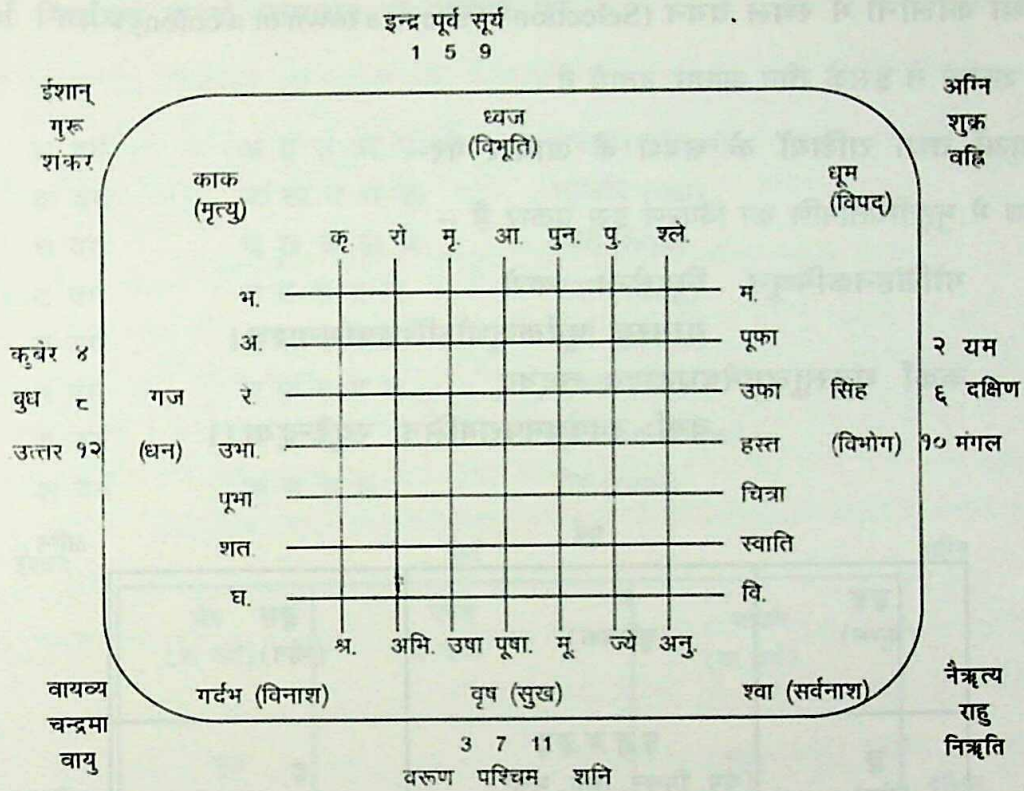
चित्र–१

इस चित्र में दिशाओं, उपदिशाओं में किन–किन देवताओं, राशियों और नक्षत्रों का वास है, यह एक नज़र में बताया गया है। चित्र को देखने से स्पष्ट होगा कि उत्तर–पूर्व की दिशायें तथा उनकी तीनों उप–दिशायें अर्थात् वायव्य (उत्तर–पश्चिम), ईशान (उत्तर–पूर्व) तथा आग्नेय (पूर्व–दक्षिण) में शुभ देवताओं तथा ग्रहों का निवास है। ये देवता क्रमशः चन्द्र, कुबेर, शंकर, इन्द्र तथा अग्नि हैं तथा ग्रह क्रमशः चन्द्रमा, बुध, गुरू, सूर्य तथा शुक्र हैं, जो सभी शुभ हैं। स्पष्ट है कि वास्तु से संबंधित किसी भी विचार में उत्तर और पूर्व दिशा को प्रमुखता देनी होगी। इसके विपरीत दक्षिण और पश्चिम दिशायें तथा उनका कोण नैऋत दक्षिण–पश्चिम अशुभ हैं। इनके देवता क्रमशः यम, निऋति तथा वरूण हैं एवं ग्रह मंगल, राहू तथा शनि हैं। ध्वज आदि जो आय समूह इस चित्र में हैं, उनके नाम से ही उनका शुभाशुभत्व स्पष्ट हो जाता है, जो यह संकेत देता है कि मुख्य दिशाओं में ही द्वार शुभ होते हैं, उपदिशाओं में नहीं। नक्षत्रों की स्थिति से संबंधित दिशा के नक्षत्र तथा उन नक्षत्रों के आधार पर उस दिशा के चन्द्रमा का भी निर्णय लिया जाता है, जिसका उपयोग गृह स्वामी की राशि से मेलापन में तथा वास्तु के द्वार निर्धारण में होता है।

नगर तथा कॉलोनी में स्थल चयन (Selection of site in a town or a colony)—

शास्त्रों ने इसके तीन आधार बतायें हैं :

१. दिशाओं तथा राशियों के संबंध के आधार पर–

इस संबंध में मुहूर्तचिंतामणि का विवरण इस प्रकार है –

गोसिंहनक्रमिथुनं निवसेन्न मध्ये
ग्रामस्य पूर्वककुभोऽलिझषांगनाश्च।
कर्को धनुस्तुलभमेषघटाश्च तद्वद्
वर्गाः स्वपंचमपराबलिनः स्युरैन्द्र्या।।

ईशान	पूर्व	अग्नि
ङ्क्ङ्क (कुम्भ)	ल्ल (वृश्चिक)	ङ्कछ्व (मीन)
ङ्क (मेष)	छ्व,ङ्ख,क्र,ङ्क्ङ्क्ष (वृष, मिथुन, सिंह, मकर) मध्य	द्व (कन्या)
द्ध (तुला)	ष्ट्व (धनु)	ङ्घ (कर्क)
वायव्य	पश्चिम	नैऋत्य

उत्तर — दक्षिण

चित्र–२

इसका आशय यह है कि वृषभ, सिंह, मकर तथा मिथुन राशि वाले व्यक्तियों को नगर या कॉलोनी के मध्य में स्थल चयन नहीं करना चाहिये। इसी प्रकार पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत्य, पश्चिम, वायव्य, उत्तर तथा ईशान दिशाओं में क्रमशः वृश्चिक, मीन, कन्या, कर्क, धनु, तुला, मेष तथा कुंभ राशियों के व्यक्तियों को स्थल चयन नहीं करना चाहिये। चित्र क्रमांक २ में यह बात स्पष्ट है। इस संबंध में राशि का निर्धारण व्यक्ति के जन्माङ्ग से ही होना चाहिये, न कि नाम से।

---

१. मुहुर्त्तचिन्तामणि १२/२

२. वर्ग निर्धारण करके नामाक्षर के आधार पर –

अ वर्ग	अ इ उ ऋ ए ओ	गरुड (falcon)
क वर्ग	क ख ग घ ङ.	मार्जार (cat)
च वर्ग	च छ ज झ ञ	सिंह (lion)
ट वर्ग	ट ठ ड ट ण	श्वान (dog)
त वर्ग	त थ द ध न	सर्प (snake)
प वर्ग	प फ ब भ म	मूषक (rat)
य वर्ग	य र ल व	मृग (antelope)
श वर्ग	श ष स ह	मेष (ram)

ईशान	पूर्व	अग्नि
मेष (श वर्ग)	गरुड़ (अ वर्ग)	मार्जार (क वर्ग)
उत्तर — मृग (य वर्ग)		सिंह (च वर्ग) — दक्षिण
मूषक (प वर्ग)	सर्प (त वर्ग)	श्वान (ट वर्ग)
वायव्य	पश्चिम	नैऋत्य

नामाक्षर के अनुसार जिस व्यक्ति का जो वर्ग आता हो, वह उसकी दिशा है तथा उससे पंचम दिशा उसके शत्रु की दिशा होती है। अतः अपने से पंचम वर्ग की दिशा में स्थल चयन नहीं करना चाहिये। उदाहरण के लिये यदि किसी का नाम मयंक है, तो उसका नाम 'प' वर्ग होने के कारण उसकी दिशा वायव्य या उत्तर–पश्चिम है, इससे पंचम दिशा दक्षिण–पूर्व है, जो 'क' वर्ग में आती है तथा जिसका प्रतिनिधि मार्जार या बिल्ली है। चूंकि मूषक और बिल्ली का वैर होता है इसलिये इन प्राणियों के संबंध के आधार पर दिशाओं का संबंध बताया गया है। मयंक को कॉलोनी के या शहर के दक्षिण–पूर्व दिशा में स्थल चयन नहीं करना चाहिये। मोटे तौर पर अपने से विपरीत दिशा में चयन नहीं होना चाहिये, जैसा कि चित्र से स्पष्ट है।

३. गृहस्वामी तथा नगर के नाम राशि के आधार पर–

वास्तुमाणिक्य रत्नाकर तथा मुहूर्तचिंतामणि का निर्देश इस संबंध में इस प्रकार है –

यदा त्वेक भे सप्तमे चैव ग्रामे तदा वैरमाहुः त्रिषष्ठे च हानिः।
चतुर्थाष्टरिष्फे भवेद् रोगमृत्युः शुभं शेषमावे भवेद् भूमिदेवाः।।[1]

यद्भं द्वयंकसुतेशदिङ्.मितमसौ ग्रामः शुभो ग्रामभात्।[2]

आशय स्पष्ट है कि अपनी राशि से नगर या कॉलोनी के नाम की राशि द्वितीय, दशम, एकादश, पंचम तथा नवम होनी चाहिये। अन्य राशियों में इसे अशुभ माना गया है। शास्त्र यह कहता है कि अगर गृह स्वामी और कॉलोनी की राशि एक है अथवा सप्तम है तो विरोध होता है, तृतीय और षष्ठ होने पर हानि होती है तथा चार, आठ या बारह होने पर रोग या मृत्यु का कारण बनती है, अतः शेष भावों में ही स्थल का चयन किया जाना चाहिये।

इऩ तीन आधारों में से वास्तुविद् को अपने अनुभव के आधार पर किसी एक या दो आधारों को चुनना चाहिये। मेरे मत से आज के संदर्भ में तीसरा आधार बहुत संगत नहीं है। पहले और दूसरे के बीच में अनुभव ही प्रमाण है।

भूखण्ड का चयन (Selection of plot)—

दिशा–निर्धारण के बाद भूखण्ड का चयन बहुत महत्वपूर्ण है। इस संबंध में वास्तुशास्त्र में कुछ व्यावहारिक बातें बताई गई हैं, जिन पर ध्यान दिया जाना चाहिये –

१. स्थल दृढ़ हो, कच्ची मिट्‌टी न हो।

२. भूखण्ड का इतिहास अमंगलप्रद या अवांछनीय न हो जैसे वह कब्र की भूमि न हो, कोई अपराध स्थल न हो, कोई वध–स्थान या कसाई का स्थान इत्यादि न हो–

३. कुआ, बावड़ी, नाला आदि को भरकर प्लाट न बनाया गया हो।

४. ढलान उत्तर–पूर्व की ओर हो।

५. जल–स्तर बहुत ऊपर न हो।

६. सार्वजनिक स्थान, मंदिर, मस्जिद, स्कूल आदि के बहुत समीप न हो।

७. भूखण्ड के सामने बीच से कोई सड़क न काटती हो।

---

१. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर श्लोक ६,

२. मुहूर्त चिन्तामणि, १२:१

८. बहुभुज तथा विषम आकार के भूखण्ड त्याज्य हैं।

९. भूखण्ड आकार में वर्ग (square), आयत (rectangular), समलम्ब चतुर्भुज (trapezium) तथा समानान्तर चतुर्भुज (parallelogram) होना चाहिये। समानान्तर चतुर्भुज में यह ख्याल रखा जाना चाहिये कि पूर्वोत्तर से दक्षिण–पश्चिम को मिलाने वाला कर्ण दूसरे कर्ण की अपेक्षा बड़ा हो।

सड़क के संदर्भ में भूखण्ड का वर्गीकरण –

१. यद्यपि प्लाट के चारों ओर सड़क होना प्रशस्त बताया गया है किंतु आजकल प्लाट के चारों ओर सड़क की कल्पना नहीं की जा सकती जब तक किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण व्यक्ति का बंगला न हो।

२. दो ओर सड़क होने पर उत्तर में तथा पूर्व में या उत्तर में और पश्चिम में सड़क होना वांछनीय है।

३. पूर्व तथा पश्चिम में सड़क होने पर पूर्व की ओर ढलान होना चाहिये।

४. उत्तर तथा दक्षिण में सड़क होने पर ढलान उत्तर की ओर होना चाहिये।

५. एक ओर सड़क होने पर केवल यह ध्यान रखना चाहिये कि ढलान उत्तर तथा पूर्व की ओर हो तथा दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में ऊँचा स्थल या ऊँची इमारतें हों।

दिशा निर्धारण–

> **समे शंकुं निरवाय शंकुसम्मितया रज्ज्वा मण्डलं परिलिख्य।**
> **यत्र लेखयोः शंक्वग्रच्छाया निपतति तत्र शंकुं निहन्ति सा प्राची।।'**

भारतीय परम्परा के अनुसार किसी भी निर्माण में चाहे वह यज्ञ मण्डप का निर्माण हो या भवन निर्माण हो, प्राची दिशा का निर्धारण बहुत आवश्यक होता है। उचित दिशायें तथा सही माप भारतीय वास्तुशास्त्र के मूल सिद्धान्त हैं। अतः वास्तु शास्त्र में भी स्थल पर पूर्वादि दिशाओं का निर्धारण बहुत आवश्यक है। आजकल कम्पास आदि अनेक यंत्र उपलब्ध हैं, किंतु बिना यंत्रों की सहायता के दिशा का निर्धारण किस प्रकार किया जा सकता है, यह कात्यायन शुल्व सूत्र के उक्त सूत्र में बताया गया है।

किसी समतल स्थान पर १२ अंगुल का शंकु स्थापित करें तथा उसके बराबर की एक रस्सी लेकर शंकु के चारों ओर एक वृत्त बनायें। पूर्वाह्न और अपराह्न में शंकु के अग्र की छाया

---

१. का.शु.सू. I.२

वृत्त के जिन दो बिन्दुओं पर पड़े, उनको मिला दें। यही पूर्व–पश्चिम रेखा है। इसे शंकु के समानान्तर खीचने पर शंकु मूल से पूर्व–पश्चिम रेखा बन जाती है। कोई एक रस्सी लेकर जिसकी लम्बाई पूर्व–पश्चिम बिन्दुओं को जोड़ने वाली रेखा से अधिक हो, उसे बीच में पकड़कर एक ओर तान दें। इस प्रकार उत्तर का कोना निर्धारित हो जाता है, दक्षिण का कोना यंत्र मूल ही होता है।

सड़क तथा प्लाट की दिशा विषम होने पर–

अनेक स्थानों पर यह पाया जाता है कि कॉलोनी के विन्यास दिशाओं के अनुरूप नहीं होते तथा सड़कें एवं गलियाँ पूर्व–पश्चिम या उत्तर–दक्षिण की ओर न जाते हुए कुछ टेढ़ी जाती हैं, जिसके कारण भवन भी सडकों के समानान्तर होने के कारण टेढ़े हो जाते हैं। ऐसी स्थितियों में भवन का विन्यास किस प्रकार किया जाय इसके संबंध में कुछ नियम वास्तुशास्त्र में दिये हुए हैं। इस प्रकार के भूखण्डों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है – (दिशा की रेखा से सड़क की रेखा की ओर देखें)

१. उत्तम – जहां विषमता या टेढ़ापन उत्तर–	पूर्व के पूर्व ENE में हो (चित्र ii) उत्तर–पश्चिम का उत्तर NNW में हो (चित्र iv) उत्तर–पूर्व का उत्तर NNE में हो (चित्र vi)
२. मध्यम – जहां विषमता या टेढ़ापन दक्षिण–	पूर्व के पूर्व ESE में हो (चित्र i) उत्तर–पश्चिम का उत्तर NNW में हो (चित्र v)
३. त्याज्य – जहां विषमता या टेढ़ापन दक्षिण–	पूर्व के दक्षिण SSE में हो (चित्र iii) दक्षिण–पश्चिम का दक्षिण SSW में हो (चित्र vii) दक्षिण–पश्चिम का पश्चिम WSW में हो (चित्र viii)
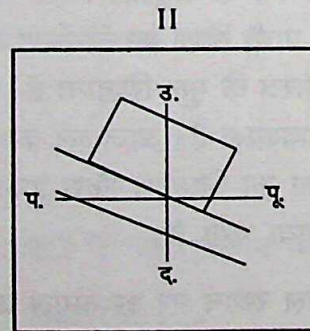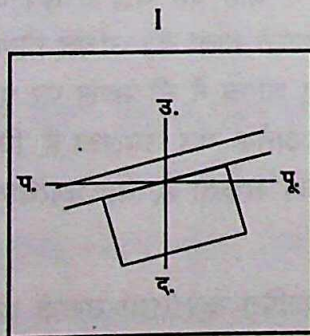
I
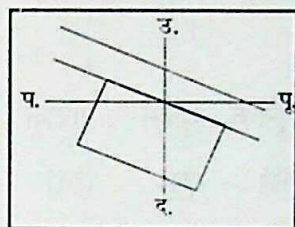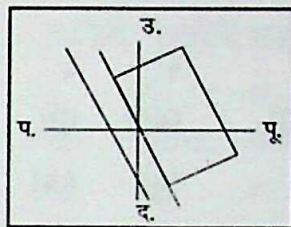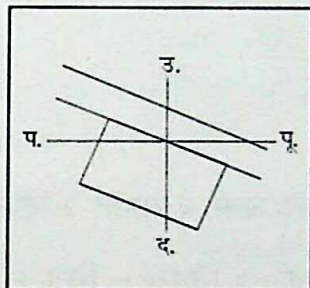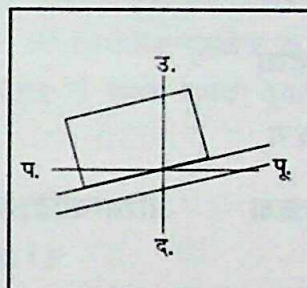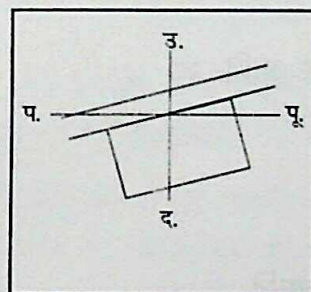
II
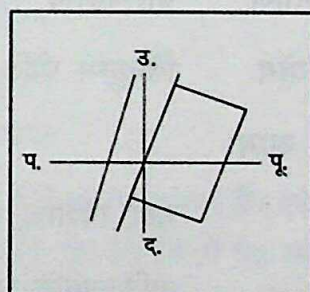
भूखण्ड के क्षेत्रफल का निर्धारण

इसके लिए आयादि मेलापन की विधि का अनुसरण किया जाता है। आयादि मेलापन वास्तुशास्त्र का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है और यह विवाह के लिए ठीक वर–वधू के गुणवर्ग मिलान जैसा ही है तथा गुण मेलापन के वे ही तत्व हैं, जो वर–वधू के मेलापन में होते हैं अर्थात् वर्ण, वश्य, तारा, योनि ग्रहमैत्री, गणमैत्री, भकूट तथा नाड़ी। इसमें अन्तर केवल इतना ही है कि जहां वर–वधू के मेलापन में वर–वधू की अलग नाड़ी ली जाती है, वहां वास्तु के क्षेत्र में गृहस्वामी तथा भूखण्ड की नाड़ी एक ही प्रशस्त मानी गई है।

आयादि चक्र[1]

गुणक	भाजक	१	२	३	४	५	६	७	८
६	(८) आय[2]	ध्वज	धूम्र	सिंह	शुनक	वृषभ	रासक्ष	गज	काक
		(पू)	(अ)	(द)	(नै)	(प)	(वा)	(उ)	(ई)
६	(७) वार	रविवार आदि सात							
६	(६) अंश	(इन्द्र, यम, राजा)							
८	(१२) द्रव्य								
३	(७) ऋण								
८	(२७) ऋक्ष	अश्विन्यादि २७ (तारा – १ ज़न्म, २ सम्पत्, ३ विपत्, ४ क्षेम, ५ प्रत्यरि, ६ साधक, ७ निधन ८ मित्र ६ अतिमित्र)							
८	(१५) तिथि	प्रतिपदादि १५							
४	(२७) योग	विष्कुम्भ प्रीति आयुष्यान आदि २७							
८	(१२०) आयु								
	व्यय	यक्ष, पिशाच, राक्षस							
	चन्द्र	अश्विन्यादि त्रयं मेष इत्यादि							

---

१. आयर्क्ष व्यय तारकांशक विधून, राशिं ग्रहाद्यं तथा
धान्यं सौख्य यशोभिवृद्धिरधिका यस्मादतः कथ्यते
आयास्तु ध्वजधूम सिंह शुनका गोरासभेभाः क्रमात्
ध्रुवधान्यौ जयनन्दौ खरकान्तमनोरमं सुमुखदुर्मुखोग्रंच
राजवल्लभ मण्डन : श्री सूत्रधार मण्डन विरचितः सम्पा. डॉ. शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी, २००१, पृ.३७, अध्याय ३, श्लोक १

२. ध्वजो धूम्रो हरिः श्वा गौः खरेभौ वायसोऽष्टमः
पूर्वादि दिक्षु चाष्टानां ध्वजादीनामपि स्थितिः
विश्वकर्मप्रकाश, सम्पा. मातृप्रसाद पाण्डेय, सं.२०४४, पृ.२५, अध्याय–२, श्लोक ५२

मेलापन	१	२	३	४	५	६	७	८
	वर्ण	वश्य	तारा	योनि	ग्रहमैत्री	गणमैत्री	भकूट	नाडी[1]
गृहवर्ग	१	२	३	४	५	६	७	८
	ध्रुव	धान्य	जय	नन्द	खर	कान्त	मनोरम	सुमुख
	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६
	दुर्मुख	उग्र	रिपुद	वितद	नाश	आक्रन्द	विपुल	विजय[2]

उपर्युक्त चक्रों से संबंधित जो श्लोक विश्वकर्म प्रकाश, राजवल्लभमण्डन तथा मुहूर्त चिन्तामणि में हैं वे मैंने सन्दर्भ–सूची में दे दिये हैं। इन सबका आनयन प्रकार भी मैं संक्षेप में दे रहा हूँ। मुख्य बात यह है कि आय, व्यय, आयु आदि को छोड़कर गृहक्षेत्र के नक्षत्र तथा चन्द्रमा का मिलान ठीक उसी तरह किया जाता है जैसे विवाह के समय युवक युवती का। इस सन्दर्भ में विश्वकर्मा प्रकाश में लिखा है –

राशिकूटादिकं सर्वम् दम्पत्योरिव चिन्तयेत्।
नैः स्वं द्विर्द्वादशे नूनं त्रिकोणे ह्यनपत्यता।।[3]

विपत्प्रदा विपत्तातारा प्रत्यरिः प्रतिकूलदा।
निधनाख्या तु या तारा सर्वथा निधनप्रदा।।[4]

वैधृतिः सर्वनाशाय नक्षत्रैक्ये तथैव च।
नाडी वेधो न शुभदस्तारा रोग भय प्रदा।।[5]

गृह क्षेत्र से मेलापन तथा लड़के लड़की से मेलापन में केवल दो अन्तर हैं। एक तो विवाह मेलापन में चरण भेद से एक ही नक्षत्र ग्राह्य हो जाता है जबकि गृह निर्माण में वह सर्वथा त्याज्य है। दूसरे विवाह के निमित्त मेलापन में भिन्न नाड़ी प्रशस्त होती है जबकि गृह–निर्माण में भिन्न

---

१. वर्णो वश्यं तथा तारा योनिश्च गृह मैत्रकम्।
गणमैत्रं भकूट च नाडी चैते गुणाधिकाः।।
तदेव पृ.११६, अध्याय ६ (विवाह प्रक.) श्लाक २१

२. ध्रुवधान्यौ जयनन्दौ खरकान्तमनोरमं सुमुखदुर्मुखोग्र च।
रिपुदं वित्तदं नाशं चाक्रन्दं विपुल विजयाख्यं स्यात्।।
– मुहूर्त चिन्तामणिः सम्पा. विन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी, चौखम्बा वाराणसी, १९९०, अध्याय १२ (वास्तु प्रकरण) श्लोक १०, पृ.२०५

३. विश्वकर्माप्रकाश, २.७७

४. वही, (२/८०.८१)

५. वही, (२/८४.८५)

नाडी अच्छी नहीं मानी जाती। एक ही नाड़ी प्रशस्त होती है।[१] गृह निर्माण के संदर्भ में नक्षत्र से चन्द्रानयन की पद्धति भी भिन्न है और केवल ऐसा नहीं है कि वास्तु शास्त्र के आचार्यों ने ही ऐसा स्वीकार किया हो। अपितु स्वयं सूत्रधार स्थपतियों ने भी इसे स्वीकार किया है। विश्वकर्मप्रकाशकार ने तथा सूत्रधारमण्डनकार दोनों ने ही नक्षत्रों से राशि लाने की उस विधि को स्वीकार किया है जो वेदकाल में थी तथा जिसके आधार पर नक्षत्र राशियों का वास्तविक सम्बन्ध आकाश में दिखाई देता है। इस विधि में वे नक्षत्रों के पाद नहीं बनाते अपितु पूर्ण नक्षत्रों के आधार पर राशियों से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। यह पद्धति वेदांग ज्योतिषकाल में थी –

अश्विन्यादित्रयं मेषे सिंहे प्रोक्तं मघात्रयम्
मूलादित्रितयं चापे शेषराशिद्विके द्विके।।[२]

मेषोऽश्वित्रितये हरिस्तु पितृभाच्चापत्रयेमूलतः
शेषे स्युर्नवराशयोऽपरमते नन्दांशकैस्ते पृथक।।[३]

अश्विनी भरणी कृतिका	=	मेष
रोहिणी मृग	=	वृष
आर्द्रा पुनर्वसु	=	मिथुन
पुष्य, आश्लेषा	=	कर्क
मघा, पूफा. उफा.	=	सिंह
हस्त, चित्रा	=	कन्या
स्वाति, विशाखा	=	तुला
अनुराधा.ज्येष्ठा	=	वृश्चिक
मूल, पू.षा. उ.षा.	=	धनु
श्रवण, धनिष्ठा	=	मकर
शतभिषा, पू.भा	=	कुम्भ
उ.भा. रेवती	=	मीन

संक्षेप में आयादि का आनयन इस प्रकार है –

(i) आयादि – मान लो क्षेत्र का विस्तार ३५ हाथ तथा दैर्ध्य (लम्बाई) = ४०.७१४ हाथ[४] (४० हाथ १७ अंगुल ५ यव), अतः क्षेत्रफल = १४२५ वर्ग हस्त हुआ। इस पिण्ड में

१. यथादम्पती राशिवर्णादिचिन्त्यम् तथागारगेहेशयोर्वैविचारम्।
परन्त्वत्र नाडी विलोमा प्रशस्ता सुधीभिर्विचार्याधराधीश पूज्याः।।
वास्तु माणिक्य रत्नाकरः ७२ सम्पा. पं. रामतेज पाण्डेय, बाबू बैजनाथ प्रसाद, वाराणसी, सं. २०४०, पृ.२१

२. विश्वकर्मप्रकाश, (२/७७)

३. राजवल्लभ मण्डन (३/१२)

४. मुहूर्त चिन्तामणि (ऊपर उदधृत) पृ.२०२/२०३ श्लोक (१२.३/४)

आयादि के गुणांकों (जो उनके पास लिखे हैं) से गुणाकर तथा आयादि की संख्या से भाग देकर जो शेष बचे वे ही क्रमशः आयादि ९ तत्व होते हैं।[1]

१.	आय	=	१४२५ x ९ / ८	=	१६०३ शेष १ = ध्वज आय
२.	वार	=	१४२५ x ९ / ७	=	१८३२ शेष १ = रविवार
३.	अंश	=	१४२५ x ६ / ९	=	९५० शेष ९ अंश (पूरा कटा) (राजा)
४.	द्रव्य	=	१४२५ x ८ / १२	=	९५० पूरा कटा अतः शेष १२
५.	ऋण	=	१४२५ x ३ / ७	=	५३४ शेष ३ ऋण
६.	ऋक्ष	=	१४२५ x ८ / २७	=	४२२ शेष ६ = आर्द्रा नक्षत्र
७.	तिथि	=	१४२५ x ८ / १५	=	७६० (पूरा कटा) १५ तिथि (पूर्णा)
८.	योग	=	१४२५ x ४ / २७	=	२११ शेष ३ आयुष्मान योग
९.	आयु	=	१४२५ x ८ / १२०	=	९५ (पूरा कटा) पूर्णायु १२० वर्ष

(ii) **इस पद्धति की एक विशेषता यह है कि वांछित नक्षत्र तथा वांछित आय को ध्यान में रखकर इष्ट क्षेत्र फल निकाला जा सकता है फिर आपके भूखण्ड की जो चौड़ाई या लम्बाई जो अपरिवर्तनीय है उससे भाग देकर भूखण्ड की दूसरी भुजा (लम्बाई या चौड़ाई निकाली जा सकती है) उससे उक्त सभी तत्व तथा गुण–मिलान सिद्ध हो जाते हैं।**

पिण्डानयन – **व्यक्ति अपने नाम नक्षत्र के अनुसार शुभ नक्षत्र का पहिले निर्धारण कर सकता है तथा गुण मेलापक कोष्ठक से उस नक्षत्र के कितने गुण मिलते हैं यह भी देख सकता है। शुभ आय भी पहिले से तय कर सकता है। उसके आधार पर गृह का क्षेत्रफल निर्धारित किया**

---

१. पिण्डे नवांकागगजाग्निनागनागाब्धिनागैर्गुणिते क्रमेण।
विभाजिते नागनगांकसूर्यनागर्क्षतिथ्यृक्ष ख भानुभिश्च।।
आयो वारोंशको द्रव्यमृणमृक्षं तिथिर्युतिः।
आयुश्चाथगृहेशर्क्षगृहभैक्यं मतिप्रदम्।। (मु०चि० १२/११–१२)

जा सकता है। यह एक महत्वपूर्ण विपरीत प्रक्रिया है। इससे सभी आयादि नौ साधन अपने आप सध जाते हैं। यह अपनी अपेक्षा से लड़का लड़की के चयन जैसा क्षेत्रफल का चयन है।

शुभ[1] नक्षत्र– आर्द्रा से पू.फा. = ६ + शत. पूभा.उभा. = ६।

मध्यम नक्षत्र– कृत्तिका, रो. मृ. तथा उ.फा. से पूषा. रे.अ.भ. = १५।

नेष्ट नक्षत्र – उत्तराषाढा, श्रवण धनिष्ठा = ३।

गृहस्वामी के नक्षत्र से तीसरा (विपत्), पाँचवा (प्रत्यरि) तथा सातवाँ (निधन) नहीं होना चाहिये। इसी प्रकार श्रेष्ठ आय का भी विचार कर लें अपने भूखण्ड का संभावित मुख देखकर।

पिण्डसाधन विधि –

इष्ट नक्षत्र की संख्या में से १ घटाकर शेष को १५२ से गुणा करें तथा इष्ट आय की संख्या में से १ घटाकर ८१ से गुणा करें। दोनों गुणनफलों के योग में १७ जोड़कर २१६ से विभाजित करें। जो शेष बचे वही इष्ट नक्षत्र ओर इष्टाय से उत्पन्न पिण्ड (क्षेत्रफल) होता है। पिण्ड में लम्बाई या चौड़ाई का भाग देने पर दूसरी भुजा आ जाती है। पिण्ड में ८ का भाग देने से शेष आय का नाम क्रमशः १ ध्वज, २ धूम आदि होते हैं।[2] पिण्ड में २१६ या उसका गुणक जोड़कर बड़ा क्षेत्रफल निकाल सकते हैं।

$$\text{वांछित पिण्ड} = \frac{(\text{नक्षत्र संख्या} - १)\ १५२ + (\text{आय}-१)\ ८१ + १७}{२१६}$$

उदाहरण – मान लीजिए ग्रहस्वामी का नक्षत्र रोहिणी है और उसके भवन का मुख्य द्वार दक्षिण में होने से आय गज है। अब हमें वर्ग हस्त में क्षेत्रफल निकालना है। हम एक स्टेण्डर्ड प्लाट एरिया ३० फुट x ५१ फुट या २० हस्त x ३४ हस्त = ६८० वर्ग हस्त का लेते हैं।

गुण मेलापन चक्र के अनुसार रोहिणी नक्षत्र के लिये निम्नलिखित नक्षत्रों में अधिक गुण मिलते हैं। स्वाति २४.५ गुण, श्रवण २५ गुण, पूर्वाभाद्रा २७ गुण, उत्तराभाद्रा १६.५ गुण। इनमें से स्वाति, रोहिणी से विपत्तारा है, अतः स्वीकरणीय नहीं है। श्रवण भूखण्ड के लिए सर्वथा त्याज्य है। अतः पूर्वाभाद्रा शेष रहता है, जो रोहिणी नक्षत्र से क्षेमतारा है, अतः उत्तम है। इस प्रकार पूर्वाभाद्रा नक्षत्र और गज आय स्थिर हुई। पूर्वाभाद्रा पच्चीसवाँ नक्षत्र है तथा गज सातवीं आय है। अतः सूत्र का प्रयोग करने पर–

---

१. मुहूर्त चिन्तामणि (ऊपर उदधृत) पृ.२०२

२. विश्वकर्मप्रकाश, (२/५१.५२) पृ.२५

$$\frac{(२५-१)\ १५२ + (7-1)\ ८१ + १७}{२१६}$$

$$\frac{३६४८ + ४८६ + १७}{२१६} = \frac{४१५१}{२१६} = १६ \quad \text{शेष } ४७$$

यदि हम २१६ का तीन गुना करके अर्थात् ६४८ में ४७ जोड़ते हैं तो ६६५ वर्ग हस्त हमारा क्षेत्रफल आता है या २१६ का दूना अर्थात् ४३२ में ४७ जोड़कर ४७६ वर्ग हस्त हमारा क्षेत्रफल आता है, जो लगभग १०७७.७५ वर्ग फीट के होता है। अब इसके आधार पर विपरीत क्रम से हम आयादि निकाल सकते हैं, जो अपेक्षित ही होंगी अर्थात् वही पूर्वाभाद्रा नक्षत्र निकलेगा तथा गज आय होगी। अन्य तत्व भी अनुकूल होंगे।

$$\text{आय} = \frac{४७६ \times ६}{८} = \frac{४३११}{६} = ५३८ \quad \text{शेष} = ७ \text{ त्र गज}$$

$$\text{ऋक्ष} = \frac{४७६ \times ८}{२७} = \frac{३८२२}{२७} = १४१ \quad \text{शेष} = २५ = \text{पूर्वाभाद्रा}$$

$$\text{द्रव्य} = \frac{४७६ \times ८}{१२} = \frac{३८३२}{१२} = ३१६ \quad \text{शेष} = ४$$

$$\text{ऋण} = \frac{४७६ \times ३}{८} = \frac{१४३७}{८} = १७६ \quad \text{शेष} = ५$$

$$\text{आयु} = \frac{४७६ \times ८}{१२०} = \frac{३८२२}{१२०} = ३१ \quad \text{शेष} = ११२ \text{ वर्ष}$$

$$\text{व्यय} = \frac{\text{नक्षत्र}}{८} = \frac{२५}{८} = ३ \quad \text{शेष} = १ \text{ आय या द्रव्य से कम है}$$

जहां तक आय और मुख्य द्वारों का प्रश्न है, ध्वंज आय सभी दिशाओं के लिए शुभ है, सिंह आय पूर्व, दक्षिण और उत्तर के लिए शुभ है, वृष पश्चिम की ओर शुभ है तथा गज आय पूर्व तथा दक्षिण की ओर शुभ है।

(iii) व्यय – नक्षत्र की संख्या में ८ का भाग देने से जो शेष बचे वही व्यय होता है।

नक्षत्रे वसुभिर्व्ययो विभजिते हीनस्तु लक्ष्मीप्रदः।
तुल्यायश्च पिशाचको ध्वजमृते संवर्धितो राक्षसः।।[1]

(iv) अंश – गृह के क्षेत्रफल में व्यय तथा ध्रुवादि गृह के नामाक्षर संख्या जोड़कर ३ का भाग देने से अंश का ज्ञान होता है। शेष यदि १ हो तो इन्द्र, २ हो तो यम तथा ३ हो तो राजा संज्ञक अंश होता है।[2]

(v) ध्रुवादि आनयन – पूर्व में गृह द्वार – शाला ध्रुवांक १
दक्षिण में द्वार – शाला ध्रुवांक २
पश्चिम में द्वार – शाला ध्रुवांक ४
उत्तर में द्वार – शाला ध्रुवांक ८

जिस–जिस दिशा में द्वार बनाना हो उस उस दिशा में शाला ध्रुवांकों के योग में १ जोड़ देने से जो अंक हो वही ध्रुवादि नाम उस गृह का होता है।[3] जैसे पूर्व + पश्चिम + उत्तर द्वार = १ + ४ + ८ = १३ + १ = १४ आक्रन्द गृह हुआ।

(vi) राशि (चन्द्र स्थिति)–

धिष्ण्यानीह च सप्तशः क्रमतया वहनेस्तु पूर्वादितः।
सृष्ट्या तानि भवन्ति यत्र गृहभं तत्रैव चन्द्रो भवेत्।।
हानि पृष्ठगतः करोति पुरतस्त्वायुः क्षतिं चन्द्रमाः।
पार्श्वे दक्षिणवामके शुभ करोऽग्र भूपदेवालयोः।।[4]

प्रथमतः कृत्तिकादि नक्षत्र ७–७ बार लिखना चाहिये। इस प्रकार पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में ७–७ नक्षत्र होंगे। गृह का नक्षत्र जिस भाग में पड़े, चन्द्रमा की स्थिति उसी नक्षत्र पर कही जाती है।

विन्यास–

ग्रह तथा राशियों के गुणधर्मों को ध्यान में रखकर वास्तुशास्त्र ने गृह निर्माण में विभिन्न भवनों का विन्यास किया है[5] यथा–

ईशान्यां देवतागेहं पूर्वस्यां स्नानमन्दिरम्।
आग्नेय्यां पाकसदनं दक्षिणे शयनं गृहम्।।

---

१. राजवल्लभ मण्डन (३/८) पृ.४०
२. वही, (III.६) पृ.४१
३. मुहूर्त चिन्तामणि, (१२/८, ६) पृ.२०५
४. राजवल्लभ मण्डन (३/११) पृ.४१–४२
५. विश्वकर्मप्रकाश : २ : ६४ – ६८

राक्षसे शस्त्र सदनं वारूण्यां भोजनालयम्।
वायव्ये धान्यगेहं तु भाण्डारागारमुत्तरे।।

आग्नेयपूर्वयोर्मध्ये दधिमन्थन मन्दिरम्।
अग्नि प्रेतेशयोर्मध्ये आज्यगेहं प्रशस्यते।।

याम्य नैऋत्ययोर्मध्ये पुरीषत्यागमन्दिरम्।
नैऋत्याम्बुपयोर्मध्ये विद्याभ्यासस्य मन्दिरम्।।

पश्चिमानिलयोर्मध्ये रोदनार्थ गृहं स्मृतम्।
वायव्योत्तरयोर्मध्ये रतिगेहं प्रशस्यते।।

उत्तरेशानयोर्मध्ये औषधार्थं तु कारयेत्।
नैऋत्यां सूतिकागेहं नृपाणां भूतिमिच्छताम्।।

वायव्य (वेस्ट-नार्थ)
उत्तर
कुआँ
ईशान (नार्थ-ईस्ट)

धान्य भण्डार	शयनागार (रतिगेह)	शृंगार कक्ष	औषधि
गोष्ठ (गैरेज)		द्रव्यालय	पूजा स्थल
स्नानघर	प्रवेश-पथ		
भोजन कक्ष (डाइनिंग-स्पेस)	चौक या ड्राईंग-हॉल		
बच्चों का कमरा			स्नानघर
अध्ययन कक्ष ग्रन्थालय	बेडरूम शयन-कक्ष	भंडार घर	दधिमन्थ रसोईघर
शस्त्रागार / W.C.			घृतसीर

मुख्य द्वार पूर्व
पश्चिम
नैऋत्य (साउथ-वेस्ट)
दक्षिण
आग्नेय (साउथ-ईस्ट)
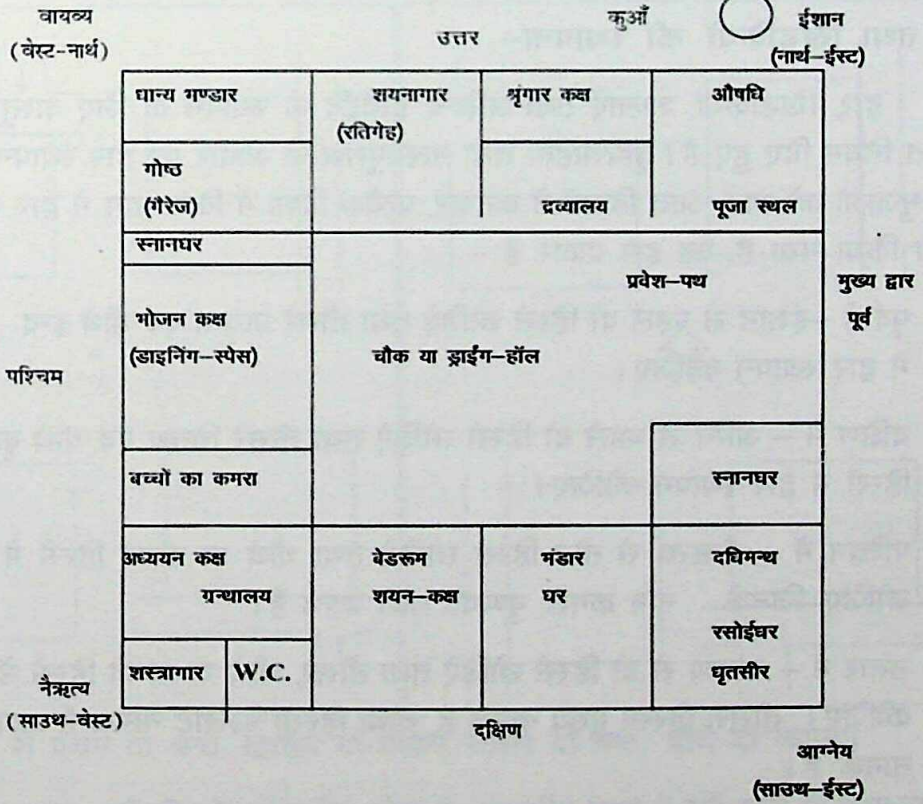
नोट : नैऋत्य में गृहस्योपस्करम् सर्वम् (मत्स्यपुराण), शस्त्रागार (वास्तुतत्व, कामिकागम, विश्वकर्मप्रकाश), ग्रन्थालय (शास्त्र मन्दिर) (वास्तुप्रबन्ध), स्नानागार (मत्स्यपुराण) के अनुसार प्रशस्त कहे गये हैं।

आग्नेय कोण शुक्र का है तथा देवता अग्नि है, अतः यहां पाकशाला उचित ही है। यहीं दधिमन्थन तथा घृत रखने का स्थान है। शुक्र स्त्री ग्रह है अतः यह क्षेत्र पत्नी के अधिकार का क्षेत्र है। दक्षिण मंगल की दिशा है यह सौमंगल्य का प्रतीक है। साथ ही पुरूष को पौरूष प्रदान करने वाला रजः प्रधान ग्रह है। अतः इस दिशा में शयनागार उचित ही है। उसके पास ही नैऋत्य में शौचालय अत्यन्त उपयुक्त है तथा नैऋत्य पश्चिम दिशा में ग्रन्थालय अध्ययन कक्ष शयनागार के समीप है। शनि एक नैयायिक दार्शनिक ग्रह है अतः अध्ययन के लिये उपयुक्त है। यह (पश्चिम) वरूण की दिशा है, अतः इधर जल–स्थल कूप इत्यादि रहना उचित है। वायव्य का स्वामी चन्द्रमा है तथा उतर का बुध। कुबेर उसका देवता है, अतः इस तरह रतिगृह (चन्द्रमा मन का कारक है अतः मनोभाव से उसका सीधा सम्बन्ध है, वह धन एवं सौन्दर्य का कारक है) श्रृंगार कक्ष, द्रव्यालय, गोष्ठ तथा भण्डार गृह हैं। ईशान भगवान् शंकर तथा देवगुरू बृहस्पति की दिशा है, अतः इधर पूजा घर, ध्यान, औषधि गृह इत्यादि रखे गये हैं। इस प्रकार ज्योतिर्विज्ञान के ग्रहों के कारकत्व को ध्यान में रखकर पद विन्यास किया गया है।

द्वार तथा खिड़कियों की स्थापना–

द्वार, खिड़कियां, शालाऐं तथा अलिन्द इत्यादि के स्थापन के लिए वास्तुशास्त्र में बड़े विस्तृत नियम दिए हुए हैं। वृहत्संहिता तथा मत्स्यपुराण के आधार पर द्वार स्थापन के सिद्धान्त चारों भुजाओं को आठ–आठ हिस्सों में बांटकर, प्रत्येक दिशा में किस भाग में द्वार रहेगा, इसका निर्णय किया गया है, वह इस प्रकार है –

१. पूर्व में –ईशान से पहले दो हिस्से छोड़िऐ तथा तीसरे जयन्त एवं चौथे इन्द्र नामक हिस्से में द्वार स्थापन कीजिए।

२. दक्षिण में – अग्नि से पहले दो हिस्से छोड़िऐ तथा तीसरे चितथ एवं चौथे बृहत्क्षत नामक हिस्से में द्वार स्थापन कीजिए।

३. पश्चिम में – नैऋत्य से तीन हिस्से छोड़िऐ तथा चौथे या पांचवे हिस्से में द्वार स्थापन कीजिए, जिनके नाम क्रमशः पुष्पदंत तथा वरुण हैं।

४. उत्तर में – वायव्य से दो हिस्से छोड़िऐ तथा तीसरे, चौथे या पांचवे हिस्से में द्वार स्थापन कीजिए। तीसरा हिस्सा मुख्य नामक है, चौथा हिस्सा भल्लाट नामक है तथा पांचवा सोम नामक है।

इनके अनुसार तथा भूखण्ड की परिस्थिति देखकर द्वारों का निर्धारण किया जाना चाहिये। मत्स्यपुराण तथा वृहत्संहिता में इस संबंध में एक सामान्य निर्देश यह दिया है कि द्वार मुख्य दिशाओं में ही होना चाहिये, चारों कोणों में नहीं होना चाहिये। यथा– **'दिक्षुद्वाराणि कार्याणि न विदिक्षु कदाचन'**। परिस्थितिवश द्वार वांछित दिशा में न होने की स्थिति में एक दूसरे द्वार के द्वारा दोष का मार्जिन किया जा सकता है। इसे आप विषमस्थ भूखण्डों के चित्र में देख सकते हैं।

लम्बन तथा वीथीशूल–

वीथीशूल उत्तर–पूर्व में ही प्रशस्त माना गया है। पश्चिम में या दक्षिण में वीथीशूल ठीक नहीं होता। उत्तर में भी उत्तर–पश्चिम की दिशा प्रशस्त नहीं है तथा पूर्व में पूर्व–दक्षिण की दिशा भी ठीक नहीं है। दक्षिण–पूर्व दिशायें तो पूरी तरह वर्जित हैं। इन्हें नीचे के चित्रों में देखा जा सकता है।
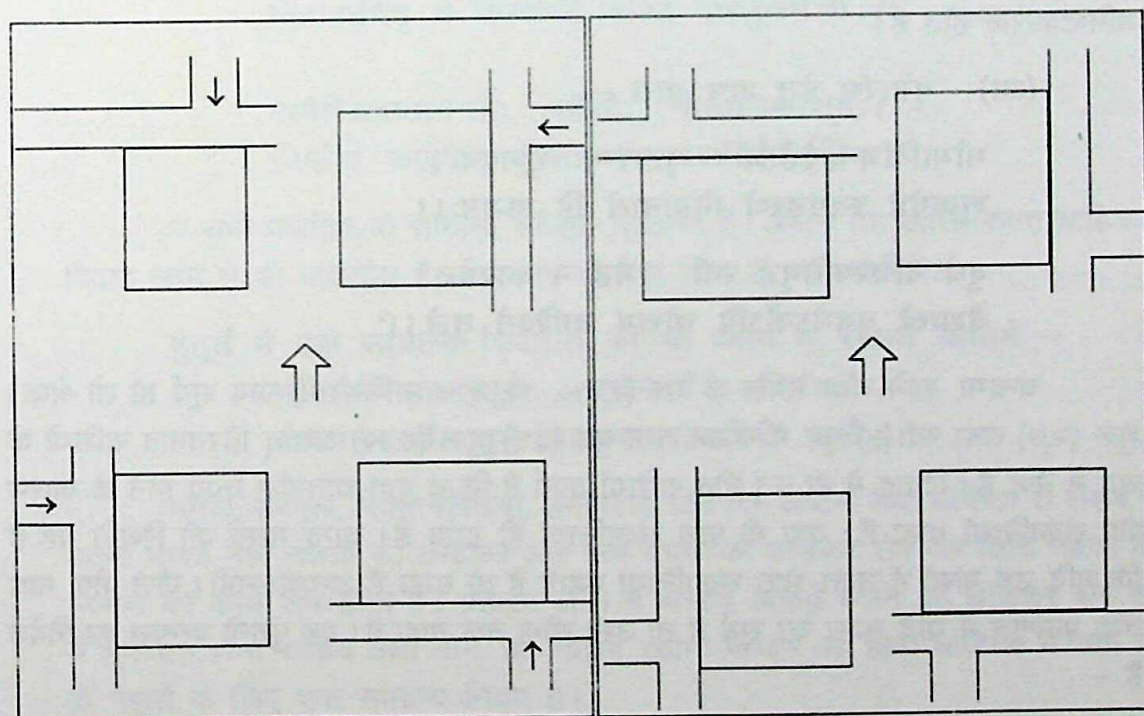
(ऊपर से प्रथम दो श्रेष्ठ, द्वितीय दो मध्यम, तीसरे दो नेष्ट, चौथे दो त्याज्य)

लम्बन उत्तर–पूर्व की ओर ही उचित होता है। शास्त्रीय भाषा में इसे दण्ड भी कहा जाता है। पूर्व से पश्चिम की ओर उत्तर में स्थित दण्ड शुभ होता है लेकिन उत्तर से दक्षिण की ओर दण्ड शुभ नहीं होता। प्रत्येक परिस्थिति में यह ख्याल रखा जाना चाहिये कि विस्तार उत्तर–पूर्व

का ही शुभ होता है या ऐसा विस्तार जिसमें उत्तर–पूर्व तथा दक्षिण–पश्चिम का कर्ण बड़ा हो, वही उचित होता है। अन्य मामलों में या तो उसे त्याग देना चाहिये या उसमें संशोधन कर देना चाहिये।

गृहारंभ मुहूर्त–

गृहारंभ शुभ सौर मास, शुभ नक्षत्र, शुभवार तथा शुभ तिथि में होना चाहिये

गृहेशतत्स्त्रीसुतवित्तनाशोऽर्केन्द्वीज्यशुक्रे　　विवलेऽस्तनीचे।
कर्तुः स्थितिर्नो विधुवास्तुनोर्भे पुरः स्थिते पृष्ठगते खनिः स्यात्।।[1]

'मुहूर्त का विचार करते समय यह बात ध्यान में रखना चाहिये कि सूर्य, चन्द्रमा, बृहस्पति और शुक्र गृहस्वामी की राशि से चौथे, आठवें या बारहवें नहीं होना चाहिये तथा निर्बल, अस्त एवं नीच नहीं होना चाहिये अन्यथा वे गृहस्वामी की स्त्री, सुख, धन तथा स्वयं गृहस्वामी के लिए अनिष्टकारक होते हैं।'

(आ)　गृहारंभ हेतु शुभ मास –

भौमार्किचन्द्रगेहेऽर्के　गृहारम्भः शुभप्रदः।
शुक्रगेहे स्वगेहस्थे दिवानाथे हि मध्यमः।।

वुधे वाचस्पतिगृहे रवौ　गेहं न कारयेत्।
वैशाखे वृषभेऽर्केऽपि चोत्तमं चाश्विने तुले।।[2]

चन्द्रमा, शनि तथा मंगल के घर (४, १०, ११, १, ८ राशियों में) जब सूर्य हो तो श्रेष्ठ। शुक्र (२.७) तथा स्व (५) गृह में मध्यम तथा बुध (३.६) गुरू (६.१२) अर्थात् द्विस्वभाव राशियों के सूर्य में नेष्ट है। विवाह में भी धनु मीन राशियाँ वर्ज्य है किन्तु वहां चातुर्मास वर्ज्य होने के कारण शेष संक्रान्तियाँ ग्राह्य हैं। यहां भी पांच संक्रान्तियां ही ग्राह्य हैं। चान्द्र मासों की स्थिति यह है कि यदि उन मासों में उक्त श्रेष्ठ संक्रान्तियां पड़ती हैं तो ग्राह्य हैं अन्यथा नहीं। जैसे पौष, माघ तथा फाल्गुन में यदि मकर का सूर्य है तो उसी सीमा तक ग्राह्य है। यह पुरानी परम्परा का निर्देश है –

पौषे माघे तपस्ये च　मकरेऽर्के　शुभप्रदः।
चैत्रे कुम्भे च मेषस्थे दिवानाथे गृहं शुभम्।।[3]

---

१. मुहुर्त्तचिन्तामणि, (१२/६)
२. वास्तुमाणिक्य रत्नाकर, ११०–१११, पृ.३५
३. वही, पृ.३५, श्लोक ११२

इसका अर्थ है कि कभी फाल्गुन में भी मकर का सूर्य होता था तथा कभी चैत्र में भी कुम्भ का सूर्य था। अन्य मासों की भी यही स्थिति है। आश्विन में सिंह संक्रान्ति तथा माघ में धनु सर्वथा वर्ज्य है। विवाह की छः संक्रान्तियों में से केवल मिथुन इसमें नहीं है। कर्क अतिरिक्त है।

गृहारंभ के नक्षत्र–

रोहिण्यां त्र्युत्तरे पुष्ये मृगे मैत्रे करत्रये।
वसुद्वये हि रेवत्यां गृहारम्भ सुखप्रदः।।[1]

रोहिणी, तीनों उत्तरा, स्वाती, मृग, अनुराधा, हस्त, रेवती, पुष्य, चित्रा, धनिष्ठा, शताभेषा विवाह के ११ नक्षत्र होते हैं। उसमें से प्रथम ६ वे ही नक्षत्र हैं। इसमें १३ नक्षत्र हैं – पुष्य, चित्रा, धनिष्ठा और शतभिषा अलग हैं।

अन्य सिद्धान्त–

कुयोगास्तिथिवारोत्थास्तितिभोत्था भवारजाः।
विवाहादिषु ये वर्ज्यास्ते वर्ज्या वास्तुकर्मणि।।[2]

पापैस्त्रिषष्ठायगतैः सौम्यैः केन्द्रत्रिकोणगैः।
निर्माणं कारयेद् धीमान् अष्टमस्थैर्खलैर्मृतिः।।[3]

ये सभी ज्योतिष के सामान्य स्वीकृत सिद्धान्त हैं। अष्टम ग्रह खाली रहना चाहिये। यह विवाह लग्न में भी वांछनीय है। पाप ग्रह तो वहां होना ही नहीं चाहिये।

मुहूर्त में इस सामान्य सिद्धान्त को भी ध्यान में रखना चाहिये –

भौमार्करिक्तामाद्यूने चरोनेऽगें विपंचकेः।
व्यष्टान्त्यस्थैः शुभैर्गेहारम्भस्त्र्यायारिगैः खलैः।।[4]

मंगल, रविवार, रिक्ता तिथियां, अमावस्या, प्रतिपदा, अष्टमी तथा धनिष्ठा से लेकर रेवती पर्यन्त पंचक नाम नक्षत्रों को छोड़कर और बाण पंचक को छोड़कर शेष वार तिथि नक्षत्रों में गृह निर्माण का कार्य शुभ होता है। ग्रहारंभ लग्न में बारहवें, आठवें स्थान को छोड़कर शेष स्थानों में शुभ ग्रह होना चाहिये तथा तीन, छः, ग्यारह स्थानों में पाप ग्रह होना चाहिये। ये सभी प्रकार के मुहूर्तो के लिए एक सामान्य नियम है।

---

१. वास्तु माणिक्य रत्नाकर ११७
२. विश्वकर्माप्रकाश ३/१६
३. मुहूर्त चिन्तामणि, पृ. २०६
४. मुहूर्त चिन्तामणि (VI-१३) पृ ११३

विविध

शुभ मुहूर्त निकालकर पहले उत्तर–पूर्व के कोण में खुदाई करना चाहिये तथा नींव का प्रारंभ करना चाहिये। शेष कार्य प्रदक्षिणा क्रम में अर्थात् क्लाकवाइज किया जाना चाहिये। स्तम्भ स्थापन करते समय स्तम्भों की विधिवत पूजा की जाना चाहिये।

उत्तरपूर्व कोणे कृत्वा पूजां शिलां न्यसेत् प्रथमम्।
शेषाः प्रदक्षिणेन स्तम्भाश्चैवं समुत्थाप्याः।।
छत्रस्रगम्बरयुतः कृतधूपविलेपनः समुत्थाप्यः।
स्तम्भस्तथैव कार्यो द्वारोच्छ्रायः प्रयत्नेन।।[1]

प्रथम तल की ऊँचाई भवन की चौड़ाई की १/१६ तथा चार हस्त होना चाहिये, उससे ऊँची नहीं होना चाहिये। अन्य तलों की ऊँचाई, चौड़ाई के १/१२ होना चाहिये।

भवन के पूर्व भाग में बट का वृक्ष लगाना उचित होता है, दक्षिण में ऊमर का, पश्चिम में पीपल का और उत्तर में पाकर का वृक्ष शुभ होता है। कांटेदार तथा दूध वाले वृक्ष शुभ नहीं माने गये हैं। अगर उन्हें न हटाना हो तो बीच–बीच में शुभ वृक्ष अशोक, नागकेशर, शमी या बकुल इत्यादि लगा देना चाहिये। तुलसी का पौधा अनेक वास्तुदोषों को मिटाता है। अतः वह भवन में जरूर लगाना चाहिये। फूलदार तथा औषधीय पौधे शुभ माने गये हैं। दीवालों पर इस प्रकार के चित्र रहने चाहियें जिनको देखकर प्रसन्नता उत्पन्न हो। किसी प्रकार के हिंसक या दारुण दृश्य वाले चित्र दीवालों पर नहीं होने चाहिये।

गृह प्रवेश से पूर्व वास्तुशान्ति शास्त्रानुसार अवश्य कराना चाहिये। राजवल्लभ मण्डनकार का यह कहना है कि ऐसा भवन जिसके द्वारों में कपाट न लगे हों, जिसके चारों ओर बाउण्ड्रीवाल न बनी हो तथा जिस घर के प्रवेश के समय वास्तु शान्ति के पश्चात भोज नहीं कराया गया हो, ऐसे घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये क्योंकि इस प्रकार का घर अनेक विपत्तियों का निमंत्रण देने वाला होता है। अतः वास्तुशान्ति परम आवश्यक है।

अकपाटमनाछिन्नमदत्त बलिभोजनम्।
गृहं न प्रविशेद्धीमान् विपदामाकरं तु तत्।।[2]

---

१. Br. Sam. ५३/११२.११३

२. रा.व.म. २–३६

गृहप्रवेश मुहूर्त्त विचार

डॉ. परमानन्द भारद्धाज

"कालः शुभक्रियायोग्यो मुहूर्त्तमित्यभिधीयते" अर्थात् वह शुभ घड़ी जो समस्त क्रियाओं के सम्पादन हेतु शुभ हो उसे मुहूर्त्त कहते हैं। उपर्युक्त क्रिया शब्द से तात्पर्य है विभिन्न कार्यों का सम्पादन है जैसे गर्भाधानादि षोडश संस्कार, विविध प्रकार की यात्रायें, गृहनिर्माण में भूमि पूजन से लेकर गृहप्रवेश तक काल निरधारण करना। इन समस्त क्रियाओं का बोध क्रिया शब्द से किया गया है। जैसे कि कश्यप ने भी कहा है– **"ग्रहणग्रहसंक्रान्तियज्ञाध्ययनकर्मणां प्रयोजनम् व्रतोद्वाहक्रियाणां कालनिर्णयः"** अर्थात् ग्रहण, ग्रह, संक्रमण काल, यज्ञारम्भकाल, अध्ययन–अध्यापन कर्म, व्रत–विवाहादि विभिन्न क्रियाओं के कालनिर्णय को मुहूर्त्त कहते हैं।

सुखदुःखकरं कर्म शुभाशुभमुहूर्त्तजम्।
जन्मान्तरेऽपि तत्कुर्यात् फलं तस्यान्वयेऽपि सा।।[१]

भारतीय वास्तु शास्त्र के नियमानुसार भवन निर्माण कार्य सम्पन्न हो जाने पर गृहप्रवेश विधि कही गयी है। गृहप्रवेश तीन नामों से प्रसिद्ध है– १. अपूर्व २. सपूर्व एवं ३. द्वन्द

१. जिस नव–निर्माण किये गये भवन में आवास हेतु अथवा व्यवसाय के उद्देश्य से प्रवेश किया जाता है उसे अपूर्व गृहप्रवेश के नाम से जाना जाता है।

२. लम्बी यात्रा (विदेश, तीर्थ या प्राचीन काल में राजाओं द्वारा युद्ध समाप्ति के पश्चात् घर एवं किया जाने वाला प्रवेश) के पश्चात् घर एवं भवन को रहने योग्य अथवा व्यापार योग्य बनाने हेतु उसमें किया जाने वाला प्रवेश सपूर्व कहलाता है।

३. वास्तुदोष में सुधार हेतु भवन निर्माण कार्य, गृहका जीर्णद्धार अर्थात् पुराने घर को तोड़कर पुनः निर्माण करना, अग्नि, वर्षा अथवा तूफान आदि से क्षतिग्रस्त भवन का निर्माण करने के पश्चात् किया जाने वाला प्रवेश द्वन्द कहलाता है। इसे द्वन्द (जीर्वा) अथवा पुरातन गृहप्रवेश

---

१. प्रश्नमार्ग अ.१ श्लो०–१०

के नाम से जान सकते हैं। इसका प्रवेश काल निर्धारण भी दूसरे प्रकार से किया जाता है।

सर्वप्रथम यहाँ नूतन गृह प्रवेश मुहूर्त्त की बात करते हैं। "अपूर्व" गृहप्रवेश दिवा व रात्रि[१] में कभी भी शुभ लग्नों में किया जा सकता है। स्थिर लग्न गृह प्रवेश के लिए श्रेष्ठ होते हैं (वृष-सिंह-वृश्चिक एवं कुम्भ) तथा द्विस्वभाव (मिथुन-कन्या-धनु व मीन) लग्नों में भी गृहप्रवेश कार्य किया जा सकता है।[२] गृहप्रवेश लग्न से चतुर्थ स्थान एवं अष्टम स्थान दोनों ग्रह रहित होने चाहिऐ तथा केन्द्र-त्रिकोण में शुभ ग्रह तथा अन्य त्रिषडाय स्थानों में पापग्रह हो तो गृह प्रवेश शुभ फलदायक होगा।

गृहप्रवेश में मासविचार–

वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों ने उत्तरायण[३] के चार मास माघ-फाल्गुन-वैशाख और ज्येष्ठ गृह प्रवेश कार्य के लिए श्रेष्ठ माने हैं यथा–**"माध-फाल्गुन-वैशाख-ज्येष्ठमासेषु शोभनः"**[४]। नवीन गृह प्रवेश "अपूर्व"; यात्रा निवृत्ति पर राजा का गृह प्रवेश "सपूर्व" तथा जीर्णोधार के पश्चात् किया गया प्रवेश ''द्वन्द्व''; ये तीनों गृह प्रवेश उत्तरायण में प्रशस्त कहे गये हैं। उन व्यक्तियों को जिन्हें बार-बार घर बदलने पड़ते हैं उनकी सुविधा हेतु पुरातन गृहप्रवेश दक्षिणायन में भी किये जा सकते हैं। इसमें शुक्र-गुरु का अस्तकाल तथा अधिकमास काल भी वर्जित नहीं होते हैं। नूतन गृह प्रवेश उत्तरायण में ही होना चाहिए। वसिष्ठमतानुसार इन अभीष्ट मासों में गृहप्रवेश का फल निम्नवत् है–

माघेऽर्थलाभः प्रथमप्रवेशः पुत्रार्थलाभः खलुफाल्गुने च।
चैत्रेऽर्थहानिर्धनधान्यलाभो वैशाखमासे पशुपुत्रलाभः।।[५]

अर्थात् माघमास में प्रथमगृह प्रवेश से अर्थ लाभ, फाल्गुन मासे में पुत्र एवं अर्थ दोनों का लाभ होता है। चैत्र मास में अर्थ हानि, वैशाख में धन-धान्य लाभ एवं ज्येष्ठ मास में पशु एवं पुत्र का लाभ होता है। **"प्रवेशो मध्यमो ज्ञेयः सौम्यकार्तिक मासयोः। प्रवेश निर्णयः प्रोक्तः शास्त्रज्ञैः पूर्वसूरिभिः।।**[६] मार्गशीर्ष एवं कार्तिक मास को "गृहप्रवेश" हेतु मध्यम माना है। सम्भवतः यहाँ इन दोनों मासों का ग्रहण "सपूर्व" या द्वन्द गृह प्रवेश के लिए किया गया है।

---

१. दिवा च रात्रौ च गृहप्रवेशः। वृ० बा० माला गृ० प्र० प्र० श्लो० २।
२. निष्पञ्चके स्थिरे लग्ने द्वयङ्गे वालयमारमेत्।
३. आदौ सौम्यायने कार्यं नववास्तु प्रवेशनम्।। वृ० वा० श्लो० ८
४. वहीं वास्तुमाला गृ. प्र.प्र. श्लो. सं.-४
५. वृहद् वास्तुमाला पृ. सं. १०३
६. वृहद् वास्तुमाला गृ. प्र. प्र. श्लो. सं.-५

नक्षत्रविचार–

चित्रोत्तराधातृशशाङ्कमित्रवस्वन्त्यवारीश्वरभेषु नूनम्।
आयुर्धनारोग्यसुपुत्रपौत्रसुकीर्तिदः स्यात्त्रिविधः प्रवेशः।।[१]

अर्थात् चित्रा, तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी, उत्तराषाढा, उत्तराभाद्रपदा) रोहिणी, मृगशिरा, अनुराधा, धनिष्ठा, रेवती, शतभिषा नक्षत्रों में त्रिविध (अपूर्व, सपूर्व एवं द्वन्द) प्रवेश करने से धन आयु, आरोग्य, पुत्र, पौत्र और वंश की वृद्धि होती है।

जिस नक्षत्र पर पापग्रह हो और जो नक्षत्र पाप ग्रहों से विद्ध हों, वे सब गृह प्रवेश में वर्जित है। पूर्वोक्त नक्षत्र जो गृह प्रवेश में शुभ माने गये हैं वे भी पापग्रह से युक्त या विद्ध होने पर त्रिविध प्रवेश में वर्जित है। घर में निरन्तर वृद्धि के लिए शुक्लपक्ष में प्रवेश श्रेष्ठ माना है। कृष्णपक्ष की दशमी के पश्चात् प्रवेश सर्वथा निषिद्ध है। यथा–

क्रूरग्रहाधिष्ठितविद्वभं च विवर्जनीयं त्रिविध प्रवेशे।।
शुक्ले च पक्षे सुतरांवृद्धयै कृष्णे च तावद्दशमी च यावत्।।[२]

नूतन व पुरातन गृहप्रवेश में रविवार एवं मंगलवार वर्जित है तथा प्रवेश लग्न के समय इनका नवांश भी वर्जित है अर्थात् गृहप्रवेश लग्न का नवांश मेष, सिंह व वृश्चिक का नहीं होना चाहिए।[३] इसके अतिरिक्त सोमवार, बुधवार, गुरुवार, शुक्रवार एवं शनिवार गृह सम्बन्धि समस्त कार्यों में प्रशस्त माने गये हैं।

गृहप्रवेश में कुम्भचक्र विचार–

त्रिविध गृहप्रवेश में कलश चक्र या कुम्भचक्र का विचार किया जाता है कुम्भचक्र निर्माण में सूर्यनक्षत्र से गणना प्रारम्भ करते है अर्थात् गृहप्रवेश के दिन सूर्य जिस नक्षत्र में स्थित होगा उससे वर्तमान गृहप्रवेश दिन के चन्द्रमा नक्षत्र तक गणना की जाती है। जैसा कि ज्योतिष प्रकाश में लिखा है–

भूर्वेदपञ्चकं त्रिस्त्रिः प्रवेशे कलशेऽर्कभात्।
मृतिर्गतिर्धनं श्रीः स्याद्वैर शुक् स्थिरता सुखम्।।[४]

---

१. वृहद्वास्तुमाला गृ. प्र. प्र. श्लो. सं.-८
२. वृहद्वास्तुमाला गृ. प्रवेश प्र. श्लो० सं. ७
३. वृहद्वास्तुमाला श्लो. स. ९
४. वास्तुसौख्यम् श्लो० सं० १०२

भू अर्थात् १, वेद शब्द से चार का बोध होता है वेदपञ्चकं का तात्पर्य है कि ४ पांच बार अर्थात् ४,४,४,४,४, "त्रिस्त्रि:" अर्थात् दो बार ३-३ नक्षत्र क्रमशः सूर्य नक्षत्र से गणना करने पर शुभाशुभ होते हैं। इष्ट दिन सूर्यनक्षत्र जो हो यदि उसी नक्षत्र में चन्द्रमा हो तो गृह प्रवेश करना जातका को मृत्युदायक होता है। अग्रिम ४ नक्षत्रों में चञ्चलता अर्थात् अस्थिरता, आगे ५ से ९ नक्षत्रों तक धनलाभ, अग्रिम चार ९ से १३ श्री प्राप्ति, १३ से १७ नक्षत्रों तक वैर (शत्रुता) १७ से २१ नक्षत्रों तक शोक, २१ से २४ तक स्थिरता तथा अन्तिम तीन (३) २४ से २७ नक्षत्रों तक सुख प्राप्त होता है। इसे वृहद् वास्तुमाला में निम्न प्रकार से कहा गया है।

वक्त्रे भूरविभात्प्रवेश समये कुम्भेऽग्निदाहः कृताः
प्राच्यामुद्वसनं कृतायमगताः लाभः कृताः पश्चिमे।
श्रीर्वेदाः कलिरूत्तरे युगमिता गर्भे विनाशो गुदे,
रामाः स्थैर्यमतः स्थिरत्वमनलाः कष्ठे भवेत्सर्वदा।।[२]

अर्थात् गृहप्रवेश के समय कलश आकृति बनाकर उसमें नक्षत्रों की स्थापना की जाती है तथा गणना सूर्यनक्षत्र से ही करते हैं सूर्य के नक्षत्र से कलशचक्र के मुख में १ नक्षत्र, उसमें प्रवेश करने से अग्निदाह, कलश के पूर्व में ४ नक्षत्र, फल उद्वास (गृहपति का विदेश गमन) ४ नक्षत्र दक्षिण में लाभदायक, ४ पश्चिम में लक्ष्मी प्राप्ति, ४ उत्तर में कलह, ४ नक्षत्र मार्ग (मध्य)में गर्भनाश, ३ नीचे के भाग में स्थिरता और ३ नक्षत्र कण्ठ में सुस्थिरता प्रदान करते हैं।

कुम्भचक्र

स्थान	मुख	पूर्व दिशा में	दक्षिण दिशा में	पश्चिम दिशा में	उत्तर दिशा में	गर्भ में	अध	कण्ठ
सूर्य नक्षत्र से स्थापना क्रमशः	१	४	४	४	४	४	३	३
गृह प्रवेश फल	अग्निदाह	उद्वसन	लाभ	लक्ष्मीप्राप्ति	कलह	विनाश	स्थिरता	सुस्थिरता

२. वृहद् वास्तुमाला गृहप्रवेश प्र. श्लो. सं. १९

गृहप्रवेश में वाम रवि विचार

गृहप्रवेश के समय वाम रवि विचार के लिए प्रवेशलग्न, गृह के मुख की दिशा एवं राशियों का ज्ञान होना चाहिए। पूर्वाभिमुख गृह में प्रवेश करने पर गृहप्रवेश लग्न से अष्टम स्थान में जो राशि हो उसमें सूर्य हो तो यामरवि होता है। दक्षिण मुख गृह के लिए लग्न से पंचम स्थान की राशि से पाँच राशि तक, पश्चिमाभिमुख गृह के लिए द्वितीय स्थान की राशि से पांच राशि तक और उत्तराभिमुख गृह के लिए एकादश स्थान की राशि से पाँच राशि तक सूर्य हो तो वाम रवि कहे जाते हैं। जैसे कि रामदैवज्ञ ने कहा है– **"वामरविर्मृत्युसुतार्थलाभतोऽर्के पञ्चमे प्राग्वदनादिमन्दिरे"**[1]

उदाहरणार्थ यदि गृहप्रवेश लग्न सिंह हो तो पूर्वाभिमुखगृह प्रवेश में अष्टम स्थान में मीन राशि होगी उससे आगे पांच राशि में यदि सूर्य स्थिति होगा तो उसे वाम रवि कहा जाता है। यह गृह प्रवेश के लिए शुभ माना जाता है।

स्पष्टता के लिए वाम रवि चक्र

भवन मुख दिशा	पूर्वाभिमुख भवन	दक्षिणाभिमुख भवन	पश्चिमाभिमुख भवन	उत्तराभिमुख भवन
गृहप्रवेश लग्न से इन स्थानों में सूर्य हो तो वामरवि	८	५	२	११
	९	६	३	१२
	१०	७	४	१
	११	८	५	२
	१२	९	६	३

पूर्वोक्त गृहमुख विचार के अनुसार पूर्णा (५/१०/१५) तिथियों में पूर्वाभिमुख गृह में, नन्दा (१/६/११) तिथियों में दक्षिणाभिमुख गृह में, भद्रा (२/७/१२) तिथियों में पश्चिमाभिमुख गृह में और जया तिथियों (३/८/१३) में उत्तराभिमुख गृह में प्रवेश शुभ माना गया है। रिक्ता (४/९/१४) तिथियाँ गृह प्रवेश में वर्जित है। जैसे कि आचार्य रामदैवज्ञ ने कहा है–

पूर्णातिथो प्राग्वदने गृहे शुभो नन्दादिके याम्यजलोत्तरानने।।[1]

---

१. वास्तुमाला गृह. प्र. प्र. श्लो. सं. १८

जीर्ण गृहप्रवेश विचार–

अग्नि, जल अथवा वायु के प्रकोप के कारण नष्ट भ्रष्टगृह का यदि उसी स्थान पर पुनः निर्माण किया गया हो तो श्रावण, कार्तिक एवं मार्गशीर्ष मासों में, स्वाती, धनिष्ठा व शतभिषा नक्षत्रों में भी प्रवेश शुभ होता है। इसमें ग्रहों के उदय-अस्त का विचार नहीं किया जाता है।

गृहप्रवेश में निषिध काल–

नूतन गृह प्रवेश में शुक्र व गुरु का अस्तकाल, अधिकमास, क्षयमास, पूर्वोक्त चार महिनों को छोड़कर अन्य मास सूर्यवार व भौमवार, चर लग्न तथा सूर्यभौम का सभी लग्नों में नवांश काल, रिक्ता (४/९/१४) तिथियाँ व अमावस्या संक्रान्ति काल, मातृ-पितृ श्राद्धतिथियाँ, अशुभयोग, पूर्वोक्त नक्षत्रों के अतिरिक्त अन्य नक्षत्र, लग्न से ४,८ स्थान ग्रह रहित होने चाहिए।

गृहप्रवेश में निषिधकार्य–

अकपाटमनाच्छन्नयदत्तबलिभोजनम् ।
गृहं न प्रविशेदेवं विपदामाकरं हि तत्।।[२]

अर्थात् बिना दरवाजा लगे, बिना छत वाले, बिना बलिदान दिये तथा बिना ब्राह्मण भोजन कराये गये गृह में प्रवेश नहीं करना चाहिये, ऐसा घर विपतियों को प्रदान करता है।

---

१. वृहद्वास्तुमाला ४.१८
२. वृहद्वास्तुमाला४.२०

वास्तुदोष एवं समाधान

प्रो. ओंकारनाथ चतुर्वेदी

वास्तुशास्त्र, भवन में निवास करने वाले व्यक्तियों की सुख-सुविधा-सुरक्षा एवं सफलता की दृष्टि से बनाये गये नियम-उपनियमों का संकलन है। "यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे" इस सूत्र के अनुसार प्राणीमात्र ब्रह्माण्डान्तर्गत पदार्थों के सन्तुलन के आधार पर ही सुखीजीवन व्यतीत कर सकता है। ब्रह्माण्ड में प्राकृतिक शक्तियों (गुरुत्वाकर्षण सौर ऊर्जा एवं चुम्बकीय शक्ति) तथा पञ्च महाभूतों (पृथिवी-जल-तेज-वायु और आकाश) का संतुलन ही उसको बनाये रखने में सक्षम एवं महत्वपूर्ण है। प्राकृतिक असंतुलन में संसार की गतिविधियाँ भी सुचारू रूप से नहीं चल सकतीं। ग्रह-ताराओं सहित पूरे खगोल की स्थिति, भूमण्डल की स्थिति, समुद्रादि सहित चराचर जगत् की समस्त गतिविधियाँ प्राकृतिक सन्तुलन पर आधारित होकर अपने अपने कार्य सम्पन्न करने में तत्पर दिखलाई देती हैं। इनके असन्तुलन के प्रकोप से प्रलय तक आ सकते हैं। अतः व्यक्ति के निवास स्थान में प्राकृतिक शक्तियों एवं महाभूतों का सन्तुलन तथा सामञ्जस्य वास्तुशास्त्र के अनुसार होना आवश्यक होता है। परिणामतः व्यक्ति सुखी-स्वस्थ-समृद्ध एवं स्फूर्तिमय जीवन व्यतीत करता है। व्यक्ति जितना प्रकृति के सन्निकट होगा, उतना ही स्वस्थ-पुष्ट-स्फूर्तिवान् एवं क्रियाशील होगा। स्वस्थ एवं प्रसन्नचित् व्यक्ति दत्तावधान होकर अपने कार्य में तत्पर रहकर समृद्धि एवं ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। अतः वास्तुशास्त्र सुखी-समृद्ध जीवन की कुञ्जी है। यह कथन समीचीन प्रतीत होता है। इसलिये वास्तुसम्मत भवन में निवास करने वाले व्यक्ति सुखी-समृद्ध एवं दीर्घायु होते हुए जीवन व्यतीत करते हैं। वास्तुविरुद्धभवन में रहने वाले व्यक्ति दुःखी, विपन्न, असुरक्षित, रुग्ण, क्लेशादियुक्त होकर नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करते हैं। भवन-निर्माण कराते समय वास्तुशास्त्र के नियमों का सदैव ध्यान रखना अपेक्षित होता है। वास्तु दोष व्यक्ति के जीवन को नकारा भी बना सकते हैं।

वास्तुदोष एवं समाधान-जिस भूखण्ड पर भवननिर्माण कराना हो, उसका आकार, घनत्व, समीपवर्ती-वातावरण एवं बाधादि दोषों का परीक्षण करके ही निर्माणकार्य प्रारम्भ करना उचित होता है। दोष रहित भूखण्ड पर भवन निर्माण करना प्रशस्त माना जाता है किन्तु आज दोषरहित भूखण्ड प्राप्त होना असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। यदि परिस्थितिवश दोषयुक्त भूखण्ड उपलब्ध हो, तो उसका दोष दूर करके ही भवननिर्माण प्रारम्भ करना चाहिए।

भूखण्ड में आकारदोष– वास्तुशास्त्र के अनुसार चार प्रकार के आकार वाले भूखण्ड ही आवास के लिये उपयुक्त होते हैं। १. वर्गाकार, २. आयताकार, ३. वृत्ताकार एवं ४. भद्रासन यथोक्तम्–

आयते सिद्धयः सर्वाः चतुरस्त्रे धनागमः।
वृत्ते तु बुद्धिवृद्धिः स्याद् भद्रं भद्रासने तथा।।[१]

इनसे भिन्न विषमाकार, चक्राकार, त्रिकोण, शकटाकार, दण्डाकार, सूपाकार, धनुषाकार, विजनाकार आदि निषिद्ध आकार वाली भूमि, भवन निर्माण के लिये अशुभ तथा दोषपूर्ण मानी गई है। निषिद्धाकार के भूखण्डों पर आवासीय भवन निर्माण कदापि नहीं करना चाहिए।

निषिद्ध आकार वाले भूखण्डों पर भवन-निर्माण करने की बाध्यता हो, तो उसमें दोष दूर करने के लिये आवश्यक उपाय करके ही भवन निर्माण प्रारम्भ करना उचित होता है। उक्त निषिद्ध भूखण्डों के आकार में परिवर्तन करके प्रशस्त आकार बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। यदि भूखण्ड बड़ा हो, तो निर्माण हेतु भूखण्ड को आयताकार (चन्द्रवेधी) अथवा वर्गाकार बनाकर शेषभूमि को भवननिर्माण से पृथक् करना ही उपयुक्त होता है। यदि वर्गाकार, आयताकार भूखण्ड नहीं बन रहा हो, तो वृत्ताकार में ही निर्माण कराना शुभ होता है। अन्यथा दोषपूर्ण होता है। यदि भूखण्ड छोटा हो और निषिद्ध आकार का हो तो भूखण्ड के आस-पास के भूखण्ड को क्रय करके प्रशस्त आकार बनाने के बाद ही निर्माण प्रारम्भ करना चाहिए। उचित आकार के बाद अवशिष्ट भूमि का उपयोग पूर्वोत्तरदिशा में खाली छोड़कर अथवा घास, क्यारी, फुलवारी, जलफव्वारा आदि लगाकर भवन के वातावरण को अनुकूल बनाया जा सकता है। दक्षिण-पश्चिम दिशा की अवशिष्ट भूमि पर बड़े-बड़े वृक्ष लगाकर सदुपयोग करें। ऐसा करने से आकार दोष का शमन हो जाता है। भूखण्ड में यदि टेड़ापन हो, अर्थात् सभी कोण ९० अंश के न हों, तो आमने सामने की दोनों भुजाओं को समान करके तथा आमने-सामने के कोणों को बराबर करके चतुष्कोणीय या चतुर्भुजाकार बनाकर उस भूखण्ड पर भवन निर्माण कराना शुभ होता है। शेष भूमि का उपयोग पूर्व की भांति करके दोष दूर किया जा सकता है। घनत्व-दोष–जिस भूमि पर निर्माण कराना हो उस भूमि का घनत्व ठोस, स्निग्ध (चिकनी) मिट्टी का होना चाहिए। यदि भूमि भुरभुरी (बालू युक्त), पोली कीचड़ या दल-दल युक्त हो, राख, भूसा, कोयला, रूई, चिथड़ें, केश (बाल) हड्डी (शल्य) आदि हों, तो निर्माण अशुभ एवं दोषपूर्ण होता है। मेंढक, चींटी, सर्प आदि के बिल वाली भूमि भी दोषपूर्ण होती हैं। यथा–

पिपीलकाषोडशपक्षनिद्रा भवन्ति चेत्तत्र वसेन्न कर्ता।
तुषास्थिचीराणि तथैव भस्मान्यण्डानि सर्पा मरणप्रदाःस्युः।।

१.　बृहद्वास्तुमाला, १.९०

वराटिका दुःखकलिप्रदात्री कार्पास एवाति ददाति दुःखम्।
काष्ठं प्रदग्धं त्वतिरोगभीतिर्भवेत्कलिः खर्परदर्शननेन।।

लौहेन कर्तुर्मरणं निगद्यं विचार्य वास्तु प्रदिशन्ति धीराः।[१]

और भी–

स्फुटिता च सशल्या च वल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिहर्तव्या कर्तुरायुर्धनापहा।।[२]

दरार (फटी) वाली भूमि, हड्डीवाली, बिलो वाली, ऊँची-नीची गड्ढेवाली भूमि गृह निर्माण के लिये दोषपूर्ण एवं त्याज्य मानी गई है। ऐसी भूमि गृहस्वामी की आयु तथा धन को क्षीण करती है। इसका फल इस प्रकार है–

स्फुटिता मरणं कुर्यादूषरा धननाशिनी।
सशल्या कलेशदा नित्यं विषमा शत्रुवर्धिनी।।

चैत्येभयं गृहकृतो वल्मीके स्वकुले वियत्।
गर्तायां तु विनाशः स्यात् कूर्माकारे धनक्षयः।।[३]

वास्तव में जिस भूमि पर सभी प्रकार की उपज हो अर्थात् ऊषर (बञ्जर) भूमि न हो, चिकनी मिट्‌टी जिसमें जल की प्रचुर मात्रा हो, तृणयुक्त तथा पाषाण आदि से ठोस हो उस भूमि को वास्तुशास्त्र में प्रशस्त माना गया है। यथा–

अनूषरा स्निग्धवती प्रशस्ता च बहूदका।
तृणापलान्विता या सा मान्या वास्तुविधौ धरा।।[४]

भवन निर्माण हेतु दोषयुक्त भूखण्ड को यथासम्भव प्रयत्नपूर्वक क्रय नहीं करना ही उचित होता है। यदि ऐसी ही भूमि परिस्थितिवश उपलब्ध हो तो इसमें घनत्व सम्बन्धी महादोष होता है। ऐसी समस्त भूमि में जब तक जल स्रोत प्राप्त न हो जाय, या पत्थर की चट्‌टान प्राप्त न हो जाय अथवा पुरुष जितनी लम्बाई तक गहरी खुदाई करवाकर समस्त निषिद्ध पदार्थों को बाहर निकालकर गहरे गड्ढे में चिकनी मिट्‌टी-पाषाण खण्ड से भूमि का ठोस आधार बनाकर भवन निर्माण करने की प्रक्रिया प्रारम्भ करनी चाहिए। इससे घनत्व सम्बन्धी दोषों का प्रतीकार हो जाता है। तदुपरान्त ठोस आधारयुक्त भूमि भवन-निर्माण हेतु शुभ फलदायी हो जाती है। यथा–

---

१. बृहद्वास्तुमाला १.११४-११५

२. वही, १.७९

३. वही, १.८०-८१

४. वही, १.१७

जलान्तं प्रस्तरान्तं वा पुरुषान्तमथापि वा।
क्षेत्रं संशोध्य चोद्धृत्य शल्यं सदनमारभेत्।।[१]

प्लवत्व दोष– निर्माणाधीन भूखण्ड पर समुचित प्रकार से सही-सही दिग्ज्ञान करना अभीष्ट होता है। दिग्ज्ञान के पश्चात् भूखण्ड का ढलान ज्ञान करने के लिये भूखण्ड पर जल भरकर ढलान की ठीक-ठीक दिशा ज्ञात करनी चाहिए। पूर्व, उत्तर, ईशानकोण के ढलान वाली भूमि शुभफल देने वाली होती है, शेष पाँचों दिशाओं की ओर ढलान वाली भूमि को गृहनिर्माण के लिये अशुभ माना गया है। नारद के मतानुसार बृहदवास्तुमाला में वर्णन मिलता है–

श्रियं दाहं तथा मृत्युं सुतहानिं धनक्षयम्।
प्रवासं धनलाभं च विद्यालाभं क्रमेण च।।
विदध्यादचिरेणैव पूर्वादिप्लवतो मही।
मध्यप्लवा महीनेष्टा न शुभ प्लवतत्परा।।[२]

अर्थात् पूर्वादि आठों दिशाओं में ढलान का फल निम्न प्रकार है– पूर्व-श्री, अग्नि-दाह (पीड़ा), दक्षिण-मृत्यु, नैऋत्य-सुतहानि, पश्चिम-धनक्षय, वायव्य-प्रवास, उत्तर-धन लाभ तथा ईशान-विद्या लाभ देने वाला होता है। ये शुभाशुभ परिणाम शीघ्र ही गृह-निर्माण कर्ता को प्राप्त होते हैं। मध्य प्लवाभूमि सर्वथा नेष्ट होती है। अन्य आचार्य के मतानुसार प्लवत्व की दिशा विशेष पर वास्तु का नाम निर्दिष्ट है। यथा–

इन्द्राग्न्यन्तरमुच्चं स्यान्नीचं वरुणवातयोः।
वास्तुपैतामहं विद्यान्नराणां कुरुते शुभम्।।
याम्याग्न्यन्तरंमुच्चं स्यान्नीचं मारुतसोमयोः।
सुपथं नाम तद्वास्तु प्रशस्तं सर्वकर्मणि।।
सोमेशानन्तरं नीचमुच्चं निऋतिकालयोः।
दीर्घायुर्नाम तद्वास्तु प्रशस्तं कुलवर्धनम्।।
ईशानेन्द्रान्तरं नीचमुच्चं वरुणरक्षसोः।
पुण्यकं नाम तद्वास्तु द्विजानां च शुभावहम्।।[३]

उपर्युक्त वर्णनानुसार अनेक प्रकार के वास्तुओं में १. पितामह, २. सुपन्थ, ३. दीर्घायु एवं पुण्यकवास्तु संज्ञक भूमि ढलान के आधार पर वर्गीकृत की गई हैं–

---

१. बृहद्वास्तुमाला, १.१०३
२. वही, १.३५-३६
३. वही, १.४७-५०

	ऊँचाई की दिशा	नीचाई की दिशा	वास्तु नाम	फल
१.	पूर्व-अग्निकोण	उत्तर-वायव्य	पितामह	निवास में शुभद
२.	दक्षिण-अग्निकोण	पश्चिम-वायव्य	सुपन्थ	सर्वकार्य में प्रशस्त (शुभफलदायक)
३.	दक्षिण-नैऋत्य	उत्तर-ईशान्य	दीर्घायु	कुलवृद्धिकारक
४.	नैऋत्य-पश्चिम	ईशान्य-पूर्व	पुण्यक	शुभफलदायक

संक्षेप में कहा जा सकता है कि शुभफलदायक ढलान वाली भूमि पर आवासीय भवन निर्माण करना उचित है। अन्यथा विपरीत प्लववाली अथवा मध्यप्लव वाली भूमि पर भवन निर्माण करना कष्टकारक होता है। यही भूखण्ड का प्लवत्व होता है।

यथासम्भव ऊँची-नीची या विपरीत दिशा के ढलान वाली भूमि का क्रय करना ही नहीं चाहिए। यदि ऐसी भूमि पर ही निर्माण करने की बाध्यता हो तो निर्माण के पूर्व सुविधानुसार उत्तर-पूर्व एवं इशानकोण में भूखण्ड का ढलान बनाते हुए शेष प्लवत्व अथवा गर्तों को मिट्टी आदि से भरकर उस स्थान को ठोस बनाकर ही निर्माण प्रारम्भ करना प्रशस्त होता है। ऐसा करने से प्लवत्व दोष से मुक्ति मिल जाती है। मध्यप्लवा भूमि सर्वनाशकारक होती है। मध्यप्लवा भूमि के मध्य भाग में चिकनी मिट्टी भरकर अभीष्ट दिशा में ढलान बनाने के बाद ही निर्माण प्रारम्भ करना श्रेयस्कर होता है।

वातावरण-वेधदोष– भूखण्ड के समक्ष मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारा, सराय, धर्मशाला, चौपाल या चैत्य आदि सार्वजनिक स्थान, सिनेमा हाल, क्लब, खम्बा-कूआँ-नदी, दोराहा, मार्ग आदि हो, तो वास्तुशास्त्र के अनुसार वेध-दोष कहलाता है। सामान्यतया आवासीय निर्माण हेतु ऐसा भूखण्ड अप्रशस्त एवं त्याज्य माना गया है।

यदि ऐसे भूखण्ड पर भवन-निर्माण करने की बाध्यता उपस्थित हो जाय तो, वेध की दिशा में दरवाजा विशेषकर मुख्यद्वार कदापि नहीं बनाना चाहिए। वेध की दिशा में दुकान का निर्माण कर दें। भूखण्ड पर भवन का मुख्यद्वार अन्य प्रशस्त दिशा में बनाने से वेधदोष की काट हो जाती है।

द्वार-वेध दोष– भवन निर्माण करते समय मुख्यद्वार का वेध चौराहा, महावृक्ष, कीचड़, नदी, नाला, कूपादि खम्बा, देवमूर्ति या देवस्थान, ध्वजा आदि से हो रहा हो तो यह महादोष बतलाया गया है। यह अत्यन्त अशुभ फलदायक होता है। **यथा–**

प्रवासी भृत्यजो द्वेषो विद्धे चत्वररथ्यया।
नाशं द्रव्यं ध्वजाविद्धं वृक्षेण शिशुदूषकम्।।

पङ्कविद्धेभवेच्छोकः सलिलस्राविणि व्ययः।
कूपेन विद्धेऽअपस्मारो विनाशो दैवतेन च।
स्तम्भेन दूषणं स्त्रीणां ब्रह्मणा तु कुलक्षयः।।[१]

स्वयं गृहनिर्माण करते समय वास्तुसम्मत द्वार का उचित ढंग से निर्माण करावें। वेध-दोष उपस्थित होने पर उसका समाधान करके ही द्वार स्थापन करना उचित होता है। यथासम्भव द्वारस्थापन से पूर्व विद्धवस्तु का निस्तारण करना चाहिए। अथवा भवन का मुख्य द्वार ऐसे स्थान पर अन्य दिशा में रखें, ताकि वेध दोष न होने पाये। बने बनाये घर में भी यदि वेध दोष उपस्थित हो रहा हो, तो वेधकारक वस्तु अथवा अपने द्वार को अन्यत्र हटा लेना ही श्रेयस्कर होता है। द्वारमाप-दोष-वास्तुशास्त्र में भूखण्ड के आधार पर उचित माप के द्वार निर्माण कराने का विधान बतलाया गया है। उससे अधिक या कम माप का द्वार निर्माण कराना भी दोषकारक होता है। समराङ्गणसूत्रधार में वर्णित है–

मानादभ्यधिके द्वारे राजतो जायते भयम्।
व्यसनं मानतो हीने चौरेभ्यश्च भयं भवेत्।।[२]

द्वारनिर्माण वास्तुशास्त्रसम्मत भूखण्ड के आधार पर उचित माप का ही करावें। मुख्य द्वार से कम माप के गृहाभ्यन्तर दरवाजे होने चाहिए। मुख्य द्वार के बराबर या बड़े द्वार अन्दर के नहीं होने चाहिए। बने बनाये मकान में अनुचित द्वार होने पर निवास से पूर्व आवश्यक संशोधन कराकर ही गृह में निवास करना उचित होता है।

दोषयुक्त द्वार– स्वयं खुलने वाले द्वार उच्चाटनकारी, धनक्षय एव कलहादिकारक होते हैं। स्वयं बन्द होने वाले द्वार अत्यन्त दुःखदायी तथा आवाज (शब्द) सहित बन्द होने वाले द्वार भी अनेक कष्टदाता होते हैं। यथा–

स्वयमुद्घाटितं द्वारमुच्चाटनकरं भवेत्।
धनहृद् बन्धुवैरं स्यादथवा कलिकारकम्।।

स्वयं यत् पिहितं द्वारं तद् भवेद् बहु दुःखदम्।
सशब्दं भयकृत् पादशीतलं गर्भपातनम्।।[३]

आजकल दरवाजे स्वयमुद्घाटित अथवा स्वयं बन्द हो जाने वाले बनवाने का प्रचलन दिखलाई देता है। यह महादोष है। ऐसे दरवाजे लगवाना वास्तुविरुद्ध है। स्वयं उद्घाटित द्वार

---

१. वास्तुसार पृष्ठ सं. २०५
२. समराङ्गणसूत्रधार गृहदोष, ८४-८५
३. वही, ७३-७४

उच्चाटन कारक होता है। धन क्षयं बन्धुवैर अथवा कलेशकारक होता है। यदि मकान में ऐसा कपाट हो तो उसे हटाकर उचित कपाट लगवाना ही उसका समाधान है। स्वयं बन्द होने वाले दरवाजे का प्रचलन अधिक है। ऐसे द्वार बहुत ही दुःखदायक माने गये हैं। जो कपाट खोलते अथवा बन्द करते समय शब्द करें, वो पादशीतलव्याधियुक्त एवं स्त्रियों के गर्भपात कराने वाले होते हैं। इनका दोष दूर कर कपाटों का पुनर्निर्माण कराकर ही भवन में निवास करना सुखदायक होता है।

द्वार सम्बन्धी अन्य दोष ठीक दरवाजे के ऊपर दरवाजा (बहुमंजिलों के मकान में) अथवा दरवाजे के ठीक सामने दरवाजा होना भी दोषकारक है। यह धन क्षय, संकटदाता एवं दरिद्रताकारक होता है। किसी कोने में दरवाजा भी महाकष्टकारी होता है। भित्ती के ठीक मध्यभाग में दरवाजे से दोनों ओर की दीवार बराबर लम्बी हो। दरवाजा भी कलह-शोकादि कष्टकारक तथा स्त्रियों को दूषित करने वाला होता है। यथा–

द्वारस्योपरि यद्द्वारं द्वारं द्वारस्य सम्मुखम्।
न कार्यं व्ययदं यच्च संकटं तद्दरिद्रकृत्।।

द्वारमायामतः कार्यं पुत्र-पौत्र-धनप्रदम्।
विस्तारकोणे द्वारं यद्दुःखशोकभयप्रदम्।।

भित्तिमध्ये कृतं द्वारं द्रव्य-धान्यविनाशनम्।
आवहेत् कलहं शोकं नारीवासं प्रदूषयेत्।।[१]

उपर्युक्त द्वार दोषों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करके ही द्वार निर्माण कराना-धन-यश-पुत्र-पौत्रादिवर्धक होता है। निर्मित मकान में भली प्रकार से द्वार सम्बन्धी दोषों का निरीक्षण आवश्य करना चाहिए। पूर्वोक्त दोषों में से किसी दोष के रहने पर अविलम्ब दोष दूर करके ही उस मकान में गृह प्रवेश अथवा निवास करना सुख समृद्धिकारक होता है।

आजकल समुचित भूखण्ड का चयन कर उस पर वास्तुसम्मत भवन-निर्माण कराना प्रत्येक व्यक्ति के सामर्थ्य से बाहर की बात है। बना बनाया नया या पुराना मकान प्रायः लोग क्रय करके उसमें रहने लगते हैं। क्रय करते समय यथासम्भव वास्तुशास्त्र के सामान्य नियमों को दृष्टिगत रखकर ही मकान क्रय करना उचित है। यदि वास्तु विरुद्ध निर्माण दोषों को दूर करके विधानपूर्वक "वास्तु शान्ति" का अनुष्ठान कराकर ही गृह-प्रवेश करना तथा निवास करना लाभदायक एवं सुख-शान्ति-समृद्धिकारक होता है। वास्तु शान्ति अनुष्ठान कराने से बहुत से वास्तु-दोषों का शमन हो जाता है। उसमें निवास कर्ता को दोषों के दुष्प्रभाव का सामना प्रायः नहीं करना पड़ता।

१. विश्वकर्माप्रकाश उद्धृत वृहद्वास्तुमाला द्वारबोध विचार, पृष्ठ ९३

ब्रह्म-मर्मस्थान दोष– प्राचीन वास्तुशास्त्र में आंगन भवन का प्रमुखस्थान माना जाता था। लघुकाय मकान से लेकर बृहदाकार भवन हवेली आदि में आंगन की अनिवार्यता थी। खुले आकाश से आकाश तत्व की उपस्थिति से अन्य महाभूतों का भी समुचित समन्वय होने के साथ-साथ ब्रह्मस्थान एवं मर्म स्थान भी दूषित नहीं होता था। परिणामतः आंगन युक्त घर में निवास करने वाले व्यक्तियों का जीवन स्फूर्तिमय रहता था। जिससे उन्हें सुख-शान्ति एवं समृद्धियुक्त जीवन प्राप्त होता था। आज आंगन की आवश्यकता को लोगों ने भुला दिया है। ब्रह्मस्थान-मर्मस्थान की सामान्य जानकारी भी लोगों को नहीं है। हम संकेत द्वारा संक्षेप में बतलाना चाहते हैं। भूखण्ड में ८१ इक्यासीपदवास्तु के आधार पर मध्य के नौ पद ब्रह्मस्थान होता है। एवं भूखण्ड पर ईशान्य से नैऋत्य एवं अग्निकोण से वायव्य तक सूत्र खींचने पर मध्य में जहाँ दोनों सूत्र मिलें, वही मर्मस्थान होता है। आंगन की व्यवस्था होने से अनायास ही ब्रह्म एवं मर्मस्थान सुरक्षित रहते थे ओर दूषित नहीं हो पाते थे। आज व्यक्ति आंगन खुला छोड़ना उचित नहीं समझता। वो भूखण्ड की भूमि को अधिकाधिक घेरकर आच्छादित कर देता है, अतः ब्रह्म तथा मर्मस्थान दोषयुक्त एवं विद्ध हो जाते हैं। परिणामस्वरूप गृहस्वामी अथवा गृह निवासी क्षुब्ध-त्रस्त-भयभीत होकर कलह-दरिद्रता आदि अनेकानेक कष्टों का अनुभव करते हैं। वास्तुशास्त्र में वास्तुविन्यास द्वारा ब्रह्मस्थान अथवा मर्मस्थान पर देवता का जो अंग विद्ध होता है। गृहस्वामी के उसी अंग में आघात अथवा असाध्य रोग हो जाता है। ब्रह्मस्थान एवं मर्मस्थान कील, खूँटी, खिड़की, झरोखा, दरवाजा, खम्बा, कूआँ आदि सभी वर्णित हैं, किन्तु आज इन सभी को उपेक्षित कर दिया गया है। मकान के मध्य में आंगन की व्यवस्था से जाने-अनजाने ब्रह्म एवं मर्मस्थान सुरक्षित रहते थे। आज के भवन एवं फलैट संस्कृति में इसकी चर्चा भी अप्रासांगिक प्रतीत होती है। श्रेय चाहने वालों को इसका ध्यान रखते हुए यथासंभव ब्रह्म एवं मर्मस्थान को सुरक्षित एवं वेधरहित रखने को प्रयत्नशील होना चाहिए।

प्राचीन वास्तुशास्त्र में वर्णित सोलह कक्षों के निर्माण की आज आवश्यकता नहीं है। सकल परिवार की संस्कृति के कारण चार या पाँच कक्षों का मकान ही पर्याप्त होता है। आवश्यकतानुसार निर्धारित कक्षों का निर्माण वास्तुसम्मत दिशाओं में ही कराना श्रेयस्कर होता है। यदि ऐसा संभव न हो तो उनकी वैकल्पिक या उपदिशाओं में उन कक्षों को स्थापित किया जा सकता है। यहाँ कुछ आवश्यक कक्षों की निर्धारित दिशा एवं उपदिशा प्रदर्शित की जा रही है।

	कक्ष नाम	निश्चित दिशा	उपदिशा
१.	पूजाघर	ईशान	ईशान से लगी पूर्वोत्तर दिशा
२.	बरामदा	पूर्व अथवा उत्तर	पूर्वोत्तर के मध्य ईशान
३.	बेसमेण्ट (तलघर)	पूर्व अथवा उत्तर	ईशान (भूखण्ड के आधे से कम भाग पर ही बनावें)

४.	रसोई	अग्निकोण	दक्षिण, पूर्व (अग्निकोण से लगा वायव्य-उत्तर मध्य भी बना सकते हैं।)
५.	शयन कक्ष (गृहस्वामी)	दक्षिण	ईशान एवं पूर्व को छोड़कर सभी दिशाएँ
६.	भोजन कक्ष	पश्चिम	ईशान एवं पूर्व को छोड़कर सर्वत्र
७.	स्टोर	नैऋत्य	पूर्वोत्तर-ईशान को छोड़कर सर्वत्र

पानी का टैंक (भूमिगत) अथवा सेप्टिक आदि भूमिगत टैंक पूर्वोत्तर दिशाओं में होने चाहिए। किन्तु छत पर पानी की टंकी सदैव दक्षिण-पश्चिम दिशा में ही लगानी चाहिए। इनके विपरीत दिशा में वास्तु दोष होता है। दोष युक्त होने पर सही दिशा में परिवर्तन करा लेना ही इसका समाधान है। भवन में दक्षिण-पश्चिम दिशा भारी एवं घिरी होनी चाहिए। पूर्वोत्तर दिशा हल्की होनी वास्तुसम्मत होती है। यदि दक्षिण-पश्चिम खुला अधिक हो, तो इन दिशाओं को नवनिर्माण द्वारा ऊँचा एवं वजनदार बनाना ही समाधान है।

भवन में पूजा-पाठ एवं भोजन करते समय नियमित रूप से पूर्व अथवा उत्तर की ओर मुख करें ऐसा करने से छिट-पुट वास्तु दोषों का स्वतः ही समाधान हो जाता है। जीर्ण गृह की मरम्मत कराके अथवा उसमें नव-निर्माण कराने के बाद वास्तु शान्ति का अनुष्ठान, सभी दोषों को दूर करके सुख शान्ति प्रदान करता है। जिससे गृहस्थ जीवन सुखी सम्पन्न, समृद्धिकारक एवं आनन्दित होता है।

भूमि चयन एवं शोधन

डॉ. अशोक थपलियाल

वास्तुनिर्माणयोजना में सर्वप्रथम 'भूमिचयन' महत्वपूर्ण कार्य है। भूमि कहाँ, किस दिशा में, कैसी गुणधर्मितायुक्त, शुभफलदात्री, सुविधानुरूप एवं सुख–शान्ति एवं लाभदायक हो, इन सब बातों का विचार भूमिचयन करते समय किया जाता है। वास्तुरत्नाकर में उल्लिखित है कि सर्वप्रथम ग्राम/नगर की अनुकूलता, तत्पश्चात् दिशा की अनुकूलता एवं फिर भूमि की अनुकूलता का परीक्षण करना चाहिए। तत्पश्चात् ही पिण्ड, वार, नक्षत्रादि का शास्त्रानुसार विचार करते हुए भवन निर्माण करना चाहिए।[1] इसी प्रकार सर्वप्रथम शुभदिन में भूमिपरीक्षण के बाद वास्तुपूजनपूर्वक भूमि का शोधन करके लग्न, चन्द्र एवं शकुनबल देखकर शुभमुहूर्त्त में गेहारम्भ करना चाहिए।[2]

ग्राम व दिशा की अनुकूलता -

१. व्यावहारिक प्रसिद्ध नाम की राशि से ग्राम/नगर की नामाक्षर राशि २, ५, ६, १०, ११ इन संख्याओं में होने पर ग्राम/नगर में निवास शुभ होता है। अन्य स्थानों में प्रतिकूल है। ग्राम के कोणों में अन्त्यजवर्ण के अतिरिक्त अन्य वर्णो का निवास अशुभ होता है। पूर्वादि चार दिशाओं में अथवा ग्राममध्य में द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य) का निवास शुभ होता है।[3] इसी प्रकार निम्न चक्रानुसार अपनी राशि के लिए अशुभप्रद ग्रामदिशा में नहीं रहना चाहिए।[4]

शुभ ग्राम दिशा	दक्षिण	नैर्ऋत्य (दक्षिण पश्चिम)	पश्चिम	वायव्य (पश्चिम–उत्तर)	उत्तर	ईशान (उत्तर पूर्व)	पूर्व	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	ग्राम मध्य
राशि	कन्या	कर्क	धनु	तुला	मेष	कुम्भ	वृश्चिक	मीन	वृष, मिथुन, सिंह, मकर

---

१. वास्तुरत्नाकर १/११

२. वास्तुराजबल्लभ ११/१४

३. मु० गणपति १८/१–३

४. मु० चिन्तामणि १२/२

२. ग्राम/नगर के नामाक्षर संख्या को ४ से गुणा करके निवास–इच्छुक व्यक्ति के नामाक्षर संख्या को जोडकर ७ का भाग देना चाहिए। शून्यादि शेष रहने पर निम्न प्रकार से शुभाशुभ जानना चाहिए।[1]

शून्यादि शेष	०	१	२	३	४	५	६
शुभाशुभ	मरण फल	पुत्रलाभ	धनप्राप्ति	व्यय	आयुवृद्धि	शत्रुक्षय	राज्यलाभ

३. ग्राम/नगर नक्षत्र से निवास इच्छुक व्यक्ति के नाम नक्षत्र तक गिनने पर निम्न नराकृति चक्र के अनुसार शुभाशुभ फल जानना चाहिए।[2]

स्थान	मस्तक	मुख	कुक्षि	पाद	पृष्ठ	नाभि	गुह्य	दक्षिण हस्त	वाम हस्त
नक्षत्र संख्या	१–५	६–८	६–१३	१४–१६	२०	२१–२४	२५	२६	२७
शुभाशुभ फल	लाभ	धनक्षय	धन–धान्य	स्त्री–हानि	पैर में कष्ट	सम्पत्ति	भय	पीड़ा	क्रन्दन (अशुभ)

बृहद्दैवज्ञरंजन में अन्य प्रकार से नराकृतिचक्र वर्णित है। उसके अनुसार ग्राम/नगर नक्षत्र से निवास इच्छुक व्यक्ति के नाम नक्षत्र तक गिनने पर निम्न नराकृति चक्र के अनुसार शुभाशुभ फल जानना चाहिए।[3]

स्थान	मस्तक	पृष्ठ	हृदय	पाद
नक्षत्र संख्या	१–७	८–१४	१५–२१	२२–२८
शुभाशुभ फल	धन–सम्मान	हानि–दरिद्रता	सुखसम्पत्ति	पर्यटन

४. अष्टवर्गचक्र के अनुसार निम्न प्रकार से अपने नामाक्षर का वर्गादि विवरण जानना चाहिए।[4]

---

१. वास्तुरत्नाकर १/१२
२. तत्रैव १/१५–१७
३. बृ०दै०र० ४६/१५–१६
४. बृ०वास्तुमाला पृ०४ , श्लोक १७

अष्टवर्गबोधकचक्र

वर्ग	अ	क	च	ट	त	प	य	श
वर्गसंख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
दिशा	पूर्व	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	दक्षिण	नैर्ऋत्य (दक्षिण पश्चिम)	पश्चिम	वायव्य (पश्चिम–उत्तर)	उत्तर	ईशान (पूर्व–उत्तर)
वर्गाधिपति	गरुड	मार्जार (बिल्ली)	सिंह	श्वान (कुत्ता)	सर्प	मूषक (चूहा)	मृग	मेष[1] (मेढा)
वर्गाक्षर	अ,इ,उ, ऋ,ए,ऐ, ओ,औ, अं,अः	क,ख,ग, घ,ङ	च,छ,ज, झ,ञ	ट,ठ,ड, ढ,ण	त,थ,द ध,न	प,फ,ब, भ,म	य,र, ल,व	श,ष, स,ह

इनमें अपने वर्ग से पंचम वर्ग शत्रु होता है। जैसे गरुडवर्ग से पंचमवर्ग सर्प है, जो शत्रुवर्ग है। शत्रुवर्ग को छोडकर शेष वर्ग शुभ होते हैं।

५. अपने अपने वर्ग संख्या को दुगुना करके दूसरे की वर्ग संख्या को जोडना चाहिए। फिर ८ का भाग देने से शेष काकिणी होती है। निवास इच्छुक व्यक्ति की काकिणी से स्थान की काकिणी अधिक हो तो शुभ होता है।[2]

उदाहरण- व्यक्तिनाम– विश्वनाथ, वर्गसंख्या–७ ।
स्थाननाम– बनारस वर्गसंख्या–६ ।

अतः (७ × २+६)÷८ = शेष ४ व्यक्ति काकिणी।
(६ × २+७)÷८ = शेष ३ स्थान काकिणी।

यहाँ स्थान काकिणी कम है अतः विश्वनाथ को बनारस से लाभ नहीं होगा।

अथवा द्वितीयप्रकार[3] से साध्य (ग्राम/नगर) की वर्गसंख्या को पहले रखकर बाद में साधक (निवास इच्छुक व्यक्ति) की वर्ग संख्या को रखने से जो संख्या हो उसमें ८ का भाग देने पर शेष 'धन' संज्ञक होता है। इसी प्रकार पहले साधक वर्ग संख्या को रखकर बाद में साध्य रखें। प्राप्त संख्या में ८ का भाग देने पर शेष 'ऋण' संज्ञक होता है। धनशेष की अपेक्षा ऋणशेष कम हो तो निवासकर्ता के लिए शुभ होता है।

---

१. वसिष्ठ, कश्यपादि के मत में मेषवर्ग के स्थान पर शशक (खरगोश) वर्ग है। द्रष्टव्य मु०चि०१२/१–२ पीयूषधारा टीका।

२. मु० चि० १२/१

३. संग्रहशिरोमणि २० / ६–१०

उदाहरण– व्यक्तिनाम– विश्वनाथ,वर्गसंख्या–७।

स्थाननाम– बनारस वर्गसंख्या–६ ।

अतः ६७ ÷ ८ = ३ धनसंज्ञक शेष।

७६ ÷ ८ = ४ ऋणसंज्ञक शेष।

यहाँ धनसंज्ञकशेष की अपेक्षा ऋणसज्ञकशेष अधिक है अतः ग्राम से निवास इच्छुक व्यक्ति को लाभ नहीं होगा।

६. ग्राम एवं निवासकर्ता , दोनों के राशि स्वामियों में मित्रता या एकाधिपत्य हो तो निवास करना उत्तम, समता हो तो सामान्य एवं शत्रुता हो तो निवास करना हानिकारक होता है। ग्राम एवं निवासकर्ता की मित्रता आदि देखने हेतु निम्न सप्तवर्ग का विचार करना चाहिए।[1]

वर्ग	अ	क	च	ट	त	प	य
वर्गसंख्या	१	२	३	४	५	६	७
वर्गाधिपति ग्रह	सूर्य	चन्द्र	मंगल	शुक्र	बुध	गुरु	शनि
वर्गाक्षर	अ,आ,इ,ई,उ, ऊ,ऋ,ॠ,लृ, ॡ,ए,ऐ,ओ,औ, अं,अः	क,ख,ग, घ,ङ	च,छ,ज, झ,ञ	ट,ठ,ड, ढ,ण	त,थ,द, ध,न	प,फ,ब, भ,म	य,र, ल,व श,ष, स,ह

७. आधी रात के समय ग्राम के निर्जन प्रदेश में मांस इत्यादि से युक्त भात जमीन पर रखें। तदुपरान्त वहाँ से हटकर गीदडों की आवाज होने वाली दिशा पर ध्यान दें । तब निम्नतालिका के अनुसार उस ग्राम में निवास के शुभाशुभ फल को जानें।[2]

ध्वनि दिशा	पूर्व	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	दक्षिण	नैर्ऋत्य पश्चिम)	पश्चिम (दक्षिण	वायव्य उत्तर)	उत्तर (पश्चिम	ईशान उत्तर)	सभी (पूर्व	निःशब्द दिशा–
फल	उच्चाटन	भय	कल्याण	निषिद्ध	आनन्द	अल्पभय	शुभ	मरण	निषिद्ध	शुभ

८. नाम, ग्राम/नगर एवं दिशा की अक्षर संख्या में ७ जोडकर ३ का भाग देने पर एक शेष में जीवित ग्राम/नगर, दो शेष में मृत ग्राम/नगर एवं शून्य शेष में शून्य ग्राम/नगर जानना चाहिए।[3]

---

१. वास्तुप्रदीप ३३–३५

२. बृ०वास्तुमाला पृ०४ श्लोक १६

३. बृ०दै०र० ८६/५६

भूमि के निकटवर्ती क्षेत्र

जिस भूमि पर भवन निर्माण योजना है, उसके निकटवर्ती क्षेत्र का भी विचार आवश्यक है क्योंकि इसका प्रभाव गृहस्वामी के भवन एवं परिवार दोनों पर ही पडता है। कुछ महत्वपूर्ण ध्यातव्य बातें निम्न हैं–

- भूमि के दक्षिण या पश्चिम अथवा नैर्ऋत्य(दक्षिण–पश्चिम) दिशा में ऊँचे भवन, पेड़, पहाड़िया इत्यादि शुभ हैं परन्तु उत्तर या पूर्व की ओर इनकी स्थिति अशुभप्रद है।
- भूमि के पूर्व या उत्तर अथवा ईशान (पूर्व–उत्तर) दिशा में अन्य भूखण्ड या सड़क का तल, दक्षिण या पश्चिम अथवा नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम) दिशा से नीचा होना शुभ है। इसी प्रकार पूर्व, उत्तर एवं ईशान (पूर्व–उत्तर) की ओर भूमिगत जलस्रोत तथा नदी, नाला इत्यादि जिसका प्रसार दक्षिण से उत्तर अथवा पश्चिम से पूर्व हो तो शुभ है किन्तु दक्षिण या पश्चिम अथवा नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम) दिशा में जलाशयादि का होना अच्छा नहीं है।
- भूमि के आसपास श्मशान इत्यादि का होना अशुभ होता है। आवासीय भूखण्ड के समीप सरकारी कार्यालय, विद्यालय, सिनेमा हाल, बड़ा मन्दिर एवं भीड़भाड़ समुचित नहीं है किन्तु व्यापारिक भवनों के लिए शुभ एवं लाभप्रद है।
- आवासीय भूखण्ड के समीप अस्पताल, पुलिस थाना, नदीघाट, अदालत, रेलवे क्रासिंग, मदिरालय इत्यादि होना अच्छा नहीं है।
- भूखण्ड में अन्य घरों से विसर्जित पानी या वर्षा जल आये तो सामान्यतया वहाँ भवन निर्माण नहीं करना चाहिए।
- जिस भूखण्ड के आसपास का वातावरण नयनाभिराम एवं मनोहारी हो वह शुभ भूमि होती है।
- बृहत्संहिता के अनुसार गृहसमीप निम्नप्रकार से शुभाशुभ जानना चाहिए[1] –

गृह समीप स्थिति	सचिव गृह	धूर्तगृह	देवगृह	चौराहा	चैत्य (प्रधान) वृक्ष	दीमकयुक्त या पोली भूमि	गड्ढ़ा	कछुए की आकृति की भूमि
फल	धननाश	पुत्रनाश	खेद	अपयश	ग्रहभय	आपदा	प्यासरोग	धननाश

- गृह समीप स्थित वृक्षों का शुभाशुभ निम्नप्रकार से जानना चाहिए[2] –

१. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय ८९–९०
२. तत्रैव ८४–८५

वृक्ष	कॉटेदारवृक्ष	दूधवाले वृक्ष शमी,साल	फलदार वृक्ष	अशोक,पुन्नाग,अरिष्ट,मौलश्री,कटहल,
फल	शत्रुभय	धननाश	सन्ततिनाश	शुभ एवं दोषनाशक

भूमि की अनुकूलता

१. भूमि चयन - जिस भूमि पर मांगलिक औषधियाँ तथा वट, गूलर, शाल आदि याज्ञिक वृक्ष हों। जो मधुर, स्वादु, सुगन्धित, दर्शनीय, मनोहारी, सम एवं बिल–प्रस्फुटादि दोषों से शून्य हो। ऐसी भूमि निवास योग्य होती है।[1] ब्राह्मणादि वर्णों के लिए निम्न चक्रानुसार भूमि का चयन करना चाहिए।[2]

क्र०सं०	वर्ण	भूमि प्लव दिशा(ढ़लान)	भूमि का रस	भूमि गन्ध	भूमि से संयुक्ति	भूमि का रंग
१	ब्राह्मण	उत्तरी	मधुर	घृत	दर्भ	सफेद
२	क्षत्रिय	पूर्वी	कसैला	रक्त	शरपत	लाल
३	वैश्य	दक्षिणी	अम्ल(खट्टा)	अन्न	दूर्वा	पीला/हरा
४	शूद्र	पश्चिमी	कड़वा	मद्य	कास	काला

प्रकारान्तर से आठों दिशाओं में भूमि प्लव (ढ़लान) का फल निम्न प्रकार से है।

प्लव दिशा	पूर्व	आग्नेय (दक्षिणपूर्व)	दक्षिण	नैर्ऋत्य (दक्षिणपश्चिम)	पश्चिम	वायव्य (उत्तरपश्चिम)	उत्तर	ईशान (उत्तरपूर्व)
फल[3]	श्रीवृद्धि	दाह	मरण	धनहानि	पुत्रक्षय	प्रवास	धनलाभ	विद्यालाभ
अथवा फल[4]	वृद्धि	मृत्युशोक	गृह क्षय	धनहानि	कीर्ति नाश	उद्वेग	धनदा	श्रीसुख

यहाँ दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में ढालवाली भूमि को अशुभ फलदायक कहा गया है। जबकि उपर्युक्त गर्गमुनि के मत के साथ ही वराहमिहिराचार्य[5] का भी यही अभिमत है कि वैश्यवर्ण के लिए दक्षिणी ढ़लानयुक्त भूमि तथा शूद्रवर्ण के लिए पश्चिमी ढ़लानयुक्त भूमि उपयुक्त है। अतः परस्पर विसंगति दृष्टिगोचर हो रही है, परन्तु इसका परिहार यह है कि उत्तर, ईशान (उत्तरपूर्व) एवं वायव्य (उत्तरपश्चिम) दिशाओं में भूमि ऊँची हो तो दक्षिण में नीची होने पर भी 'चरवास्तु' संज्ञक भूमि वैश्यों के लिए शुभदायी होती है। इसी प्रकार ईशान (उत्तरपूर्व), पूर्व एवं

१. तत्रैव/८८
२. गर्गवचन उद्धृत वास्तुसार पृ०१५
३. बृ०दै०र० ८६/३५–३६
४. बृ० वास्तुमाला पृ० ११ श्लोक ३७–३६
५. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय/६१

आग्नेय (दक्षिणपूर्व) दिशाओं में भूमि ऊँची हो तो पश्चिम में नीची होने पर भी 'श्वमुखवास्तु' संज्ञक भूमि शूद्रों के लिए उत्तम होती है। कुछ विद्वानों का विचार है कि ब्राह्मणवर्ग से तात्पर्य बुद्धिजीवी, वैज्ञानिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तियों से है। इसी प्रकार क्षत्रिय का तात्पर्य शासक, मन्त्री, राज्याधिकारी, सेना, पुलिस एवं प्रशासनाधिकारी , वैश्य से तात्पर्य व्यापारी, व्यावसायिक वर्ग, वाणिज्यिक संस्थान, व्यावसायिक केन्द्र इत्यादि तथा शूद्रवर्ण से तात्पर्य श्रमिक, सेवक आदि से है।

भूमि की ऊँचाई एवं ढलान के अनुसार आठ वीथियों का वर्णन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मिलता है। यथा[1]–

क्र०	वीथी नाम	दिशा ऊँचाई	दिशा ढ़लान	फल
१	गोवीथी	पश्चिम	पूर्व	शुभ
२	जलवीथी	पूर्व	पश्चिम	अशुभ
३	यमवीथी	उत्तर	दक्षिण	अशुभ
४	गजवीथी	दक्षिण	उत्तर	शुभ
५	भूतवीथी	ईशान (उत्तर–पूर्व)	नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम)	अशुभ
६	नागवीर्था	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	वायव्य (उत्तर–पश्चिम)	अशुभ
७	वैश्वानरवीथी	वायव्य (उत्तर–पश्चिम)	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	शुभ
८	धनवीथी	नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम)	ईशान (उत्तर–पूर्व)	शुभ

इसी प्रकार भूमि की चार पृष्ठ संज्ञाएं भी प्रचलित हैं। यथा[2]–

क्र०	भूमि संज्ञा	दिशा ऊँचाई	दिशा ढ़लान	फल
१	गजपृष्ठ	दक्षिण, पश्चिम, नैर्ऋत्य(दक्षिण–पश्चिम), वायव्य (उत्तर–पश्चिम)	–	लक्ष्मी प्राप्ति एवं आयुवृद्धि
२	कूर्मपृष्ठ	भूमि मध्य	चारों ओर	उत्साह व धनधान्य
३	दैत्यपृष्ठ	पूर्व, आग्नेय (दक्षिण–पूर्व) ईशान (उत्तर–पूर्व)	पश्चिम	धन, पशु एवं पुत्र हानि
४	नागपृष्ठ	पूर्व–पश्चिम – लम्बी उत्तर–दक्षिण – ऊँची	मध्य	उच्चाटन, मृत्युभय, शत्रुवृद्धि, स्त्रीपुत्रादि हानि

१. बृ०वा०मा० पृ० १२–१३ श्लोक ४२–४६
२. बृ०दै०र० ८६/४३–५०

वास्तुनाम के अनुसार शुभाशुभ लक्षण [1] –

क्र०	वास्तु संज्ञा	दिशा ऊँचाई	दिशा ढ़लान	फल
१	पितामह	पूर्व–आग्नेय के मध्य	उत्तर–वायव्य के मध्य	शुभ
२	सुपन्थ	दक्षिण–आग्नेय के मध्य	पश्चिम–वायव्य के मध्य	प्रशस्त
३	दीर्घायु	दक्षिण–नैर्ऋत्य के मध्य	उत्तर–ईशान के मध्य	कुलवृद्धि
४	पुण्यक	पश्चिम–नैर्ऋत्य के मध्य	पूर्व–ईशान के मध्य	शुभ
५	अपथ	पश्चिम–वायव्य के मध्य	पूर्व–आग्नेय के मध्य	शत्रुता,कलह
६	रोगकृत्	उत्तर–वायव्य के मध्य	दक्षिण–आग्नेय के मध्य	रोग–व्याधि
७	अर्गल	उत्तर–ईशान के मध्य	दक्षिण–नैर्ऋत्य के मध्य	महापापनाशक
८	श्मशान	पूर्व–ईशान के मध्य	पश्चिम–नैर्ऋत्य के मध्य	कुलनाश
९	श्येनक	नैर्ऋत्य,ईशान व वायव्य	आग्नेय	मृत्यु, विनाश
१०	स्वमुख	ईशान, आग्नेय व वायव्य	नैर्ऋत्य	दरिद्रता
११	ब्रह्मघ्न	नैर्ऋत्य, आग्नेय व ईशान	पूर्व एवं आग्नेय	प्राणभय
१२	स्थावर	आग्नेय	नैर्ऋत्य,ईशान व वायव्य	शुभ
१३	स्थण्डिल	नैर्ऋत्य	आग्नेय,वायव्य व ईशान	शुभ
१४	शाण्डुल	ईशान	आग्नेय,वायव्य व नैर्ऋत्य	अशुभ
१५	सुस्थान	नैर्ऋत्य, आग्नेय व ईशान	वायव्य	ब्राह्मण हेतु शुभ
१६	सुतल	पश्चिम, नैर्ऋत्य व आग्नेय	पूर्व	राष्ट्र वृद्धिकारक (क्षत्रिय को शुभ)
१७	चर	उत्तर, ईशान व वायव्य	दक्षिण	वैश्य हेतु शुभ
१८	श्वमुख	ईशान, पूर्व व आग्नेय	पश्चिम	शूद्र हेतु शुभ

२. प्रशस्त एवं दूषित भूमि - भवननिर्माण हेतु वह भूमि अच्छी होती है जिसकी मिट्टी उपजाऊ, चिकनी, ठोस, सुगन्धित एवं समतल हो। जिस भूमि पर अच्छी औषधियाँ व पेड़ – पौधे उगते हों, जिस पर थके हुए व्यक्ति को बैठने से शान्ति मिले – ऐसी भूमि भवननिर्माण हेतु उपयुक्त होती है।[2] इसके विपरीत फटी हुई भूमि, जिसके अन्दर हड्डियाँ हों, दीमक से युक्त, श्मशान या कब्रिस्तान, ऊबड़–खाबड़ तथा दलदलयुक्त भूमि त्याग देनी चाहिए। इसी प्रकार ऊसर, विषम, चैत्याकार, टीलों वाली, गड्ढे वाली तथा कछुए की आकृति वाली भूमि भी शुभ नहीं होती है।[3]

---

१. बृ०वा०माला पृ०१३ श्लोक ४७–६४

२. बृ०सं० ५२/८६

३. बृ०वा०माला पृ०१६ श्लोक ७६–८१

वस्तुतः भूखण्डों के आधार पर पर्याप्त विचार आवश्यक है क्योंकि आकृति के अनुरूप भी शुभाशुभ फल निवासकर्ता को मिलता है। यथा[1] –

क्र०	भूखण्ड-आकृति	विशेषता	फल
१	वर्गाकार	चारों भुजाओं की लम्बाई समानं व प्रत्येक कोण समकोण होता है।	धनागम
२	आयताकार	आमने सामने की भुजाओं की लम्बाई समान और चारों कोण समकोण होते हैं। लम्बाई व चौडाई का अनुपात २:१ से अधिक न हो।	सर्वसिद्धि । कुछ विद्वानों[2] के मतानुसार चन्द्रवेधी–शुभ सूर्यवेधी–अशुभ
३	वृत्ताकार	वृत्ताकार भूमि में वृत्ताकार भवननिर्माण ही शुभ होता है।	बुद्धिवृद्धि
४	भद्रासन	वर्गाकार भूखण्ड व बीच का भाग समतल हो। कुछ विद्वानों के अनुसार अष्टकमलदल की आकृति भद्रासन है।	शुभ, कल्याण
५	चक्राकार	अनेक कोणों एवं भुजाओं वाला चक्र के समान आकार वाला भूखण्ड।	दरिद्रता
६	विषम	असमान भुजाओं एवं विषम भूमि	शोक
७	त्रिकोणाकार	त्रिभुज की आकृति	राजकीय भय
८	शकटाकार	बैलगाड़ी या रथ की आकृति	धनक्षय
९	दण्डाकार	दण्ड की आकृति	पशुक्षय
१०	सूपाकार	मार्ग की ओर सूप एवं पीछे की ओर अर्धचन्द्राकार	गोधनक्षय
११	कूर्माकार	कछुए की पीठ जैसी आकृति	बन्धनपीड़ा
१२	धनुषाकार	धनुष जैसी अर्धचन्द्राकार आकृति	भय
१३	कुम्भाकार	घडा, मटका या कलश जैसी आकृति	कुष्ठरोग
१४	पवनाकार	हाथ से झलने वाले पंखे जैसी आकृति	नेत्रकष्ट व धननाश
१५	मुरजाकार	ढ़ोलक, मृदंग जैसी आकृति	बान्धवक्षय

इनके अतिरिक्त भी निम्न आकृतियों का विचार समुचित है[3] –

---

१. बृ०दै०र० ८६/५१–५४

२. पूर्वपश्चिमतो दैर्घ्यं संवाददक्षिणोत्तरम्।
शुभावहं चन्द्रविद्धं सूर्यविद्धं न शोभन।।
अर्थात् पूर्व से पश्चिम में भूखण्ड की चौडाई से, उत्तर से दक्षिण की चौडाई सवागुना हो तो चन्द्रवेधी होता है। उत्तर से दक्षिण की चौडाई से सवा गुना पूर्व से पश्चिम की हो तो सूर्यवेधी भूखण्ड होता है। –भारतीय वास्तुशास्त्र पृ० ५०–५१

३. भारतीय वास्तुशास्त्र पृ० ५०–६०

क्र०	भूखण्ड-आकृति	विशेषता	फल
१	गोमुखी	गाय के मुख जैसी आकृति	आवास हेतु शुभ व्यापार हेतु अशुभ
२	सिंहमुखी या बृहन्मुखी	सिंह के मुख के जैसी विस्तृत आकृति	आवास हेतु अशुभ व्यापार हेतु शुभ
३	चतुष्कोण	आमने सामने की भुजाओं की लम्बाई एवं कोण बराबर हों परन्तु समकोण न हों।	सुख, धनधान्य
४	षड्भुजाकार	छह भुजाओं वाली भूमि	उन्नतिकारक
५	अष्टभुजाकार	आठ भुजाओं वाली भूमि	सुख, सम्पत्ति
६	अर्धवृत्ताकार	सूपाकार के विपरीत आकृति	विकास बाधा, चोरभय
७	अण्डाकार	दीर्घवृत्ताकार या अण्डे जैसी आकृति	हानि, दरिद्रता परन्तु त्यागियों के लिए शुभ।
८	ताराकार	तारे के समान आकृति	असफलता, विवाद
६	त्रिशूलाकार	त्रिशूल जैसी आकृति	अशान्ति, संघर्ष परन्तु वीरप्रसू भूमि।
१०	पक्षीमुखी	पक्षी के मुख के समान आकृति	हानि, दुर्घटना
११	ध्वजाकार	ध्वज या पताका के जैसी आकृति	यश, सम्मान
१२	मुद्गराकार	मुद्गर जैसी आकृति	अशुभ

वस्तुतः जिस भूमि पर जाने से मन एवं नेत्र संतुष्ट हों , उस पर निवास करना शुभ होता है।[1] परन्तु भूखण्ड खरीदते समय उपर्युक्त भूमिचयन की पद्धति का विचार करना श्रेयस्कर है।

३. जीवित भूमि ज्ञान - भूमि की लम्बाई व चौडाई की संख्या को जोडकर उसमें ग्राम/नगर की नामाक्षर संख्या मिलाकर ४ से, गुणा कर पुनः निवास इच्छुक व्यक्ति के नामाक्षर संख्या को जोडकर ३ का भाग दें। एक शेष में जीवित भूमि, दो शेष में समता और शून्य शेष में शून्यता जाननी चाहिए।[2]

---

१. बृ०वा०मा० पृ० २० श्लोक ६३
२. तत्रैव पृ० २१ श्लोक ६७–६८

अथवा ग्राम/नगर की नामाक्षर संख्या को ४ से गुणाकर गुणनफल में प्रश्नकाल की तिथि संख्या एवं वार संख्या जोडकर ३ से भाग देने से एक शेष में जीवित भूमि, दो शेष में समता और शून्य शेष में मृत अवस्था जाननी चाहिए।[1] वस्तुतः जिस भूमि पर वृक्ष उगे हों , कृषि से उत्पन्न उपज हर्षदायक हो, घास की हरीतिमा मन को मुग्ध करे – वह जीवित भूमि है। इसके विपरीत ऊसर, वृक्षहीन, जहाँ वृक्ष लगाने पर सूख जाय, घास न हों, कंटीली झाडियाँ उत्पन्न हों उस भूमि को मृत जानना चाहिए।[2]

४. भूमि का शुभाशुभ ज्ञान - वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में भूमि के शुभाशुभत्व को जानने की कई प्रविधियाँ वर्णित हैं। जिनमें से कुछ निम्न हैं–

१. भवननिर्माण हेतु चयनित भूमि के मध्य भाग में निवास इच्छुक व्यक्ति के हाथ की नाप से एक घन हस्त (१×१×१) का गड्ढा खोदें। पुनः निकाली गई मिट्टी से गड्ढ़े को भर दें। यदि गड्ढ़ा भरने पर भी मिट्टी बचे तो भूमि शुभ, गड्ढ़ा पूर्ण भरे तो सम तथा गड्ढ़ा भरने के लिए मिट्टी कम हो तो अशुभ जानना चाहिए।[3]

२. पूर्वोक्त प्रकार से एक घन हस्त (१×१×१) का गड्ढा खोदकर जल से पूर्ण भर दें। जल भरते ही उस गड्ढ़े के पास से १०० कदम दूर जाकर लौटें। यदि गड्ढ़ा पूर्ण भरा मिले या उसमें पर्याप्त पानी रहे तो शुभ, यदि गड्ढ़ा आधे से अधिक भरा मिले तो सम तथा यदि गड्ढ़ा सूखा मिले या पानी कम रहे तो अशुभ जानना चाहिए।[4]

३. सायंकाल एक घन हस्त (१×१×१) का गड्ढा खोदकर जल से पूर्ण भर दें। प्रातः यदि जल शेष मिले तो भूमि उत्तम, कीचड बचे तो मध्यम तथा शुष्क व भूमि फटी दिखे तो हानिकारक होती है।[5]

४. उपर्युक्त गड्ढे का जल यदि स्थिर रहे तो घर में स्थिरता , जल का भ्रमण दक्षिणावर्त हो तो सुख, वामावर्त हो तो भ्रमण तथा शीघ्र सूख जाय तो मृत्युभय रहता है।[6]

५. मिट्टी के चार दीपक जलाकर गड्ढ़े में चार दिशाओं की ओर रखें। जिस दिशा की बत्ती अधिक स्वच्छ लौं वाली रहे व देर तक जले तो उसी दिशा के वर्ण के लिए भूमि को शुभ जानना चाहिंए। उत्तरदिशा ब्राह्मण, पूर्वदिशा क्षत्रिय, दक्षिणदिशा वैश्य एवं

---

१. तत्रैव पृ० २२ श्लोक ६६–१००
२. बृ०वा०मा० पृ० २२ श्लोक १०१
३. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक ६२
४. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक ६३
५. सं० शि० २०/३६
६. तत्रैव श्लोक ४०

पश्चिमदिशा शूद्रवर्ण के लिए शुभ कही गई है।[1]

६. सायंकाल एक घन हस्त (१×१×१) का गड्ढा खोदकर उसमें क्रमशः सफेद, लाल, पीला एवं काला फूल क्रमशः उत्तर, पूर्व, दक्षिण व पश्चिम दिशा में रखें।

अगले दिन प्रातः जिस दिशा का फूल सबसे कम मुरझाया हो , उसी वर्ण के लिए वह भूमि प्रशस्त व शुभ होती है।[2] वस्तुतः जहाँ मन रम जाए, शान्त रहे, मन में सन्तोष हो उस भूमि में रहना चाहिए। तब विशेष विचार की आवश्यकता नहीं होती है।

शल्यज्ञान व शल्योद्धार

शल्य का अर्थ है बाण अर्थात् पीड़ादायक। वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से शल्य से अभिप्राय भूमि के अन्दर स्थित हड्डी, कोयला, राख इत्यादि अमांगलिक विजातीय पदार्थों से है जो गृहस्वामी के लिए कष्टदायी होते हैं। वराहमिहिर के अनुसार लकडी या कोयले का शल्य धनहानिकारक तथा हड्डी का शल्य रोगभयकारक होता है। यदि वास्तुपुरुष के मर्म स्थान पर खूंटी आदि हो तो भी दोषकारक होता है।[3] भूमि के सजातीय पदार्थ पत्थर, ईट आदि प्राप्त होना शुभ है परन्तु कपाल, कोयला, केश, पिपीलिका(चींटी), मेंढक, तुष(भूसा), हड्डी, राख, अण्डपिण्ड, सर्प, कौडी या सिक्का, कपास (रुई), जली हुई लकडी, मिट्टी के वर्तन के टुकडे, लोहा इत्यादि विजातीय पदार्थ अर्थात् शल्य गृहस्वामी के लिए कष्टदायी होते हैं।[4] भूमि के अन्दर गाय की हड्डी से राजभय, घोडे की हड्डी से रोगभय, कुत्ते की हड्ड़ी से कलह व विनाशभय, गधे और ऊँट की हड्डी से हानि व संततिनाशभय तथा बकरे की हड्डी से अग्निभय होता है।[5] इस प्रकार जो भूमि शल्ययुक्त हो, उस पर भवननिर्माण करने पर निवासकर्ता को शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक कष्ट होते हैं। अतः भूमि में स्थित शल्य को निकालना आवश्यक होता है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में अनेक प्रकार से शल्यज्ञान विधि कही गई है। जिनमें से कुछ महत्वपूर्ण विधियाँ निम्न हैं–

१. गृहनिर्माण के समय अथवा गृहनिर्माण के बाद गृहस्वामी प्रधान स्थपति (मिस्त्री) एवं दैवज्ञ के साथ गृह के अन्दर प्रवेश करे। उस समय गृहस्वामी शरीर के जिस अंग को खुजलाए, उसी अंग में वास्तुपुरुष के शरीर विभाग के अनुसार शल्य होता है। अथवा गृहस्वामी भवन के जिस हिस्से में खड़ा हो जाए, उसी स्थान पर शल्य होता है। निर्माणाधीन भवन में प्रवेश करते समय कोई पक्षी सूर्याभिमुख होकर दीप्तदिशा में कठोर स्वर करे तो गृहस्वामी द्वारा उस समय

---

१. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक ६४
२. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक ६५
३. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक १०५–१०७
४. उदधृत बृ०वा०मा० पृ०३६ श्लोक १७१–१७२
५. तंत्रैव पृ० ३६ श्लोक १७४–१८४

स्पृष्ट अंग के समान ,वास्तुपुरुष के अंग में हड्डी का शल्य होता है। अथवा शल्य परीक्षा के निमित्त, गृहप्रवेश करते समय हाथी, घोड़ा, कुत्ता, बिल्ली आदि पशु सूर्याभिमुख होकर शब्द करें तो गृहस्वामी जहाँ पर खड़ा हो वहीं पर शल्य होता है।[1]

२. गृहेश द्वारा शल्यज्ञान हेतु पूछे जाने पर उनसे किसी देवता, वृक्ष और फल का नाम पूछना चाहिए। उन नामों के प्रथमाक्षर जिस दिशा में हो उन दिशाओं में क्रमशः काष्ठ, लोहा एवं हड्डी कहनी चाहिए। नामाक्षर दिशा जानने हेतु निम्नचक्र देखें[2] –

ईशान		पूर्व		आग्नेय
	प, फ, ब, भ, म	अ, इ, उ, ऋ, लृ	क, ख, ग, घ, ङ	
उत्तर	श, ष, स, ह	य, र, ल, व	च, छ, ज, झ, ञ	दक्षिण
	त, थ, द, ध, न	ए, ऐ, ओ, औ	ट, ठ, ड, ढ, ण	
वायव्य		पश्चिम		नैर्ऋत्य

३. ज्योतिर्निबन्ध[3] के अनुसार – अपने इष्टदेव को स्मरण कर प्रश्नकर्ता द्वारा पूछे गए प्रश्न के प्रथमाक्षर द्वारा शल्याशल्य का ज्ञान निम्न प्रकार से करना चाहिए।

क्र.	प्रश्न का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्यस्थिति	शुभाशुभ फल
१	अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	पूर्व	मनुष्य की हड्डी, डेढ़ हाथ नीचे	मृत्युदायक
२	क, ख, ग, घ, ङ	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	गधे की हड्डी, दो हाथ नीचे	राजदण्डभय
३	च, छ, ज, झ, ञ	दक्षिण	मनुष्य की हड्डी, कमर पर्यन्त नीचे	लम्बी बीमारी के बाद मृत्यु
४	ट, ठ, ड, ढ, ण	नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम)	कुत्ते की हड्डी, डेढ़ हाथ नीचे	घर में उत्पन्न बच्चों के लिए मृत्युकारक
५	त, थ, द, ध, न	पश्चिम डेढ़ हाथ नीचे	बच्चे की हड्डी, (घर से बेघर)	गृहच्युत
६	फ, ब, भ, म	वायव्य (पश्चिम–उत्तर)	भूसी,कोयला आदि चार हाथ नीचे	मित्रनाश व दुःस्वप्न

१. बृहत्संहिता वास्तुविद्याध्याय श्लोक ६०
२. संग्रह शिरोमणि २०/४३–४६
३. बृ०वा०मा० पृ० ३८ श्लोक १७३

क्र.	प्रश्न का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्यस्थिति	शुभाशुभ फल
७	य, व, र, ल	उत्तर कमर पर्यन्त नीचे	ब्राह्मण की हड्डी,	निर्धनता
८	श, ष, स	ईशान (उत्तर–पूर्व) डेढ़ हाथ नीचे	गाय की हड्डी,	गोधननाश
९	प और ह	मध्यभाग	मानव कपाल की हड्डी व केश, भस्म, लोहा आदि कमर पर्यन्त नीचे	कुलनाश

४. वास्तुरत्नाकर[1] में ग्रन्थान्तर से निम्न विधि उल्लिखित है– भूखण्ड में ९ भागों का कोष्ठक बनाएं। जिनमें निम्न प्रकार से अक्षरों का विन्यास करें।

ईशान	पूर्व	आग्नेय
य	व	क
उत्तर स	प	च दक्षिण
ह	ए	त
वायव्य	पश्चिम	नैर्ऋत्य

तत्पश्चात् ब्राह्मण पुष्पों का, क्षत्रिय नदियों का, वैश्य देवों का तथा अन्यवर्ग फलों का नाम उच्चारित करें। भूस्वामी द्वारा उच्चारित पुष्पादि के नाम के प्रथमाक्षर उपर्युक्त कोष्ठक के अक्षरों में से होने पर दिशानुसार शल्यज्ञान होता है। अन्य अक्षर होने पर शल्य नहीं होता है। इसके बाद " ॐ धरणी विदारणा भूत्वे स्वाहा " इस मन्त्र को ३ बार पढ़कर (मतान्तर से ३ ब्राह्मणों द्वारा ३००० बार जापकर) अक्षत लेकर भूमि को स्पर्श करते हुए निम्न प्रकार से शुभाशुभ फल का विचार करना चाहिए–

नाम का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्य स्थिति	शुभाशुभ फल
व	पूर्व	मनुष्य की हड्डी, डेढ़ हाथ नीचे	मृत्युदायक
क	आग्नेय (दक्षिण–पूर्व)	गधे की हड्डी , कमर पर्यन्त नीचे	राजदण्डभय

१. वास्तुरत्नाकर ३/२७ पृ० २५–२६

नाम का प्रथमाक्षर	दिशा	शल्य स्थिति	शुभाशुभ फल
च	दक्षिण	बन्दर की हड्डी , कमर पर्यन्त नीचे	मृत्यु
त	नैर्ऋत्य (दक्षिण–पश्चिम)	घोड़े की हड्डी , डेढ़ हाथ नीचे	धननाश
ए	पश्चिम	बच्चे की हड्डी , डेढ़ हाथ नीचे	प्रवास, चोरी
ह	वायव्य (पश्चिम–उत्तर)	मनुष्य की हड्डी , डेढ़ हाथ नीचे	दुःस्वप्न
स	उत्तर	ब्राह्मण की हड्डी,कमर पर्यन्त नीचे	निर्धनता
य	ईशान (उत्तर–पूर्व)	भालू की हड्डी , डेढ़ हाथ नीचे	गोधननाश
प	मध्यभाग	मानव कपाल की हड्डी व केश, भस्म, शल्य हृदय पर्यन्त नीचे	कुलनाश

इस प्रकार शल्यज्ञान हो जाने पर शल्योद्धार अर्थात् शल्य निकाल देना चाहिए। शल्योद्धार का सबसे अच्छा उपाय यह है कि भूखण्ड की मिट्टी को पुरुष प्रमाण अर्थात् साढ़े तीन हाथ तक गहरा खोदकर निकलवा देना चाहिए। उसी मिट्टी को छानकर अथवा अन्यत्र से अच्छी एवं शल्यरहित मिट्टी लाकर भरवा देना चाहिए। तदनन्तर ही उसके ऊपर भवन निर्माण करना चाहिए। साढ़े तीन हाथ नीचे यदि शल्य भी रहे तो दोषदायक नहीं होता है, ऐसा वास्तुशास्त्रियों का मत है। यदि भूखण्ड की मिट्टी उत्तम न हो अर्थात् पोली हो तो साढ़े तीन हाथ तक मिट्टी खुदवाकर गड्ढ़े को पत्थर के बड़े टुकड़ों से भरवाकर मिट्टी डलवाकर ऊपर से पानी डलवा देना चाहिए। ऐसा करने से भूखण्ड का घनत्व बढ़ जाता है।[१]

भूमि शुद्धि -

मनु के अनुसार सम्मार्जन करना, लीपना पोतना, सींचना, खोदना और गायों को ठहराना इन पाँच प्रकारों से भूमि की शुद्धि करनी चाहिए।[२] बृहत्संहिता के अनुसार[३] गृहनिर्माण शुरू करने से पूर्व भूमिशुद्धि आवश्यक है। हल जोतने से अथवा बीज बोकर तीसरे दिन जौ आदि के अंकुर फूटने से अथवा गायों के झुंड को वहाँ बैठाने से अथवा ब्राह्मणों के साथ एक रात वहाँ रह जाने से भूमि शुद्ध होती है।

---

१. भार० वास्तुशास्त्र पृ० ८०
२. मनुस्मृति ५/१२४ उदधृत वास्तुरत्नाकर १/७६
३. बृ० सं० ५२/६६

मन्दिर वास्तुकला

डॉ. सर्वेन्द्र कुमार

'मन्द्यतेऽत्र मन्द् किरच्'[१] के अनुसार किसी गृह या वास स्थान को मन्दिर कहा गया है। मन्दिर शब्द की व्युत्पत्ति 'मंद्' शब्द से मानी गयी है। 'मंद' का अर्थ होता है - प्रसन्न होना, चमकना या सोना। 'मंद्' से ही 'मंदर' या 'मंदार' आदि शब्द व्युत्पन्न हुए हैं। महाकाव्यों, सूत्रगृन्थों, कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों में मन्दिर के लिए देवालय, देवायतन[२], देवकुल, देवगृह आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। वास्तुशास्त्रीय इतिहास में मन्दिर के अर्थ में 'प्रासाद' शब्द का ग्रहण उत्तर भारत में विशेष रूप से मिलता है। दक्षिण-भारत में मन्दिर के लिए विमान, हर्म्य और प्रासाद शब्दों का प्रयोग हुआ है। वैसे 'हर्म्य' शब्द वेदों में भी आया है, किन्तु उसका प्रयोग निवास-स्थल या 'किले' के रूप में हुआ है।[३] भोज का 'समराङ्गणसूत्रधार' नामक ग्रन्थ किसी मकान की ऊपरी मंजिल को ही 'हर्म्य'[४] मानता है। इस प्रकार प्राचीन भारत में प्रयुक्त देवालय, देवस्थान, प्रासाद, हर्म्य, विमान आदि शब्दावली मन्दिर के पर्याय के रूप में वर्णित है। अंग्रेजी में इसके लिए 'टेम्पल' शब्द मिलता है, जो लैटिन भाषा के 'टेम्पलम्' शब्द से व्युत्पन्न है। इसका शाब्दिक अर्थ आयताकार देवालय होता है।[५] रस्किन ने टेम्पल की परिभाषा ऐसे भवन के रूप में की है, जहाँ पूजा कार्य सम्पन्न किये जाते हों।[६]

भारतीय आचार्यों के मत में भी इस शब्द का प्रयोग मुख्य रूप से धार्मिक देवस्थल के रूप में नहीं किया गया है। 'विश्वकर्म प्रकाश' के अनुसार 'प्रस्तर' के बने निवास के लिए 'मन्दिर' शब्द का प्रयोग किया गया है।[७] कालान्तर में मन्दिर की भारतीय धारणा में बतलाया गया है कि

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७७६
२. रामायण-१, ५,१०-१५
३. ऋग्वेद, त्यं चिदस्य.......तमसि हर्म्यो धाः।।, ५,३२/५; ७,५५/६; ९,७१/४
४. समङ्गणसूत्रधार - १३-१०
५. Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. १२, pp. २३६.३७
६. The Canons of Indian Art, p. २२४
७. विश्वकर्मप्रकाश, ४-१३

मन्दिर किसी देवता का निवास स्थान नहीं है, अपितु स्वयं देवता है। इसके अनुसार मन्दिर देवता का शरीर और उसमें मन रूपी अमूर्त देवता एकान्तिक-चिन्तन और मनन के लिए विद्यमान होता है। इस प्रकार इस निर्माण के पीछे कलाविदों का यह विचार है कि जो परमात्मा मनुष्य के शरीर में सूक्ष्म रूप से विराजमान है, देवालयों में उसी की प्राण प्रतिष्ठा होती है। उस अमूर्त परमात्मा को कलाकारों ने अनेक सौन्दर्यात्मक, कलात्मक एवं धार्मिक रूप देकर मूर्ति के आकार में एक प्रतीक के रूप में गर्भगृह में रखा। इस प्रकार मन्दिर का स्वरूप वही है जो मानव-शरीर का है।[१] 'हयशीर्ष पाञ्चरात्र' नामक ग्रन्थ में मन्दिर की कल्पना मानव शरीर के रूप में स्पष्ट रूप से की गई है। बाद के कलाविदों ने अपने इष्टदेव के देवालय को एक मानवाकृति आधार प्रदान किया है और बताया है कि जिस चबूतरे पर मन्दिर निर्माण होता है, वह पाद उसके ऊपर का भाग पैर तथा जंघा कहा गया है। जहाँ से मन्दिर का भीतरी भाग दिखायी पड़े, वहाँ कटि मानी गयी है। भीतरी भाग को उदररूप, छत के ऊपर छाती और उससे थोड़े ऊपर स्कन्ध माने गये हैं। सामने की ओर शुकनासा, मन्दिर शिखर को सिर तथा आमलक सहित शीर्ष को शिखर की संज्ञा दी गयी है।[२] **सर्वतत्त्वमयी यस्मात् प्रासादो भास्करी.........ज्ञेया प्रासादो भास्करस्मृतः।।**[३]

समस्त मन्दिर को ही देवत्व प्रदान करने की धारणा को 'अग्निपुराण'[४] अधिक अमूर्तता, प्रतीकात्मकता एवं गम्भीरता से उठाता है। शिव केवल गर्भगृह का ही देवता नहीं, अपितु सारा मन्दिर ही शिवत्व ग्रहण किये हुए है। यह इस बात का प्रतीक है कि पिण्ड ही ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड ही पिण्ड है। मन्दिर की पीठ ब्रह्माण्ड है जिसमें भूमि, पाताल, नरक एवं लोकपाल सम्मिलित हैं। जङ्घा पंचभूत है, मंजरी और वेदिका चार विद्याएँ हैं, कण्ठ रुद्र सहित माया है, अमलसार विद्या है, कलश बिन्दु एवं विद्येश्वर सहित ईश्वर है। शूल-अर्द्धचन्द्र और तीन शक्तियाँ हैं, दण्ड नाद है तथा ध्वज कुण्डलिनी-शक्ति है।

मन्दिरों की उपादेयता एवं महत्ता

'हिन्दू-धर्म' में मन्दिर-निर्माण, पारलौकिक कार्य को ध्यान में रखकर किया जाता है। भक्तजन इष्टदेव के दर्शनार्थ वहाँ एकत्रित होते हैं। अतएव गर्भगृह के बाद ऐसे मण्डप की

---

१. The Canons of Indian Art, p. २२४
२. प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ० २००
३. हयशीर्ष पाञ्चरात्र, पृ० ३९
४. प्रासादो वासुदेवस्य मूर्त्तिरूपो निबोध मे।
धारणद्धरणीं विद्धि आकाशं सुषिरात्मकम्।
तेजस्तत् पावकं..................................
उर्ध्वभागेस्थितो विष्णुरेवं तस्य स्थितस्य हि। अग्निपुराण - ६१/१९-२७, पृ० १२९-३०

आवश्यकता हुई, जहाँ भक्तगण आराधना कर सकें और उपदेश सुन सकें। ऐसे मण्डप के निर्माण से निम्न कार्यों में सहायता प्राप्त हुई[१] -

विद्वत् परिषद् का स्थल - इन स्थलों पर विद्वान् एकत्र होकर सामाजिक तथा धार्मिक विषयों पर विशिष्ट विवेचन एवं शास्त्रार्थ कर तत्त्वबोध का पता लगाते थे।

व्यासकथा का स्थल - धार्मिक प्रवचनों के लिए मन्दिर स्थल को चुना जाता था, क्योंकि वहाँ का वातावरण धार्मिक होने के साथ-साथ जनसामान्य इष्टदेव के सामने एकत्रित होकर शान्तचित्त से व्यास द्वारा कथित कथाओं का श्रवण करते रहें।

शिक्षण का स्थल - मन्दिरों में शिक्षा की भी व्यवस्था थी। धनाढ्य व्यक्ति मन्दिर का निर्माण करवाते और धर्मग्रन्थों के पठन-पाठन की व्यवस्था करवाते थे। इन्हीं के अनुकरण पर इस्लाम धर्म के मकतब, मस्जिदों में स्थापित किये गये। गिरजाघरों में 'पादरी' 'बाइविल' पढ़ाता था। व्यक्तियों की संख्या बढ़ने पर शिक्षा संस्थाएँ समीप में बनाई गई और समीपस्थ गिरजाघर प्रार्थना के प्रयोग में लाए गये।

राजाओं के जनसम्मेलन स्थल - शासनकर्ता राजाओं के सम्मुख प्रजाजन द्वारा कष्टों का वर्णन करने तथा उनके समाधान ढूढ़ने की प्रथा भी प्राचीन काल में प्रचलित थी। उस कार्य के लिए मन्दिर का मण्डप ही समुचित स्थान था। यहाँ आराध्य देव के सामने राजा जनता की सुख-समृद्धि तथा नवीन योजनाओं के सम्बन्ध में वार्ता करता था।

राज-सभा का अधिवेशन स्थल - मन्दिरों के मण्डप में राजसभा के सदस्य एकत्रित होकर शासन सम्बन्धी विषयों पर चर्चा करते थे। वर्तमान में भी पंचायतें मन्दिर स्थलों के प्रांगण में बैठकें आयोजित करती हैं तथा अनेक विषयों पर निर्णय भी लेती हैं। यद्यपि वासुदेवशरण उपाध्याय ने अपने इन निरीक्षणों के साक्ष्य में कोई निश्चित प्रमाण प्रस्तुत नहीं किये हैं, ऐसा उन्होंने सोद्देश्य किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। मन्दिर और उसके अन्तर्निहित क्रियाकलापों का जिन्हें अल्पज्ञान है, वह भी उन निष्कर्षों से असहमति नहीं रखता होगा।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि मन्दिर न केवल देवगृह थे, अपितु स्वयं देवस्वरूप भी थे। यदा-कदा धार्मिक स्थानों पर शासकवर्ग एकत्र होता रहा। इन अवसरों पर शासकगण अनेक धार्मिक एवं जनहितकारी कार्यों की घोषणा करते रहे। जूनागढ़ अभिलेख में स्कन्दगुप्त ने मन्दिर निर्माण के साथ ही बाँध के पुनर्निर्माण की भी घोषणा की।[२] हर्ष तो प्रयाग/कन्नौज में धार्मिक कार्यों

---

१. प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ० २०१-२०२

२. Malwa through Ages, p. २४०

के निमित्त भारी राशि व्यय करता था।[१] अशोक ने लुम्बिनी की यात्रा कर वहाँ के निवासियों से लिए जाने वाले करों में सुविधा दी थी।[२] धार की भोजशाला इस तथ्य का प्रमाण है कि मन्दिर अथवा धर्मदर्शनों का प्रयोग शिक्षा संस्थानों के रूप में भी होता था। इसी प्रकार मन्दिर के सभामण्डपों का प्रयोग, भजन, कीर्तन, नृत्य, संगीत, आदि के लिए होता रहा। उड़ीसा के मन्दिरों के नट-मण्डप तो इन कार्यों के लिए सुरक्षित रहते थे। देवदासी पद्धति द्वारा मन्दिरों के साथ इन सांस्कृतिक गतिविधियों की अनिवार्यता सिद्ध होती है। 'मण्डप' जैसा कि नाम से विदित होता है कि इसके नीचे यज्ञ, सभा, सार्वजनिक कार्य, विवाह-संस्कार, धर्म-ग्रन्थ-वाचन, सत्संग, भजन-पूजन आदि होते थे। इन धार्मिक एवं सामाजिक आवश्यकताओं के कारण मण्डप अस्तित्व में आये, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि मन्दिर अपनी परिपूर्णता में न केवल एक पूजा का धार्मिक स्थल था, अपितु अनेक निजी एवं सार्वजनिक, सांस्कृतिक, तथा सामाजिक कार्यों का सम्पादन-कर्त्ता भी रहा है।

भारत में मन्दिरों के विकास क्रम की समीक्षा - भारत में मन्दिरों के विकास क्रम का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है।

(१) मन्दिरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त।

(२) मन्दिर-शिखरों का विकास।

(३) मन्दिर-विकास का ऐतिहासिक सर्वेक्षण।

मन्दिरों की उत्पत्ति के सिद्धान्त - मन्दिर उत्पत्ति से सम्बन्धित पुराविदों एवं कला समीक्षकों ने विभिन्न मत प्रकट किये हैं जो इस प्रकार हैं -

मूर्ति-पूजा से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त - ऐसी मान्यता है कि मन्दिर तभी सामने आये जब मूर्ति पूजा प्रारम्भ हुई। मन्दिरों के प्राचीन नाम देवकुल, देवगृह, देव-प्रासाद या देवायतन रहे हैं, जो यह स्पष्ट करते हैं कि जिस वस्तु में किसी-न-किसी देवता की मूर्ति स्थापित होती थी, वह मन्दिर होता था।[३] जिस तरह के स्थल निवास हेतु प्रयोग में लाये जाते थे, उसी प्रकार के स्थलों में देवता प्रतिष्ठापित किये गये क्योंकि भारतीयों ने सदैव ही मूर्तियों को देवता का प्रतीक माना है और अपने देव प्रतीकों को वे सर्वश्रेष्ठ निवासों में प्रतिष्ठापित अवश्य करते रहे होंगे।

---

१. हर्ष, पृ० १४४-४६

२. प्राचीन व मध्यकालीन भारत का सांस्कृतिक व राजनैतिक इतिहास, पृ० २९८

३. बौधायन गृह्यसूत्र - ३/३.९, पृ० ८१

पाश्चात्यों का मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त - इस मत को **हवेल**[१] ने प्रकट किया है कि भारत में मन्दिर निर्माण के पूर्व सम्भवतया आर्यों ने मेसोपोटामियां में **कोणीय** शिखरों से युक्त मन्दिर बनवाये। **लेयार्ड** द्वारा **निनेवा** (Nieveh) में **सेना शेरीब** (Sena-a-cherieb) के बनवाये हुए आठवीं शताब्दी ईसा पूर्व के एक मन्दिर का पता चला है। इसमें शिखर, **शंकु** तथा **गुम्बद** थे। लगभग २००० ई०पू० का इसी प्रकार का एक और मन्दिर **यूफ्रेटिस** की तराई में मिला है, जिससे यह रोचक तथ्य सामने आया कि **मित्तानी** आर्य वैदिक देवताओं के साथ-साथ ईश्वर अथवा अशतोरोथ जैसे असुर देवताओं की भी पूजा करते थे। २७५० ई०पू० की असुर शासक की जो सील मिली है, उससे जाना जा सकता है कि उस समय निमार्णों पर ऊँचे शिखर बनाने की परम्परा थी। अत: हवेल यह धारणा प्रकट करते हैं कि मन्दिर निर्माण की यह परम्परा आर्य लोग अपने साथ विदेशों से लाये।[२] हवेल ने जो प्रमाण प्रस्तुत किये हैं वे निश्चित ही चौंकाने वाले तथा पुरातत्त्वीय प्रमाणों पर आधारित हैं, किन्तु सिद्धान्त में यह कहीं नहीं स्पष्ट किया गया है कि मेसोपोटामियां में मन्दिरों की उत्पत्ति कैसे हुई।

इस प्रकार यह प्रमाणित नहीं होता कि मेसोपोटामियाँ के मन्दिरों ने भारत की ओर यात्रा की। कालमान की दृष्टि से भी यह मत इसलिए उचित नहीं है, क्योंकि मेसोपोटामियाँ के मन्दिरों और भारत के उस प्रकार के मन्दिरों के मध्य कई शताब्दियों का अन्तराल है। निर्माण एवं कला कौशल की दृष्टि से भी विदेशी एवं भारतीय मन्दिरों की वास्तुकला में पर्याप्त अन्तर देखने को मिलता है। विदेशी वास्तु में जहाँ मेहराबों, वितानों, तहखानों आदि के निर्माण में प्रस्तर खण्डों को मसाले से जोड़ते हुए गतिपूर्ण शक्ति सिद्धान्त के सहयोग का सन्तुलन किया गया था, वहीं भारतीय वास्तुकारों ने इस तकनीकी एवं वैज्ञानिक विकास से अलग अपनी पारम्परिक वास्तुकला-तकनीक का प्रयोग किया था। उनकी इस तकनीक में गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों का अत्यधिक प्रयोग करते हुए आड़े शिलाखण्डों का वजन खड़े भारी शिलाखण्डों पर डालकर वजन को पृथ्वी पर उतार दिया जाता था। इस कारण निर्माण मसालों से विहीन एवं शुष्क होता था। विदेशी इन्जीनियरिंग तथा गतिशील वैज्ञानिक पद्धति को स्वीकार करने की अपेक्षा भारतीयों ने एक उदात्त, सुन्दर एवं कलात्मकता से पूर्ण वास्तुकला का विकास किया।[३] इस प्रकार इन तथ्यों के आधार पर विदेशी शिल्प आयात का सिद्धान्त मन्दिर उद्भव के विषय में सहयोगी नहीं हो सकता।

हिमालय-प्रतीक मन्दिर उत्पत्ति सिद्धान्त - इस सिद्धान्त का तर्क भी हवेल[४] ने ही दिया है कि हिमालय तथा मानसरोवर ने भारतीय संस्कृति के साथ-साथ भारतीय मन्दिर वास्तुकला

---

१. Indian Architecture Ages. pp. ५८.५९

२. Ibid., p. ६०

३. Indian Architecture, p. ७९

४. The Himalayas in Indian Art, p. १४

को भी भरपूर प्रभावित किया। उनका मत है कि एलोरा का कैलाश मन्दिर, कैलाश पर्वत की ही नकल है। उनका कहना है कि शृङ्ग एवं शिखर बनाने की प्रेरणा पर्वतीय शिखर एवं शृङ्गों से मिली। भारतीयों का प्रिय कमल-अलंकरण वस्तुत: मानसरोवर के भौगोलिक परिवेश का ही अभिव्यक्तिकरण है। इनका यह मत मौलिकता तो रखता है, किन्तु वैज्ञानिकता नहीं। यदि हम गुप्तकाल के मन्दिरों की ओर दृष्टिपात करें तो वे शिखरहीन ही थे। जहाँ तक एलोरा के मन्दिर की बात है तो वह एक गुहा मन्दिर है, जो चैत्यों की पद्धति का विकासशील स्वरूप है। हवेल का यह कथन सत्य है कि शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में मेरू, मन्दर आदि नाम पर्वत सूचक हैं। किन्तु यह नाम मन्दिरों की ऊँचाई को इंगित करते हैं न कि मन्दिरों की उत्पत्ति को। इसलिए यह मत भी सर्वमान्य नहीं हो सकता।

तीर्थों से मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त - "मन्दिरों का निर्माण (नींव) तीर्थों से प्रारम्भ हुआ।"[१] इस मत को उदघाटित करने वाली स्ट्रेला क्रामरिश हैं। तीर्थों में समान आस्था रखने वाले जन एकत्रित होते रहे और मन्दिर के माध्यम से अपनी सार्वजनिक भावमयी अभिव्यक्ति प्रकट करते रहे। स्ट्रेला ने तीर्थ को एक ऐसा स्थल बताया है जो जल स्रोत के किनारे हो और साथ ही जहाँ यात्री लोगों का आवागमन हो। यह ये भी मानती हैं कि हिन्दू-मन्दिरों के उद्भव के एकाधिक कारण हैं। इन कारणों में वैदिक यज्ञ, आदिवासी डोलमेन तथा ग्रामीण त्यौहारों का भी अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। उसने अपने इन सभी-कारणों के द्वारा भविष्य में इस दिशा में चिन्तन का मार्ग प्रशस्त किया।

आदिवासी मन्दिर उत्पत्ति का सिद्धान्त - कुछ विद्वान् मन्दिरों की उत्पत्ति एवं विकास के पीछे आदिवासी जीवन को श्रेय देते हैं। उनका कहना है कि आदिवासी आस्थाएँ तथा त्यौहार ग्रामीण डोलमेनों में मनाए जाते थे। ये डोलमेन और कुछ नहीं, उस समय की जो ग्रामीण झोपड़ियाँ होती थीं, उन्हीं के समान होते थे। वे ही कालान्तर में विकास की गति को प्राप्त कर वास्तुकला के साथ-साथ मन्दिर-वास्तु के रूप में परिवर्तित हो गये। इसी प्रकार ई०बी० हवेल भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि भारतीय धर्म का मूल लोगों के दैनिक जीवन में मिलता है न कि धार्मिक उत्सवों, भोजों और परम्पराओं में देखने को मिलता है। इसलिए भारतीय मन्दिर वास्तुकला को अपने मूल स्वरूप में स्वयं के भारतीय ग्रामीण अंचलों के साधारण झोपड़ीनुमा पूजागृहों में ही स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।[२] लेकिन यह मत इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि ग्राम के आदिवासी लोगों को अपनी इन झोपड़ियों में मन्दिर बनाने की आवश्यकता क्यों हुई? पहले की ही तरह इनका क्रम क्यों नहीं चलता रहा? इस दृष्टि से दूसरा मत **"वृक्ष कुञ्जों वाला सिद्धान्त"** अधिक महत्ता

१. The Hindu Temples, Vol. I, p. ३, ६
२. Ancient and Medieval Architecture of India, उद्धृत - प्राचीन मालवा में मन्दिर वास्तुकला, पृ० २९-३०

रखता है। इसके अनुसार भारतीय अनार्य आदिवासी लोग कुछ देवीय शक्तियों में विश्वास करते थे, और इनकी यह मान्यता रही है कि उन सूक्ष्म देवी आत्माओं का निवास वन-स्थलों में रहा है। अत: सम्भवतया जब वन कटे तो इन जनजाति समूहों ने वृक्षों के एक समूह को इसी कारण सुरक्षित कर लिया कि वन की ये दैविक शक्तियां इन कुञ्जों में निवास करेगीं। एस०राय इस सन्दर्भ में लिखते हैं कि अभी भी हर मुण्डा गाँव के पास प्राचीन वृक्षों का एक समूह अवश्य होता है, इसे 'सरना' कहते हैं। यह 'सरना' ही प्राचीन मूल वन की स्मृति होती है। मुण्डा जन महत्वपूर्ण अवसरों पर यहाँ पूजा पाठ कर बलि देते हैं।[१]

वैदिक कर्मकाण्ड से मन्दिर उत्पत्ति - ऐसे भी भारतीय इतिहासकार हैं जो ऋग्वैदिक कुछ ऋचाओं के आधार पर मन्दिर निर्माण कला का उद्‌भव ऋग्वेद में स्वीकारते हैं।[२] उनका कहना है कि ऋग्वेद में मूर्तिपूजा के प्रमाण का कुछ अंश दिखाई पड़ता है। उदाहरण स्वरूप वे एक ऋचा को प्रस्तुत करते हैं, जहाँ एक महिला द्वारा इन्द्र की मूर्ति के बदले दस गाय लेने की बात कही गयी है। क्योंकि ऋग्वेद में मूर्ति पूजा के कुछ प्रमाण द्रष्टव्य हैं। उदाहरण ऋचा में एक महिला अपने इन्द्र के बदले में दस गाय लेने को तत्पर दिखायी देती है।[३] तथापि ऋचाओं के संदिग्ध अर्थ के आधार पर उस समय में मूर्तिपूजा की परिकल्पना करना दुस्साहसिक कार्य होगा। ये धारणा उन गिने-चुने विद्वान्रों की धारणाओं का अनुशीलन हैं, जो यह मानते हैं कि ऋग्वेद बहुदेववाद का समर्थन करता है, किन्तु वे ये नहीं जानते हैं कि स्वयं ऋग्वेद ही इस तरह की धारणाओं के विरुद्ध एक पुष्ट प्रमाण है, जो यह प्रकट करता है कि निराकार ब्रह्म एक और अद्वैत है। ब्राह्मण उसे इन्द्र, वरुंण, अग्नि सूर्य, यम, मातरिश्वा आदि नामों से पुकारते हैं।[४] इस धारणा को स्वयं अनेकों विदेशी विद्वान् भी स्वीकार करते हैं। मैक्समूलर का मत है कि वैदिक-धर्म प्रतिमाओं से अनभिज्ञ था।[५] एच०एस० विल्सन कहते हैं कि वैदिक धर्म मुख्यत: घरेलू प्रार्थनाओं और बलियों तक सीमित रहता था। उससे मूर्तियों अथवा मूर्तियुक्त मन्दिरों की अपेक्षा व्यर्थ है।[६] मैक्डॉनल भी यह मानते हैं कि ऋग्वेद कालीन आर्य मूर्ति-पूजन नहीं करते थे। ऋग्वेद में मूर्ति एवं मन्दिरों का उल्लेख नहीं मिलता है।[७] एक अन्य मत भी है जो ऋग्वेद से सम्बद्ध है। इसके अनुसार इस काल

---

१. The Munda's and their Country, pp. २२१.२२२

२. ऋग्वेद: ७/५६.१६, पृ० २७१; ७/७६.२, पृ० ३४७

३ प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ० ११२

४ इन्द्रं मित्र वरुणमग्निमाहु रथो द्विव्यो स सपर्णा गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं मम मातरिश्वान्माहु।। ऋग्वेद - १/१६४.४६, पृ० २५४

५. Chip from a German Workshop, Vol. १, p. ३८

६. विष्णु पुराण, भूमिका, पृ० ११

७. Vedic Methodology, pp. १७.१८
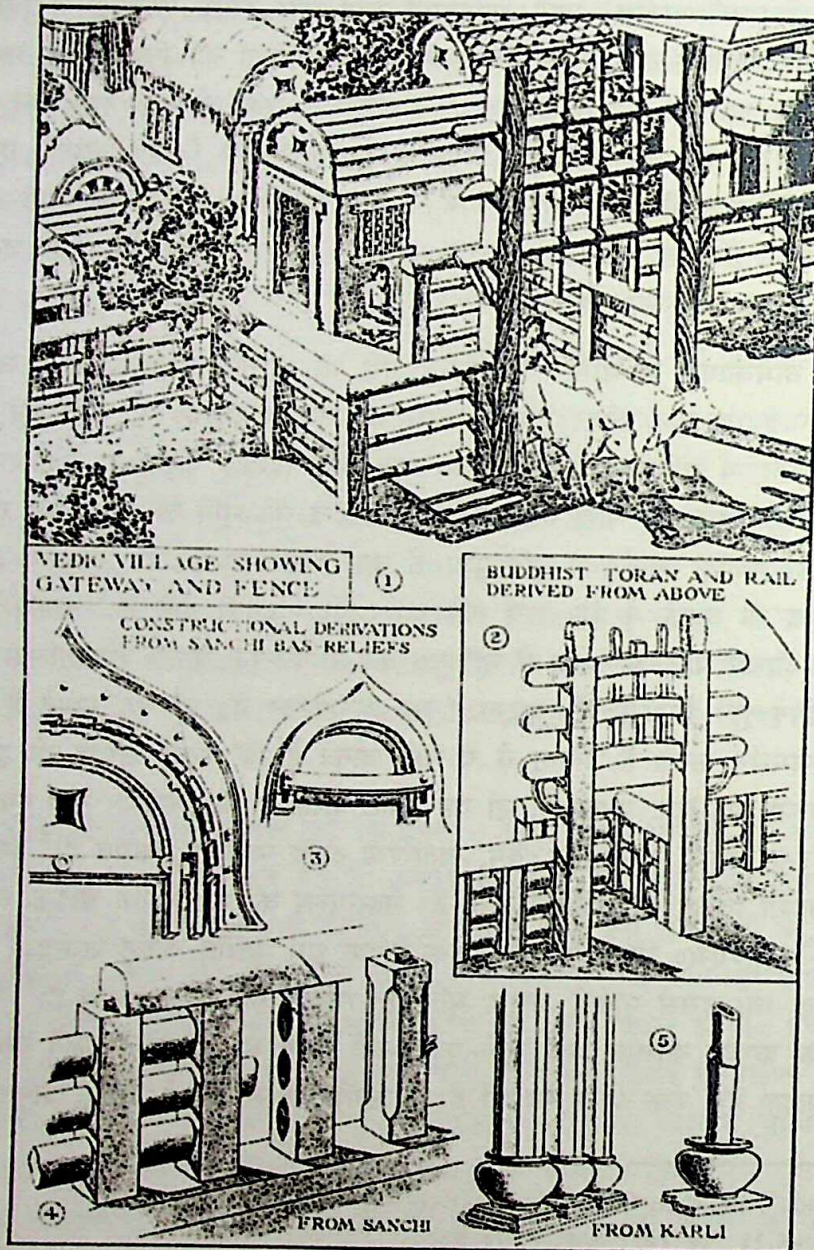
चित्र संख्या 1

(i) वैदिक आर्यों के काष्ठ एवं बांस निर्मित ग्रामों की परिकल्पना तथा उस आधार पर बौद्ध चैत्यों, स्तम्भों, तोरणद्वारों तथा वेदिकाओं की कल्पना

(ii) वैदिक ग्राम-द्वार साँची के तोरण द्वारों के समान एवं कलशयुक्त स्तम्भों का प्रस्तर संस्करण (कार्ले की गुफाओं में द्रष्टव्य)

में यज्ञ-यूप निर्मित किये जाते थे, वे ही मन्दिरों के प्रारम्भिक स्वरूप रहे। ऋग्वेदकाल में आर्य लोग गाँव से बाहर खुले स्थलों में सामूहिक यज्ञ किया करते थे और यज्ञ वेदी के आस-पास बांस या लकड़ी के स्तम्भ गाढ़ देते थे। ऋग्वेद में ऐसे स्तम्भों को स्थूण, स्तम्भ, स्कंभ, उपमिति, धरुण आदि नामों से पुकारा गया है।[१]

वैदिक आर्यों के काष्ठ एवं बांस निर्मित ग्रामों की परिकल्पना के सन्दर्भ में पर्सी ब्राउन ने अपनी पुस्तक **'इण्डियन आर्किटेक्चर' में एक चित्र प्रस्तुत किया** है तथा उस आधार पर बौद्ध-चैत्यों, स्तम्भों, तोरणद्वारों और वेदिकाओं की कल्पना की है।[२] वे कहते हैं कि वैदिक ग्राम का द्वार सांची और भरहुत के तोरणद्वारों से समानता रखता है।[३] कलशयुक्त स्तम्भों का प्रस्तर संस्करण कार्ले की गुफाओं में देखा जा सकता है। वैदिक ग्रामों के काष्ठ निर्मित बाड़े वेदिकाओं के रूप में बौद्धस्थापत्य में दिखाई देते हैं। इस धारणा के अनुसार वैदिक आर्यों ने यज्ञ पर स्तम्भों से युक्त जो बांस या खजूर की चटाइयों के छप्पर डाले, वे उनकी धार्मिक आस्थाओं के प्रथम सार्वजनिक प्रमाण थे। कुछ समय पश्चात् जब आर्यों में मूर्ति-पूजा का प्रारम्भ हुआ तो ये ही धार्मिक स्थल मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गये। इस मन्तव्य का आकलन कर यह कहा जा सकता है कि भारत के अधिकांश मन्दिर ब्राह्मण धर्म से जुड़े हैं, जो उससे सम्बद्ध नहीं है, वे भी मन्दिर-निर्माण के विषय में उसी से प्रेरणाप्रद हैं, उदाहरण के लिए जैन या बौद्ध मन्दिर। दृष्टिपातोपरान्त इन पर वैदिक परम्पराओं की स्पष्ट झलक दिखायी देती है। सम्भवतः यह मण्डप यज्ञ-यूपों का ही विकसित रूप हैं। कालान्तर में इन मण्डपों के भीतर यज्ञ-वेदी के विकसित रूप ने गर्भगृह का रूप धारण कर लिया। फिर भी सभी पुष्ट सम्भावनाओं के बाद यह मान्यता पूर्व के आदिवासी मत की तरह बिल्कुल एक पक्षीय है, क्योंकि यह मन्दिर उत्पत्ति के सन्दर्भ में अनार्यों के लिए स्थान नहीं रखता।

बौद्ध स्थापत्य से मन्दिर उत्पत्ति सिद्धान्त - विभिन्न विद्वानों का ऐसा मानना है कि हिन्दू मन्दिरों का उद्‌भव स्तूपों एवं चैत्यों से हुआ।[४]

स्तूप - भारतीय वास्तुकला की सर्वाधिक प्राचीन विधा के रूप में स्तूपों को माना गया है। स्तूप शब्द प्राकृत थूप 'स्तुप' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है - एकत्रित करना या ढेर लगाना। इसलिए मिट्टी के ऊँचे टीले के लिए स्तूप शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। अमरकोष के अन्तर्गत (3-5-19) राशिकृत मृतकादि उसी कथन की पुष्टि करता है। बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय

---

१. ऋग्वेद १/५९.१, पृ० ८५, ३/३१.१२, पृ० १५२, ४/५.१ पृ० ३९५

२. Indian Architecture, Plate No. १, p. १६

३. Ibid., p. १६

४. The Canons of Indian Art, p. २७१

(२-१४२), अंगुत्तर निकाय (१-१७०) तथा मज्झिमनिकाय (२-२४४) में 'थूप' शब्द का अधिकतर प्रयोग मिलता है।[१] इस प्रकार किसी टीले या टीले के रूप में निर्मित स्मारक को स्तूप कहते हैं। साधारणतया जब स्तूप का नाम आता है तो इसका आशय बौद्धधर्म के धार्मिक स्थलों से लिया जाता है, परन्तु ऐसा सोचना सर्वथा उचित नहीं है। वैदिक साहित्य में भी स्तूप का उ़ल्लेख मिलता है। स्तूपों का प्रयोजन मानव स्मारक से इस प्रकार उद्‌भूत होता है। मनुष्य एक पितृ के रूप में अपने वंशजों के द्वारा याद किया जाए, और सहजता से अपनी श्रद्धा, भावना दर्शाने के लिए उनकी सन्तान या अनुयायी कोई यादगार निर्मित करें। यह भी उतना ही स्वाभाविक है। मृत व्यक्ति की अन्तिम क्रिया दाहसंस्कार करने या उसकी अस्थियों का संकलन करने से ही नहीं होती, बल्कि उन अस्थियों को या तो पवित्र जल में प्रवाहित कर दिया जाता है या उन्हें पूजा योग्य मानकर अस्थिकलश में रख दिया जाता है; इस प्रकार अस्थि और कलश चिर स्थायी रखने के लिए कोई स्मारक बनवा दिया जाता है। भारतीय जनजीवन में यह पद्धति बहुत लोकप्रिय रही है। विशेष रूप से बौद्धमत में इसे बहुत आत्मीयता से माना जाता है। बौद्धकाल से पूर्व स्तूपों को स्मृति एवं आदर का रूप माना जाता रहा, किन्तु बौद्धों ने उसे धार्मिक मान्यता प्रदान की और स्तूप को भगवान बुद्ध के परिनिर्वाण का प्रतीक प्रदर्शित किया। इस तरह स्तूप केवल स्मारक टीले ही नहीं, अपितु पूजा व उपासना के प्रतीक बन गये। वासुदेवशरण उपाध्याय स्तूपों को उनके प्रयोजन के मान से 4 भागों में विभक्त करते हैं-

शारीरिक - वह स्तूप जिसे बुद्ध के अवशेष पर बनाया गया था।

औद्देशियक - किसी विशेष प्रयोजन वश बनाया गया स्तूप, उदाहरणार्थ साँची में स्थित सारिपुत्र का स्तूप।

पारिभौगिक - दैनिक जीवन में प्रयोग आने वाली वस्तुओं पर बना स्तूप।

व्रतानुष्ठित - ऐसे स्तूप जो मन्नत एवं चढ़ावे के प्रयोग आते हों।

इनमें किसी प्रकार के धातु या वस्तु को रखने का प्रयोजन निहित था। किसी की मन्नत या इच्छा पूर्ति होने पर उपासक बड़े स्तूप के चारों ओर छोटे-छोटे स्तूप बनवा दिया करते थे, उदाहरण के लिए तक्षशिला, सारनाथ के मुख्य स्तूप के चारों ओर मन्नत वाले स्तूप देखे जा सकते हैं।[२]

स्तूप से मन्दिर उत्पत्ति के विषय में ऐसा कहा जाता है कि स्तूप जब मूर्ति-पूजा से जुड़े

---

१. प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मदिर, पृ० ४

२. प्राचीन भारतीय स्तूप गुहा एवं मन्दिर, पृ० १४

तो उनके स्वरूप में आवश्यक परिवर्तन आया, और इन टीलों के भीतर ही कक्ष निर्माण की कल्पना की गई, फिर इसमें देवप्रतिमा स्थापित की गई। तोरणों ने प्रवेश द्वार का रूप ले लिया, ऊँचाई ने शिखर और हर्मिका मंदिर की शिखा बन गई। उत्तर भारत में उस पर कलश जा बैठा और दक्षिणी भारत में स्तूपी। दक्षिण भारत में प्रवेश द्वार पर तोरणद्वार गोपुरम् के रूप में प्रकट हुए।[१]

वैदिक साहित्य में स्तूपों का वर्णन आया है। ऋग्वेद में हिरण्यस्तूप नाम के एक ऋषि का उल्लेख भी हुआ है। वैदिक स्तूपों में क्या रखा जाता था? विद्वानों का इस विषय में मतैक्य नहीं है। ऋग्वेद में ऐसे सन्दर्भ अवश्य आते हैं, जिससे यह पता चलता है कि मृतकों की अस्थियों पर टीलों का निर्माण किया जाता रहा। **'मृणमय्यन ग्रहीयम्'** का सम्बन्ध सम्भवतः इन्हीं टीलों से रहा होगा।[२] ऋग्वेद में दशममण्डल के अन्तर्गत इन टीलों के आस-पास वृत्ताकार परिधि[३] और उसके पास स्थूण निर्माण भी होता था। इस प्रकार कहा जा सकता है कि टीले बौद्ध स्थापत्य में स्तूपों के रूप में, परिधि प्रदक्षिणा के रूप में तथा स्थूण स्तम्भ के रूप में विकसित हुए। **ब्लाच** को नन्दनगण के उत्खनन के समय काष्ठ एवं मिट्टी से निर्मित ऐसी बहुत सामग्री प्राप्त हुई जिसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन्होंने वैदिक स्तूपों को स्वीकार किया है।[४]

समाधि के चारों तरफ मिट्टी का स्मारक बनाने का प्रसंग शुक्ल-यजुर्वेद[५] में भी देखने को मिलता है। इस सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण तो विस्मरणीय रोचक तथ्य की सूचना देता है।[६] इसके अनुसार आर्य स्तूप चतुष्कोणीय और असुर स्तूप वृत्ताकार होते थे। अतः इस साक्ष्य के सामने आने से स्तूपों के निर्माण का काल प्राचीन हो जाता है।[७]

डुब्राय ने तो भिन्नापुरम् की प्रागैतिहासिक गुफा तथा सुदामा गुहा की संगति वैदिक-स्मारकों से करने का प्रयत्न किया। यदि इस तथ्य को स्वीकार कर लिया जाता तो राजगृह स्थित सोनभण्डार की गुहा के आन्तरिक भाग को स्तूप माना जा सकता है। यह गुहा पूर्व मौर्यकालीन निर्माण जरासंघ की बैठक की समकालीन मानी जाती है।[८] इन तथ्यों के आधार पर व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक दोनों ही रूपों में इस मत का खण्डन हो जाता है कि मन्दिरों की उत्पत्ति बौद्ध स्तूपों से हुई।

---

१. Indian Architecture, p. ७७
२. ऋग्वेद : ७/८९.१, पृ० ३९०
३. ऋग्वेद : १०/१८, पृ० १५०७
४. Archaeological Survey India Report (१९०६.०७), p. ११२९
५. शुक्ल-यजुर्वेद, ३५/१५, पृ० ७९९
६. शतपथ ब्राह्मण, १३/८.१.५, पृ० १३७४
७. Handbook of Indian Art (The Canons of Indian Art), p. २७१
८. Vedic Antiquities (The Canons of Indian Art), p. २७१

चैत्य - चैत्य शब्द की व्युत्पत्ति 'चिता' या 'चिती' अथवा बोधिवृक्ष से हुई प्रतीत होती है। हिन्दू मन्दिरों का उद्‌भव चैत्यों से भी मानने के तर्क दिये गये हैं। भारतीय साहित्य में कई स्थानों पर स्तूप के लिए चैत्य शब्द का प्रयोग मिलता है। यह शब्द चिता से सम्बन्धित होने के कारण भस्म के अवशेष पर निर्मित किये गये स्मारक की ओर भी संकेत करता है। इसी कारण एक स्थान पर चैत्य को श्मशान बताया गया है। अमरावती स्तूप लेखों में स्पष्टतः स्तूप को चैत्य कहा गया है, किन्तु चैत्य का भिन्न अर्थ भी होता है। ईंट-पत्थरं से जो निर्माण होता रहा उसे भी चैत्य कहा जाता है। कई स्थलों में चैत्यों में बोधिवृक्ष भी मिलते हैं। चिन्तनीय बात यह है कि चैत्य का अर्थ स्तूप से होता है या बोधिवृक्ष से।[१]

दीर्घनिकाय के महापरिनिब्बान सुत्त में भगवान बुद्ध ने लिच्छिवियों के विकास के लिए चैत्यपूजा को आवश्यक बताया है। वैशाली के 6 चैत्यों के नाम उदेन, गोतमक, सतम्बक, बहुपुत, सरदन्द तथा चपल बताये गये हैं। दिव्यावदान में अन्तिम तीन नाम भिन्न है। गौतम, न्यग्रोध से स्पष्ट होता है कि न्यग्रोध अर्थात् वटवृक्ष था। बहुपुञ्ज शब्द सम्भवतः पवित्र पीपल के लिए प्रयुक्त हुआ है। बुद्ध ने दिव्यावदान में चैत्य वृक्ष का स्पष्ट उल्लेख किया है।[२]

वैसे तो भारत में सिन्धु सभ्यता से वृक्षपूजा शुरु हो चुकी थी। पीपल के वृक्ष के नीचे गौतम को, महाबोधि प्राप्त होने के कारण बुद्धकाल में उसका महत्व बढ़ गया था। वृक्ष को ही चैत्य रूप में स्वीकार किया जाने लगा। भरहुत की वेदिकाओं पर मृगों द्वारा पूजित एक वृक्ष के अर्द्धचित्र पर **'मृग-समदक चैत्य'** अर्थात् हिरणों का आनन्ददाता चैत्य तथा हाथियों द्वारा पूजित पीपल वाले अर्द्धचित्र के शीर्षक के रूप में "बहुहथि को निगोधो न डोदे" शीर्षक दिया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पूजनीय वृक्ष को एक चैत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। ज्ञान का प्रतीक बोधिवृक्ष ही बौद्धों के लिए चैत्य था।[३]

मठों एवं विहारों की अधिकता होने पर जब गुहा-निर्माण बढ़ गया, तब स्तूपों को इन निर्माणों के अन्दर रखने का प्रयत्न किया गया। आरम्भ में ये विहार काष्ठ और पत्थर के बने थे। निर्मित किए जाने के कारण ये चैत्य मण्डप कहलाते थे। जब इन चैत्य-मण्डपों में स्तूप प्रतीक पूजा के रूप में उत्कीर्ण किये जाने लगे तो ये स्तूप भी चैत्य के पर्याय माने जाने लगे। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में वृक्ष को चैत्य माना जाता था, परन्तु कालान्तर में स्तूपों को भी यही संज्ञा प्राप्त हुई। इस प्रकार अनेक प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि बौद्ध चैत्यों ने जब पर्वतों

---

१. The Canons of Indian Art. p. २७२
२. भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला, पृ० ७९८
३. भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला, पृ० ७९८

एवं गुफाओं का आश्रय छोड़ा तो वे क्रमशः मन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो गये।

विहार - स्तूपों, चैत्यों की तरह ही विहारों से भी मन्दिरों की उत्पत्ति विषयक तर्क दिये गये हैं। भारत में **'विहार'** प्राचीन धार्मिक निर्माणों के अपरिहार्य अंग रहे हैं। भगवान बुद्ध ने अपने शिष्यों को सदैव परिव्राजक बने रहने तथा अकेले रहने का उपदेश दिया था। सम्भवतया वैदिककालीन वानप्रस्थ एवं सन्यास आश्रम पद्धति से बुद्ध ने यह प्रेरणा ली थी। यद्यपि वे वर्णाश्रम-व्यवस्था के पूर्णतः विरोधी थे, परन्तु जब भिक्षुओं की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई एवं प्राकृत गुहाओं तथा अच्छे शरणस्थलों का मिलना बन्द हो गया तो भगवान बुद्ध को उन सभी को कृत्रिम शरणस्थलों में समूहबद्ध होकर निवास करने की आज्ञा देनी पड़ी। धीरे-धीरे बौद्ध मत में संघ एक अनिवार्य तत्त्व बन गया और बुद्ध तथा धम्म के साथ-साथ संघ की शरण में जाने का निर्देश भी दिया जाने लगा।

इसी तरह भिक्षुओं के निवास की अस्थायी व्यवस्था की ओर ध्यान दिया गया। स्वयं भगवान बुद्ध ऐसे विश्राम स्थल में रहे थे, जिन्हें आराम कहते थे। बौद्ध-साहित्य में इन्हें तपोदाराम, जीविकाराम, संघाराम आदि के नाम से जाना जाता था। कुछ समय बाद भिक्षुओं के विश्राम स्थलों को कुछ स्थायित्व देने का प्रयत्न किया गया। ऐसे स्थलों को विहार की 'संज्ञा' से अभिहित किया गया। श्रावस्ती में महाश्रेष्टि अनाथपिण्डक ने जेतवन में एक विहार भगवान बुद्ध के लिए निर्मित करवाया था। शनैः-शनैः आराम भी स्थायी निवास के विषय बन गये। उदाहरणार्थ - सांची का वैदिसा देवी द्वारा निर्मित संघाराम बौद्धविहार। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में आराम और विहार दोनों अलग-अलग अर्थों में प्रयुक्त होते थे, परन्तु कालान्तर में एक-दूसरे के पर्याय कहे जाने लगे। जब इन विहारों को पूर्ण स्थायित्व देने का प्रयास किया गया तो कृत्रिम गुहाओं का निर्माण प्रारम्भ हुआ। हाँलाकि बुद्ध कृत्रिम गुहाओं के पक्षधर नहीं थे।

जैन धर्म के अनुयायियों ने भी उड़ीसा में उदयगिरि और खण्डगिरि पर इसी भाँति निर्माण किया। इस तरह कुछ सदियों तक चैत्यों और विहारों का निर्माण होता रहा। जब मंदिर निर्माण की विधा अत्यधिक लोकप्रिय हो गयी तो इसमें रुकावट आ गई, लेकिन शैवादि सम्प्रदायों की मठ पद्धति एवं जैन अनुयायियों की स्थानक पद्धति के रूप में 'विहार' अपना अस्तित्व प्रदर्शित करते हुए वर्तमान में भी दिखाई देते हैं। रमन्नया ने विहारों को भी मूलरूप से बौद्धों की देन नहीं कहा है। रामायण और चुलवग्ग के अनेक सन्दर्भों के आधार पर वे कहते हैं कि विहार हिन्दू वैदिक मत की अभूतपूर्व देन हैं, जिसे कालान्तर में बौद्धों ने ग्रहण किया था। तारापाद भट्टाचार्य निष्कर्ष रूप से वर्णन करते हैं कि बौद्ध विहारों, चैत्यों या स्तूपों का निर्माण निश्चित ही बौद्ध देन न होकर

पूर्व में बहुत समय से प्रचलित रहने वाले वैदिक यज्ञवेदी, चैत्यों एवं विहारों की वास्तु परिणति हैं।[१]

रथ से मन्दिर उत्पत्ति-सिद्धान्त - दक्षिण भारत के शिल्प निर्माण में 'विमान' शब्द साधारणतया प्रयुक्त हुआ। विमान से किस प्रकार के भवन का आशय था यह तो ज्ञात नहीं, परन्तु कुछ समय बाद के दक्षिण भारत के कोषकारों और वास्तुग्रन्थों में स्पष्ट रूप से विमान को मन्दिर का पर्याय माना गया है। उत्तर भारत में भी विमान का प्रयोग वास्तु के रूप में हुआ है। रामायण में **"प्रासादगृह विमानेषु"**[२] जैसे सन्दर्भित संकेत इस तथ्य को पुष्ट प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। इसलिए हवेल एवं आनन्द कुमार स्वामी मन्दिरों की उत्पत्ति रथों से मानते हैं। वे तर्क के साथ कहते हैं कि मन्दिरों के लिए उत्तर भारत में रथ और दक्षिण भारत में विमान (यदा-कदा रथ) शब्द का भी प्रयोग रथों से मन्दिरों का सम्बन्ध निरूपित करता है।[३]

कोणार्क का सूर्य मन्दिर तो पूर्ण रूप से रथ शैली पर ही आधारित है। मामलपुर के मन्दिर तो रथ ही कहलाते हैं, परन्तु इन सभी स्थितियों के अनुकूल होते हुए भी यह प्रमाणित नहीं होता कि रथों के आधार पर मन्दिरों की उत्पत्ति हुई। भारत में कुछ ही ऐसे मन्दिर है जिनकी गणना रथों को आधार मानकर की गई है। प्रारम्भिक काल में दक्षिण भारतीय शिल्प ग्रन्थ मन्दिरों के लिए 'विमान' शब्द का प्रयोग न करते हुए प्रासाद शब्द का प्रयोग करते थे। इसी तरह उत्तरभारतीय-ग्रन्थों में भी मन्दिरों को रथ कहने की पद्धति बहुत समय बाद प्रचलन में आयी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले विद्वान् **'समराङ्गणसूत्रधार'** से अधिक प्रभावित हो गये।[४] इस ग्रन्थ में कहा गया है कि प्राचीन समय में ब्रह्मा ने देवताओं के लिए 5 विमान निर्मित किये ताकि देवगण आकश में यात्रा कर सकें। इनको देखकर लोगों ने प्रासादों का निर्माण प्रारम्भ कर दिया। इससे ऐसा लगता है कि विमान और रथ को ही मन्दिर का मूल पर्याय मानकर 'समराङ्गणसूत्रधार' में राजा भोज ने रथ से मन्दिरों की उत्पत्ति नामक इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। इन सभी आधारों पर यह निचोड़ निकलता है कि विमान या रथ शब्द मन्दिरों के मूल पर्याय नहीं हो सकते हैं, परन्तु कालान्तर में ये उनके लिए प्रयोग में लाये जाने लगे। मन्दिर-उत्पत्ति से सम्बन्धित इन सभी सिद्धान्तों का सार यह है कि मन्दिर-उत्पत्ति का कोई एक सिद्धान्त पूर्णरूप से तथ्य एवं तर्कसंगत नहीं है। साधारण सी-बात यह है कि दैवीय-शक्तियों या भगवान के प्रति जो धार्मिक-श्रद्धा-विश्वास भिन्न-भिन्न स्थलों के भिन्न-भिन्न जन-मानस में विभिन्न प्रतीकों द्वारा

---

१. The Canons of Indian Art, pp. २७३.७४, ३००.०२

२. रामायण, ५/१५, पृ० १७९०

३. The Canons of Indian Art. p. २७०

४. समराङ्गणसूत्रधार: अध्याय-४९

जब भौतिक अभिव्यक्ति को प्राप्त करने को व्याकुल होने लगी, तभी प्राचीन समय में उसने वृक्षों, पर्वतों या शैलाश्रयों के चित्रों का आश्रय लिया। कालान्तर में निर्मित काष्ठ या पत्थर प्रतीकों के रूप में सामने आये। इन प्रतीकों को आदर-सम्मान देने के लिए श्रद्धालुओं ने उनके निवास-योग्य जैसे भवन पूजा के लिए बना दिये। जब कला एवं सौन्दर्य बोध निश्चित रूप से धार्मिक तथा दार्शनिक मान्यताओं के साथ पुष्ट होकर उपस्थापित हुआ, तब पत्थर या ईंटों के स्तूप व चैत्य आदि का निर्माण होने लगा। अन्त में जब मूर्ति एक सशक्त प्रतीक अभिव्यक्ति के रूप में उभरी तो निवास स्थलों के समान उस समय तक विकसित जो भी श्रेष्ठतम वास्तु उपलब्ध था उसका प्रयोग धार्मिक अनुष्ठानों के लिए होने लगा। शनैः-शनैः धार्मिक-प्रासादों को ही ईश्वरीय शरीर के रूप में माना जाने लगा। इसप्रकार शैलीगत विभिन्नताओं के होते हुए भी मन्दिरों का एक विशिष्ट वास्तुविधा के रूप में प्रस्तुतीकरण हुआ अर्थात् मन्दिर एक विशिष्ट वास्तुविधा के रूप में उभरकर सामने आया।

मन्दिर-शिखरों का उद्‌भव - शिखरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में "पर्सी ब्राउन" ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन आर्किटेक्चर' में निम्नलिखित तीन सिद्धान्तों का संकलन किया है[५१] एवं चित्रों के माध्यम से सम्भावित प्रस्तुतीकरण भी दिया है।[५२]

पूर्वी या मध्यभारत की गुम्बदाकार झोपड़ियों से विकास - ईसा-पूर्व की शताब्दियों में भारत के इन भागों में काष्ठ या बांस की चोटी या गुम्बदाकार झोपड़ियाँ निर्मित की जाती थीं। इस सम्बन्ध में रामप्रसाद चन्दा कहते हैं कि नागर शैली के मन्दिर शिखरों का ये झोपड़ियाँ पूर्व रूप थीं।[५३]

स्तूप के माध्यम से विकास - उत्तर भारत के मन्दिर-शिखर बौद्ध-स्तूपों से उद्‌भूत माने गये हैं। इस मत के प्रतिपादकों का मानना है कि स्तूप का अर्द्धगोलाकार अण्ड ईसा के बाद के हजार वर्षों में क्रमशः परिवर्तित रूप ग्रहण करते हुए, मन्दिर-शिखर के रूप में विकसित हो गया। **"लाँगहर्स्ट"** इस मत के सर्वप्रथम प्रतिपादनकर्ता थे।[५४]

रथ सिद्धान्त - इस सिद्धान्त के प्रतिपादन करने वाले विद्वान् मानते हैं कि मन्दिर का नाम रथ को भी दिया गया है, क्योंकि इसका ऊपरी भाग रथ के ऊपरी भाग की तरह होता था। रथ के ऊर्ध्व आवरण की तरह ही मन्दिर वास्तु पर शिखर निर्मित किये जाते थे। इस मत का पूर्ण

---

१. Indian Architecture, p. ७७

२. Ibid., Plate No. ५, p. ८

३. रुपम्, क्रम १७ (Indian Architecture, p. ७७)

४. The Story of the Stupa, Colombo, १९३६ (Indian Architecture, p. ७७)
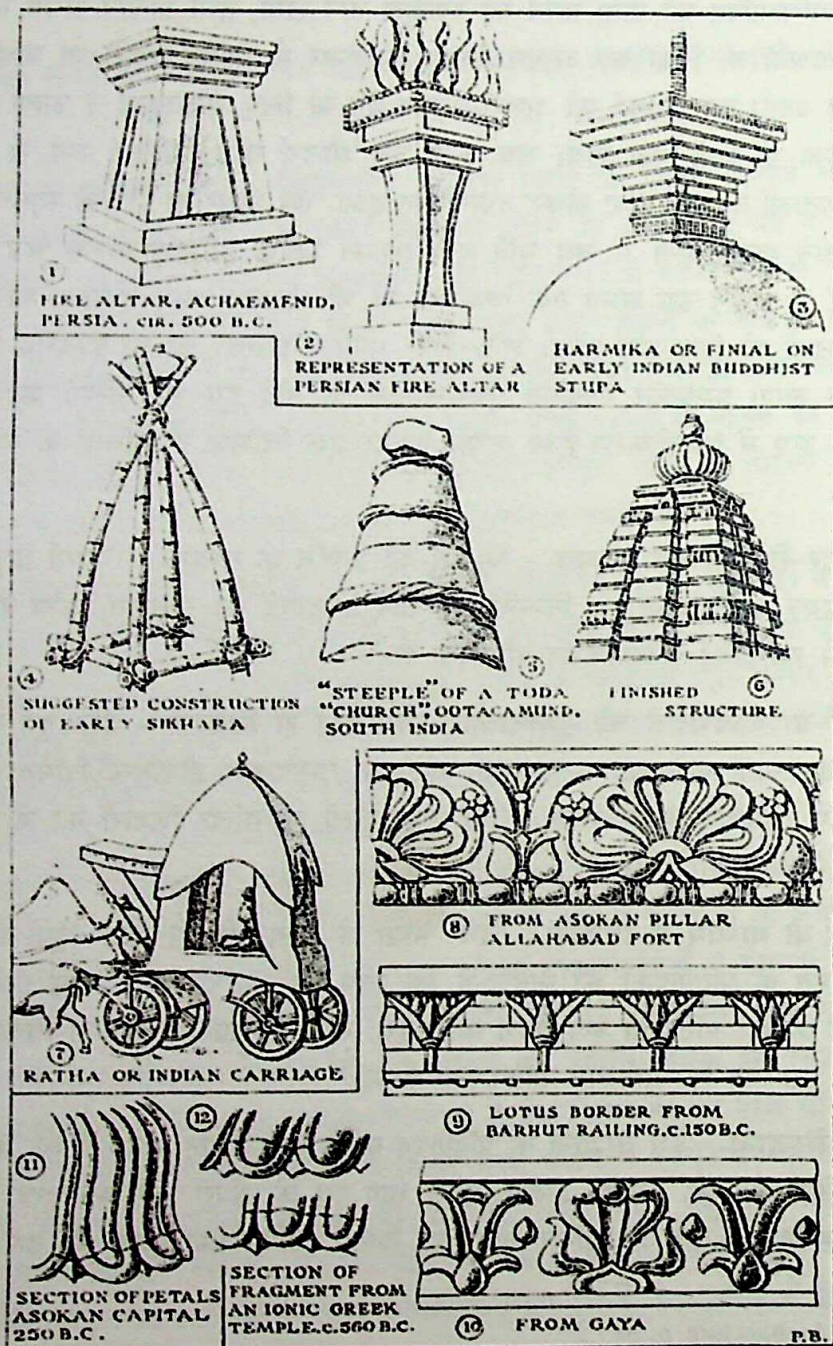
चित्र संख्या 2
शिखरों का उद्भव

समर्थन करने वाले आनन्द कुमार स्वामी हैं।[१] मन्दिरों की उत्पत्ति की भाँति निवासियों के कुटीरों से शिखरों के उद्भव का विचार निश्चित ही विचार करने योग्य है। ऐसा माना गया है कि कुटीरों के शिखरों या गुम्बदों का विकास ई०पू० की प्रारम्भ की शताब्दियों में मन्दिरों एवं शिखरों के रूप में हुआ।[२] पुरातात्त्विक दृष्टि से भी यह स्वीकार किया गया है कि मन्दिरों के साथ शिखरों का समन्वय उत्तरगुप्तकाल में ही हुआ। उदयगिरि; सांची, तिगवा, ऐरण आदि के प्रारम्भिक गुप्त काल के मन्दिर शिखरविहीन ही थे। सर्वप्रथम नाचनाकुठार के पार्वती मन्दिर में शिखर उठाने का प्रयास किया गया है।[३] किन्तु पुष्ट साहित्यिक प्रमाणों तथा परोक्ष पुरातात्त्विक सन्दर्भों ने शिखर निर्माण की इस पुरातत्त्वीय प्रतिष्ठापना में बहुत बाधा उत्पन्न की है। रामायण[४] तथा जातक कथाओं[५], में ऐसे कई प्रासादों का उल्लेख हुआ है जो शिखर या शृंग युक्त थे।[६] भरहुत, अमरावती, तथा मथुरा के प्रथम एवं द्वितीय शताब्दियों के उत्कीर्णों पर कुछ ऐसे निर्माण दृष्टिगोचर होते हैं जो गुम्बदों या रेखीय शिखरों से युक्त हैं।[७]

दूसरी शताब्दी ई०पू० के खारवेल के अभिलेख के आधार पर **के0पी0 जायसवाल** उस समय शिखर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं।[८] मत्स्यपुराण में भी शिखरयुक्त मन्दिरों का वर्णन मिलता है।[९] प्रारम्भिक गुप्तकालीन प्रमाण मन्दिरों पर शिखर होने का परोक्ष साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं। बन्धुवर्मन का सन् ४७३-७४ का अभिलेख दशपुर के कुमारगुप्त प्रथम के राज्यकाल में निर्मित जिस सूर्य मन्दिर का वर्णन करता है, वह शिखर युक्त था।[१०] विश्ववर्मन के सन् ४२४-२५ के गंगधार अभिलेख में मयूराक्षक के द्वारा जिस विशाल विष्णु मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है, उसमें बताया गया है कि उस मन्दिर का शिखर कैलाश पर्वत की तरह ऊँचा था।[११] स्कन्दगुप्त के जूनागढ़ अभिलेख में यह वर्णन मिलता है कि भगवान चक्रमृत्य का मन्दिर इतना ऊँचा था कि वह आकाश में पक्षियों का मार्ग अवरुद्ध करता था।[१२] यद्यपि पुरातात्त्विक दृष्टि से भीतरगाँव और देवगढ़ के

---

१. History of Indian and Indonesian Art, p. ८३
२. Indian Architecture, p. ७७
३. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृ० २०८-०९
४. रामायण, उद्धृत Journal of American Oriental Society, १९२८, p. २६०
५. जातक कथा: क्रम ३९६ एवं ४१८
६. महाभाष्य, २/२.३४, १/१.९
७. History of Indian and Indonesian Art, Picture ४१,४३, ४५, ४६, १३२
८. The Cannons of Indian Architecture, p. २७४
९. मत्स्यपुराण, अध्याय २६९, पृ० १८५०-१८५६
१०. Korp's Inscription Indication, Vol. ३, p. ८७
११. The Canons of Indian Art, Vol. ३, p. ७६
१२. Ibid., p. ðû

परवर्ती गुप्त मन्दिरों पर शिखरों के स्पष्ट रूप से दर्शन होते हैं, परन्तु इन उल्लेखों के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि इस विषय में केवल पुरातत्त्वीय आधारों पर टिके रहना कला और इतिहास की दृष्टि से भारी भूल होगी। एक अन्य आधार पर भी शिखरों की प्राचीनता सिद्ध होती है। उत्तरभारत के नागर शैली के शिखरों पर आमलक या अमलसार शीर्ष होता है। शिखर के साथ ही आमलक का अस्तित्व माना गया है। दूसरी शताब्दी ई०पू० के बेसनगर के मन्दिर अवशेष में आमलक की खोज ने अचम्भित कर दिया है।[१] इसी काल के अमरावती एवं मथुरा के अवशेषों में भी आमलक उत्कीर्ण दिखायी देता है।[२] ईसा के कई शताब्दी पूर्व रचित **कुमारस्वामी** के बौद्धग्रन्थ **'चुलवग्ग'** में आमलक शब्द का उल्लेख मिला है।[३]

स्ट्रेला क्रामरिश कहती हैं कि मन्दिर शिखर विभिन्न कोणों से उठते हुए ऊपर की ओर सिकुड़ता चला जाता है[४] एवं आमलक शीर्ष तक समाप्त हो जाता है। आमलक तथा शिखर के इस सह-सम्बन्ध के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि आमलक और शिखर उत्तरगुप्तकाल की देन न होकर ई०पू० की निकट की शताब्दियों में भी अपनी उपस्थिति रखते थे। इस कारण अध्ययन के उपरान्त पुन: उन प्रासादों को देखते हैं जो विभिन्न भूमियों के हुआ करते थे और जिनका उल्लेख जातक कथाओं से लेकर काव्य-ग्रन्थों एवं पुराणों में भी प्रस्तुत हुआ है। अत: यहाँ इस मत को स्पष्ट करना उचित होगा कि इन्हीं प्रासादों की भव्यता को मन्दिर वास्तुकारों ने शिखरों कं रूप में उतार दिया था। प्रासादों की भूमियों को यह प्रेरणा कहाँ से प्राप्त हुई? यह विवेचन हमारा अभीष्ट नहीं है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मन्दिर निर्माण की शैलियों का उद्भव - मन्दिरों की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न सन्दर्भों से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक विशिष्ट विधा बनने से पूर्व मन्दिर एक प्रकार से उन आवासों एवं प्रासादों की प्रतिरचना रहे जो कि भारत के प्राचीन जनमानस ने अपने रहने के लिए प्रयोग कियें। अत: मन्दिर वास्तुकला का परीक्षण बहुत कुछ भारतीय वास्तुकला के इतिहास का निचोड़ हो जाता है। गुप्तकाल तक भारतीय मन्दिर वास्तुकला दो परम्पराओं के रूप में विकसित हो चुकी थी। एक तो उत्तर भारत की विश्वकर्मा परम्परा एवं दूसरी दक्षिण भारत की मय-परम्परा। मत्स्यपुराण दोनों परम्पराओं के आचार्यों की सूची प्रस्तुत करता है। उस सूची में भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित्, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मकुमार, नन्दीश, शतानक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति वास्तु आचार्यों के नाम उल्लिखित

१. Archaeological Survey of India, १९१३.१४, p. १८९
२. The Canons of Indian Art, p. २७४
३. Journal of Oriental Society, १९२८, p. २८२
४. Journal of Indian Society of Oriental Art, Vol. ûü, p. १८४

हैं।[1] इन आचार्यों की ऐतिहासिकता पर विचार करते हुए तारापद भट्टाचार्य कहते हैं कि विश्वकर्मा-परम्परा ही कालान्तर में नागरशैली के रूप में विकसित हुई। इस वास्तु-परम्परा के सबसे प्राचीन आचार्यों में गर्ग का नाम उल्लेखनीय है जिनका समय भट्टाचार्य ने प्रथम शताब्दी ई० बताया है। आचार्य वराहमिहिर भी इसी परम्परा के उद्गाता थे।[2] मय-वास्तुकला को अनार्य वास्तुकला के रूप में जाना जाता है। यह धारणा है कि असुर एवं द्राविड़ वास्तु-परम्परा ही मय परम्परा है। मय परम्परा के आदि आचार्यों में नग्नाजित् का नाम प्रमुख स्थान रखता है।[3] इस शैली के अन्य आचार्यों में शुक्र, नारद, भृगु, इत्यादि के नाम प्रमुखता से लिए जाते हैं।[4] दोनों ही प्रकार की वास्तु पद्धतियों में इन पद्धतियों के आचार्यों ने अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया तथा शिल्पशास्त्र के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। विश्वकर्मा पद्धति का 'विश्वकर्मा-प्रकाश', में मूल रूप से विवरण प्राप्त होता है। इसके साथ ही मत्स्य तथा भविष्यपुराण में भी इस शैली के विवरण मिलते हैं। वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' एवं भोज का 'समराङ्गणसूत्रधार', हयशीर्ष पाञ्चरात्र तथा गरुड़ पुराण भी इसी परम्परा के प्रतिनिधि ग्रन्थ हैं। दूसरी तरफ सुप्रभेदागम, ईशानशिव, गुरुदेव पद्धति, शिल्परत्न, वैखानसागम, शुक्रनीति, आत्रेयसंहिता, मयमतम्, काश्यपतन्त्र तथा मानसार द्राविड़ शैली की वास्तुविद्याओं का उल्लेख करने वाले प्रमुख ग्रन्थ हैं।[5]

इस प्रकार निष्कर्ष रूप से कहा जा सकता है कि जब आर्य भारत में आये तो यहाँ वास्तुकला की असुर पद्धति विद्यमान थी। हड़प्पा-मोहनजोदड़ो के अवशेष उसके प्रमाण कहे जा सकते हैं। ऋग्वेद में अनार्यों की पुरियों[6] एवं नग्नजित्[7] नामक असुर आचार्यों का नामोल्लेख मिलता है। असुर तथा अनार्य वास्तुकला पत्थर और ईंटों से युक्त होती थी, जबकि आगन्तुक आर्यों की विश्वकर्मा वास्तुकला ईंटों तथा काष्ठ द्वारा निर्मित होती थी।[8] चौथी शताब्दी ई०पू० तक दोनों वास्तुकलाएँ न केवल एक दूसरे के निकट आयीं, बल्कि एक-दूसरे को इस सीमा तक प्रभावित किया कि दोनों के बीच अन्तर करना कठिन कार्य हो गया।

---

१. भृगुरत्रिर्वशिष्ठ विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रवृहस्पती।। मत्स्यपुराणः अध्याय-२५१, पद्य २-४

२. The Canons of Indian Art, p. ९७

३. Indian Culture, Vol. ६, pp. ३४७.५१

४. The Canons of Indian Art, p. ९७

५. The Canons of Indian Art, Chapter १३

६. ऋग्वेद : ६/३०.२० : ५/१९.२

७. ऋग्वेद : १०/६७.३, पृ० ११७

८. Indian Culture, Vol. ६, pp. ३४७.५१

अनार्य वास्तुकला को मय-परम्परा के नाम से जाना जाता है। उत्तर भारत की आर्य वास्तुकला भी इससे बहुत प्रभावित है जो विश्वकर्मा शैली के रूप में प्रसिद्ध हुई। आर्यों के दक्षिण प्रचार-प्रसार ने दक्षिण भारत के वास्तु को इस सीमा तक प्रभावित किया कि उत्तर-भारत की आर्य शैली की प्रतिरचना दिखायी देने लगे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी ई०पू० तक उत्तरभारतीय एवं दक्षिण-भारतीय वास्तुकला एक-दूसरे के इतनी निकट आ गयी थीं कि दोनों के बीच कोई निश्चित कलात्मक या भौगोलिक सीमा रेखा खींचना कठिन था।[१] दोनों के मध्य जो मोटे तौर पर अन्तर था कि आर्य स्थापत्य आयताकार या वर्गाकार होते थे, तथा आनार्य स्थापत्य षट्कोणीय, अष्टकोणीय अथवा वर्गाकार होते थे। यह वास्तुभेद सर्वप्रथम स्तूपों पर प्रकट हुआ दिखायी देता है। उत्तर भारतीय शैली से प्रभावित स्तूप चतुरस्र तथा दक्षिण भारतीय शैली से प्रभावित स्तूप गोलाकार निर्मित हुए। उत्तरभारतीय शैली में काष्ठ, मिट्टी तथा ईंटों का प्रयोग होने के कारण इस शैली के प्राचीन वास्तु वर्तमान में कम ही देखने को मिलते हैं, किन्तु अनार्य वास्तु में ईंटों एवं पत्थरों का प्रयोग होने से कुछ वास्तु अंश अभी भी अस्तित्व बनाये हुए है। यही कारण है कि प्रारम्भिक पुराविद् बौद्ध स्थापत्य को पूर्ण रूप से अनार्य स्थापत्य से उत्पन्न मानते हैं। परन्तु वर्तमान दशकों में हुई पुरातात्त्विक खोजों एवं अनेक साहित्यिक सन्दर्भों ने यह सिद्ध कर दिया है कि ये बौद्ध निर्माण आर्य और अनार्य संस्कृति को समन्वित कर लेने वाले बुद्ध-पूर्व के ब्राह्मण धर्म की ही देन हैं।[२]

बौद्ध-वास्तु की तरह मन्दिर-वास्तु भी इसी आर्य-अनार्य वास्तु की ही मिली हुई परिणति कही जा सकती है। इस समन्वित वास्तुकला पर जो क्षेत्रीय एवं भौगोलिक प्रभाव पड़ा, यह धीरे-धीरे अपने में कई अपवाद छोड़ते हुए उत्तर भारत में विश्वकर्मा व दक्षिण भारत में मय शैली के रूप में विकसित हुआ। छठीं शताब्दी ई०पू० के आते-आते शैलियों के इन नामों में परिवर्तन होने लगा। उत्तर-भारत की विश्वकर्मा शैली कुछ विशिष्ट वास्तु मूल्यों को लेकर विकास को प्राप्त कर नागर शैली कहलाई जबकि दक्षिण भारत की मय शैली स्वत: कुछ विशिष्ट क्षेत्रीय तथा परम्परागत विधाओं को विकसित करती हुई द्राविड़ शैली के रूप में सामने आयी।[३]

नागर शैली - नागर शब्द की व्युत्पत्ति 'नगर' शब्द से हुई है। इसे उत्तरभारतीय आर्य शैली भी कहा जाता है। इस शैली के सर्वप्रथम प्रामाणिक उद्गाता गर्ग माने जाते हैं। इन्होंने नाग राजाओं के अधीन ई०पू० की प्रथम शताब्दी में अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया।[४] इसकी यह बड़ी

१. The Canons of Indian Art, pp. ३१५.१६
२. The Canons of Indian Art, pp. ३०८.१०
३. Ibid., p. २०४
४. The Canons of Indian Art, p. ९७

विडम्बना ही कही जाएगी कि आर्यों की विश्वकर्मा शैली का नागर नामकरण अनार्य नागों ने किया है। इस सन्दर्भ में **के०पी० जायसवाल** कहते हैं कि नागर शैली नागों से अपने नाम को उधार लेती है।[1] जब आर्यों की ईटों और काष्ठ की वास्तुकला ने नागों की प्रस्तर कला का आश्रय ग्रहण किया तो वह नागर शैली कहलायी। भौगोलिक विस्तार की दृष्टि से हिमालय से लेकर विन्ध्यपर्वत तक के क्षेत्रों में यह शैली प्रचलित मानी जाती है। जो लोग बौद्ध, चैत्य, स्तूप और बिहारों का निर्माण करते रहे, वे वर्तमान में आर्य देवी-देवताओं के प्रस्तर मन्दिर बनाने लगे। यद्यपि मन्दिर शिल्प के आधार पूर्ववर्ती ही रहे।

उत्तरवैदिककालीन साहित्य में देवगृहों, देवकुलों देवायतनों के नाम से मन्दिरों का उल्लेख हुआ है। बौद्ध और वैदिक साहित्य में प्रासादों, हर्म्यों और विमानों के रूप में मन्दिरों का परोक्ष रूप से विवेचन होता रहा है, परन्तु कौटिल्यय अर्थशास्त्र[2] इस दृष्टि से सीधे और स्पष्ट प्रमाण देता हुआ नगरों एवं दुर्गों में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, विजयन्त, शिव, वैश्रवण, अश्विनी, श्री और मन्दिर जैसे देवी-देवताओं के कोष्ठ निर्माण की बात करता है। **महाभाष्यकार पतञ्जलि** केशव, बलराम तथा धनपति कुबेर के मन्दिरों के सन्दर्भ देते हैं।[3] मनुस्मृति में भी देवताओं की मूर्तियों एवं पुजारियों का विवेचन मिलता है।[4]

नागर शैली के मन्दिरों की विशेषताएँ - इस शैली के मन्दिर वर्गाकार होते हैं। मन्दिर के बीच में गर्भगृह होता है, जिसमें देवमूर्ति की स्थापना की जाती है। गर्भगृह तक पहुँचने के लिए ढ़लान होती है, जिसमें एक सभा भवन से होकर प्रवेश किया जाता है। सभा भवन का द्वार ड्योढी में निकलता है। सभाभवन के चारों ओर प्राचीरयुक्त प्रांगण होता है, जिसमें अन्य देवताओं एवं पूजा-स्थलों का निर्माण किया जाता है। मन्दिरों की छतें अधिकांशतः सपाट होती हैं, किन्तु शिखर-युक्त मन्दिरों का निर्माण भी इस शैली में मिलता है। इनकी चोटी की रेखाऐं तिरक्षी और झुकी होती हैं तथा शीर्ष आमलक से सुसज्जित होता है। विश्वकर्मा-प्रकाश, मत्स्यपुराण, बृहत्संहिता और भविष्यपुराण में २० प्रकार के नागर मन्दिरों का वर्णन मिलता है, जिनको नामतः मेरु, मन्दर, कैलाश, विमानच्छन्द, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, वृष, सिंह, गज, कुम्भ, समुद्रक, पद्म, सपर्ण, हंस, वर्तुल, चतुष्कोण, अष्टास्र, षोडषास्र, गृहराज श्रीवृक्ष हैं। ये सभी स्रोत पूर्व मध्यकालीन हैं और अपने काल के मन्दिरों का स्मरण करवाते हैं। **'समराङ्गणसूत्रधार'** के ६३वें अध्याय में इनका विवेचन मिलता है, किन्तु 60वें अध्याय में मात्र 8 का उल्लेख प्राप्त होता है। ग्रन्थ में २८ अन्य

---

१. An Empirial History of India, pp. ७२.९३

२. अर्थशास्त्र, २/४.१७

३. पतंजलि महाभाष्य, २/२.३४, पृ० २७८

४ मनुस्मृति, ३/१५२, पृ० २८०

नागर मन्दिरों के उल्लेख के साथ कुल 36 नागर मन्दिरों की चर्चा की गई है। इस प्रकार 'समराङ्गणसूत्रधार' प्राचीन 20 नागर मन्दिरों सहित 48 नागर मन्दिरों का उल्लेख करता है।

उत्तरकालीन नागर एवं लाटशैली के मन्दिरों का विश्लेषण भी ग्रन्थों में किया गया है। इन मन्दिरों को ५ समूहों में बांटा गया है। वैराज समूह के मन्दिर वर्गाकार, पुष्पक के आयताकार, कैलाश के वृत्ताकार, मणिक के अण्डाकार तथा त्रिविष्टप के अष्टकोणीय होते हैं। हयशीर्ष पाञ्चरात्र, अग्निपुराण और गरुड़ पुराण में वैराज समूह के ९ मन्दिरों का विवेचन मिलता है। क्रमशः जिनके नाम मेरु, मन्दर, विमान, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, भद्र, रोचक, एवं शिववत्स कहे गये हैं। 'समराङ्गणसूत्रधार' के अन्तर्गत २४ वैराज मन्दिरों का वर्णन आया है। इन मन्दिरों में वामन, नन्दीवर्धन, नन्दन, सर्वतोभद्र, भद्र एवं रुचक सम्मिलित किये गये हैं। पुष्पक समूह के ९ मन्दिरों को हयशीर्ष पाञ्चरात्र, अग्निपुराण तथा गरुड़पुराण में बलभी, गृहराज मन्दिर, ब्रह्ममंदिर, भुवन, प्रभव, शिविका, शाला तथा विशाला नाम दिये हैं। 'समराङ्गणसूत्रधार' में गृहराज, प्रभव, शिविका, विशाला, अमल, विभु, भव, मुखशाल एवं १०० प्रमुख मन्दिरों का विश्लेषण किया गया है।

ये तीन ग्रन्थ पुनः कैलाश समूह के मन्दिरों के विषय में लगभग एक मत रखते हैं एवं वलय, दुंदुभी, पद्म, महापद्म, मुकुली या वर्धनी, उष्णीश, शंख, कलश और श्रीवृक्ष नामक मन्दिरों का वर्णन करते हैं। 'समराङ्गणसूत्रधार' कैलाशसमूह के मन्दिर में वलय, दुंदुभी; एवं पद्म को परम्परागत सूची से ग्रहण करता है, किन्तु मन्दिरों की अपेक्षा सात मन्दिर प्रभेद अपनी ओर से जोड़ता है। मणिक मन्दिरों की सूची में 'समराङ्गणसूत्रधार' १० सर्वथा नये मन्दिर प्रभेद सम्मिलित करता है। जबकि पूर्व के तीन ग्रन्थ जिन ९ मन्दिर प्रभेदों का उल्लेख करते हैं उनके नाम हैं - गज, वृष, हंस, गरुड़, ऋक्ष, भूषण, भूघट, श्रीजप, एवं पृथ्वीधर। त्रिविष्टप सूची में वज्र, चक्र, स्वस्तिक, वज्र स्वस्तिक, या वक्र स्वस्तिक, खड्ग, गदा, श्रीकंद, एवं विजय का उल्लेख प्रथम तीन ग्रन्थों में आता है। समराङ्गणसूत्रधार इनमें से केवल वज्र का वर्णन करते हुए अन्य ९ नये नाम अपनी ओर से शामिल करता है। इस प्रकार समराङ्गणसूत्रधार जो ६४ मंदिर प्रभेद प्रस्तुत करता है। उनमें से मात्र १५ प्रभेद ही परम्परागत सूची के हैं।

द्राविड़ शैली - द्राविड़ शैली को दक्षिण भारतीय शैली कहा जाता है। भौगोलिक दृष्टि से विन्ध्य क्षेत्र से लेकर कृष्णा तथा कुमारी अन्तरीप के मध्य का क्षेत्र द्राविड़ शैली में आता है। द्राविड़ वास्तुशैली अनार्य नाग शैली की ही परम्परा का विकसित रूप है। यह रूप उत्तर की आर्य शैली से प्रभावित होते हुए मय शैली के रूप में विकसित हुआ तथा कालान्तर में दक्षिण भारतीय स्थानीय विधाओं से प्रभावित होता हुआ द्राविड़ शैली के रूप में सामने आया। द्राविड़ शैली की विशेषता होती है कि इस शैली के मन्दिर बहुत ऊँचे तथा विशाल प्रांगण से घिरे हुए होते हैं। प्रांगण का मुख्य प्रवेश द्वार गोपुरम् कहलाता है।

सुप्रभेदागम नामक ग्रन्थ १४ प्रकार के द्राविड़ मन्दिरों का उल्लेख करता है। ईशानशिव-गुरुदेव-पद्धति ३२, शिल्परत्न-३१, वैखानसागम-२६, शुक्रनीति-१७ तथा अत्रिसंहिता-९६ द्राविड़ मन्दिरों की सूची देते हैं। सबको मिलाने पर द्राविड़ मन्दिरों की सूची में १३७ प्रभेद आते हैं। इनमें से अधिकतर ऐसे नाम हैं जो नागर मन्दिरों की सूची में भी आते हैं, जैसे - मेरु, मन्दर, कैलाश, सर्वतोभद्र आदि। उत्तरकालीन द्राविड़ मन्दिरों की एक से सोलह भूमियों के विभिन्न वर्गीकरण शिल्परत्न, मयमतम् का काश्यपर्संहिता एवं मानसार नामक ग्रन्थों में दिये हैं। यदि इन सब की सूची बनायी जाए तो इनकी संख्या १०० से भी अधिक हो जाती है।

इन प्रभेदों के साथ भी वही कठिनाई है जो नागर शैली के प्रभेदों में है। यह प्रभेद सैद्धान्तिक पक्ष का ही विवेचन करते हैं। पुरातात्त्विक दृष्टि से इनकी संगति बिठा पाना असम्भव ही है।[१] विद्वानों का एक वर्ग मानता है कि नागर और द्राविड़ शैलियों में कठोर प्रभेद 7वीं शताब्दी के बाद ही आया, उससे पहले तो नागर एवं द्राविड़ शैली एक-दूसरे के इतनी निकट थीं कि दोनों में अन्तर कर पाना मुश्किल था। ऐसा प्रतीत होता है मानों वे एक शैली की दो शाखाएँ हों।[२]

जब विशुद्ध पुरातात्त्विक दृष्टि से द्राविड़ शैली के मन्दिरों की ओर दृष्टिपात करते हैं तो प्रारम्भ में नागार्जुन, कोंडा, अमरावती, भट्टीप्रोल एवं घंटशाल के स्तूपों तथा अजन्ता, एलोरा, कार्ले कान्हेरी, बेदसा, पीतलखोरा, नासिक, एवं कोण्डाने के प्रारम्भिक बौद्ध गुहा चैत्यों को पाते हैं। चौथी शताब्दी के चेजरला एवं सामलपुरम् के उन मन्दिरों को देखते हैं तो स्पष्ट रूप से बौद्ध निर्माणों की मन्दिर अनुकृति दिखायी देती है, परन्तु ऐसा लगता है कि ये द्राविड़-शैली के अन्तर्गत मात्र अपवाद स्वरूप है। दक्षिण भारत के शेष मन्दिर अपनी भिन्न विद्या ही प्रस्तुत करते हैं और बौद्ध निर्माणों के पूर्व की वास्तु-परम्परा को ही आगे बढ़ाते हैं। मन्दिरों का विकास क्रम 7वीं शताब्दी से मूल रूप से दो भागों में विभक्त हो गया। एक तो नागर शैली के मन्दिर, जो उत्तर भारत में दूर-दूर तक एवं दक्षिण भारत में ऐहोल एवं पत्तदकल में निर्मित किये गये। दूसरी द्राविड़ शैली के मन्दिर जिनका केन्द्र मुख्य रूप से दक्षिण भारत रहा, किन्तु उत्तर भारत में भी घमनार, ग्वालियर, बड़ोह एवं भुवनेश्वर में इस शैली के दर्शन स्वाभाविक रूप से होते हैं। नागर शैली के अन्तर्गत लाट, उत्कल, बंगाल एवं कश्मीर शैलियों का तथा बराट, आन्ध्र, चालुक्य (बेसर), चोल, होयसल व विजयनगर शैलियों का विकास हुआ।[३]

इस प्रकार भारत में सभी शैलियाँ छठी शताब्दी के बाद ही अपनी विशिष्टता स्थापित कर सकीं। इनमें जो भी वास्तु-तत्व सामने आये वे दोनों ही मुख्य शैलियों से ग्रहण किये गये। स्थानीय

---

१. The Canons of Indian Art. pp. ४४४.८०

२. Ibid.. p. १७३

३. Indian Architecture. p. ११३

वास्तु का भी उन पर पूरा प्रभाव पड़ा। स्थानीय वास्तु का प्रभाव तो इतना था कि ई०पू० की शताब्दियों में विश्वकर्मा और मय शैलियाँ एक-दूसरे से कई दृष्टियों से भिन्न हो रहीं थीं। यह सब स्थानीय वास्तु का ही प्रभाव था, जिसने नागर और द्राविड़ शैलियों के मध्य स्पष्ट रूप से एक कठोर दीवार का कार्य किया। छठी शताब्दी तक इस कठोरता की घनीभूतता इतनी बढ़ गयी कि दोनों ही शैलियों के मिश्रण से बेसर शैली सामने आयी। साथ ही इन दोनों शैलियों के अन्तर्गत अन्य कई उपशैलियाँ भी विकसित हुईं। द्राविड़ शैली के अन्तर्गत ६००-९०० ई० तक पल्लव शैली का, ९००-११५० ई० तक चोल शैली का, ११५०-१३५० ई० तक पाण्ड्य शैली का तथा १३५०-१५६५ ई0 तक विजयनगर शैली का एवं १६०० ई० के निकट मदुराशैली का विकास हुआ।[१]

उत्तरभारत तो वास्तुशैली के विकास क्रम की इस लम्बी रेखा की कल्पना भी नहीं कर सकता था, क्योंकि 12वीं शताब्दी के बाद मन्दिर बनाने की कल्पना करना तो बहुत दूर, उसे सुरक्षित कर पाना भी असम्भव था। मुस्लिम आक्रमणों एवं मुस्लिम शासन में नागर शैली के मन्दिर उंस समय ध्वस्त किये जा रहे थे। फिर भी द्राविड़ शैली विधर्मियों की हथौड़ियों की भाजन हो रही थी और विकासशीलता की ओर भी बढ़ रही थीं।

स्पष्टतया यह देखा जा सकता है कि दोनों 'शैलियों' में छठी शताब्दी के बाद भी अन्तर होने लगा था। नागर शैली के मन्दिर चतुष्कोण होते थे। उन पेर शिखर और शिखर पर आमलक हाते थे। प्राचीन प्रासादों के जो विभिन्न तल हुआ करते थे, उन्हें मन्दिर वास्तु में घनीभूत करके शिखर भूमियों में परिवर्तित किया गया है। नागर शैली के ये मन्दिर निम्नवर्ती और ऊर्ध्ववर्ती इन दो भागों में विकसित होते थे। नीचे का भाग मूल विमान होता था, जो त्रिरथ, पञ्चरथ या सप्तरथ होता था। ऊर्ध्वभाग शिखर होता था, उसकी अधिकांशत: तीन, पांच, सात और नौ भूमियां होती थीं। ये भूमियाँ विभिन्न शृंगों द्वारा प्रकट की जाती थीं। नागर शैली के ये मन्दिर अष्टवर्गीय होते थे। कामिकागम के अनुसार आठ वर्ग-मुख, मसूरक, जङ्घा, कपोत, शिखर, गल; ऊर्ध्वबिन्दु तथा कुम्भ एवं शूरयुक्त आमलसार वर्गों का उल्लेख आता है। अन्यत्र भी नागर शैली के मन्दिरों में जङ्घा, भित्ति, रथक, शुकनासा, शिखर, कंठ, व आमलसार वर्गों का वर्णन आता है।[२] उड़ीसा के मन्दिरों के विशिष्ट सन्दर्भों में **एस०के० सरस्वती** कहते हैं कि नागर शैली के मन्दिरों के रथ चतुरस्र एवं आयतास्र होते थे। साथ ही वे आमलक सुसज्जित रेखा शिखर वाले होते थे।[३] द्राविड़ शैली भी वैसे ही प्रमुख रूप से ऊर्ध्व तथा अध: इन दो भागों में विभाजित रहती थी। रथों की योजना भी विभिन्न आयामी होती थी, किन्तु आयामों की संरचना नागर शैली की संरचना की अपेक्षा काफी भिन्न होती

---

१. Indian Architecture, p. ९४

२. The Canons of Indian Art, p. २०९

३. Struggle for Empire, pp. ५३१.५३३

थी। द्राविड़-शैली में शिखरों का स्थान गोपुरम् ने लिया था। गोपुरम् में विभिन्न भूमियों को घनीभूत न करते हुए विभिन्न मंजिलें लम्बाई और चौड़ाई में क्रमश: कम की जाती हुई, ऊपर उठायी जाती थीं। अन्तत: कील शैली की छत तक उसे पहुँचाया जाता था। विभिन्न भूमियों के शीर्ष पर आमलक न होकर स्तूपी होती थी। साधारणत: द्राविड़ मन्दिर षड्वर्ग के होते थे। इन वर्गों के नाम अधिष्ठान, पाद, पक्ष, ग्रीवा, शिखर एवं स्तूपिका होते थे।[१]

बेसर शैली - एस०के० सरस्वती के अनुसार जहाँ नागर शैली के मन्दिर प्रारम्भ में चतुष्टकोणीय एवं विकसित रूप में स्वस्तिक शैली में होते थे, वहाँ द्राविड़ मन्दिर साधारणत: अष्टकोणीय एवं कहीं षट्कोणीय होते थे।[२] भौगोलिक दृष्टि से बेसर शैली का क्षेत्र विन्ध्य और कृष्णा के बीच का क्षेत्र है जिसे दक्षिणावर्त कहा जाता है, इस शैली के निर्माण वृत्ताकार होते थे। यह शैली नागर एवं द्राविड़ दोनों का सम्मिश्रण थी तथा चालुक्यों को प्रिय थी। इस शैली पर नागर प्रभाव अधिक था, क्योंकि एहोल तथा वातापी जैसी शैली के प्रमुख केन्द्रों पर वर्तमान में नागर शैली के प्राचीन मन्दिर दिखायी देते हैं।[३]

वास्तुशास्त्रसम्मत मन्दिर-विभाजन

चित्तौड़ नरेश राणा कुम्भा के राजकीय स्थपति 'सूत्रधार मण्डन' विरचित 'प्रासाद-मण्डन' नामक ग्रन्थ भारतीय शिल्पशास्त्रीय ग्रन्थों में उत्कृष्ट स्थान रखता है। इसके प्रथम अध्याय में विश्वकर्मा ऋषि को सृष्टि का आद्य सूत्रधार कहा गया है।[४] इसमें प्रासादोत्पत्ति की 14 जातियों के सम्बन्ध में बताया गया है -

१. देवों के पूजन से नागर जाति।

२. दानवों के पूजन से द्राविड़ जाति।

३. यक्षों के पूजन से विमान जाति।

४. गन्धर्वों के पूजन से लतिन जाति।

५. विद्याधरों के पूजन से मिश्र जाति।

६. वसु देवों के पूजन से वराटक जाति।

---

१. Struggle for Empire, pp. ५३१.५३३

२. Ibid.

३. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर,. पृ० २१५

४. सृष्ट्याद्यसूत्रधारस्य प्रसादाद् विश्वकर्मण:।
प्रासादमण्डनं ब्रूते सूत्रधारेषु मण्डन:।। प्रासादमण्डन, पद्य सं० ३, पृ० १

७. नाग देवों के पूजन से सान्धार जाति।

८. नरेन्द्रों के पूजन से भूमिज जाति।

९. सूर्यदेवों के पूजन से विमान-नागर जाति।

१०. चन्द्रमा के पूजन से विमानपुष्पक जाति।

११. पार्वती के पूजन से वलभी जाति।

१२. हरसिद्धि आदि देवियों के पूजन से सिंहावलोकन जाति।

१३. व्यन्तर स्थित देवों के पूजन से फांसी के आकार वाली जाति।

१४. इन्द्रलोक के देवों के पूजन से रथारुह (दारुजादि) जाति।[१]

इस प्रकार इन १४ प्रासाद जातियों में से ८ जातियों के प्रासाद उत्तम बतलाये गये हैं- (१) नागर (२) द्राविड़ (३) भूमिज (४) लतिन (५) साबन्धार (६) विमान नागर (७) विमानपुष्पक (८) श्रृंग और तिलक वाला मिश्र।[२] इस प्रकार स्पष्ट है कि इन अष्ट जाति प्रासाद भेदों को मुख्यरूप से महादेव जी के लिए निर्मित करना श्रेयस्कर है।

भूमि-परीक्षा

प्रासाद निर्माणार्थ भूमि-निरूपण आवश्यक होता है। इसके अलावा नक्षत्रों के शुभाशुभ विचार, निर्माणकर्त्ता, स्थपति एवं जिस देवता विशेष का मन्दिर है इन सभी का विचार किया जाता है। 'प्रासादमण्डन' में 'भूमि परीक्षा' के सम्बन्ध में कहा गया है-

सर्वदिक्षुप्रवाहो वा प्रागुदक्शङ्करप्लवाम्।

भूमिं परीक्ष्य संसिञ्चेत् पञ्चगव्येन कोविदः॥[३]

मणिसुवर्णरूप्येण विद्रुमेण फलेन वा।

सूत्रारम्भ नक्षत्र - 'प्रासादमण्डन'[४] में सूत्रारम्भ के विषय में बताया गया है कि प्रासाद अथवा गृह आदि का सूत्रारम्भ निम्न नक्षत्रों में करने का विधान है - तीनों उत्तरा (उत्तराफाल्गुनी,

---

१. जैन, भगवानदास (अनुवादक) प्रासादमण्डन, अध्याय-१, पृ० ३
सर्वदेवेषु कर्त्तव्याः शिवस्यापि विशेषतः। प्रासादमण्डन, अध्याय-१, पृ० ३.

२. प्रासादमण्डन, अध्याय-१, पद्य सं०-१२, पृ० ४

३. सूत्रारम्भो गृहादीना-मुत्तरायां करत्रये।
ब्राह्मं पुष्ये मृगे मैत्रे पौष्णये वासववारुणे॥ प्रासादमण्डन, पद्य-३०, पृ० २१

उत्तराषाढ़ा, उत्तराभाद्रपद), हस्त, चित्रा, स्वाति, रोहिणी, पुष्य, मृगशीर्ष अनुराधा, रेवती, धनिष्ठा तथा शतभिषा नक्षत्रों में करना चाहिए।

शिला स्थापन – शिला स्थापन हेतु जिन नक्षत्रों का वरण करना चाहिए, वे इस प्रकार हैं – रोहिणी, श्रवण, हस्त, पुष्य, मृगशीर्ष, रेवती तीनों उत्तरा नक्षत्र।[१]

देवालय-निर्माण स्थान – देवालय के निर्माण स्थान के सम्बन्ध में बताया गया है कि नदी के किनारे, सिद्ध पुरुषों के निर्वाण-स्थान, तीर्थ, शहर, गाँव, पर्वत की गुफाओं में बावड़ी, वाटिका तथा तालाब आदि पवित्र स्थानों के निकट देवालय-निर्माण करना चाहिए।[२] देवालय के निमार्ण से धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है।

देवालय का निर्माण काष्ठ, मिट्टी, ईंट, शिला, धातु एवं रत्न आदि द्रव्यों से किया जाता है, जिनका उत्तरोत्तर क्रम में अधिक पुण्य होता है। पत्थर के प्रासाद का फल अनन्त कहा गया है।

कोटिघ्नं तृणजे पुण्यं मृण्मये दशसङ्गुणम्।
ऐष्टके शतकोटिघ्नं शैलेऽनन्तं फलं स्मृतम्।।[३]

देवालय द्वार-दिशा – देवालय द्वार-दिशा के सम्बन्ध में 'प्रासादमण्डन'[४] में कहा गया है कि प्रासाद का यदि एक द्वार रखना हो तो पूर्व दिशा में, दो द्वार रखने हों तो पूर्व-पश्चिम दिशा में, तीन द्वार रखने हों तो दो-द्वारों के मध्य मुख्य द्वार रखना चाहिए। दक्षिणाभिमुख मुख्य द्वार नहीं होना चाहिए।

शिव, ब्रह्मा तथा जिनदेव के प्रासादों में चारों दिशाओं में द्वार रखे जाते हैं। पूर्व उत्तर और दक्षिण; पूर्व, पश्चिम और दक्षिण, पश्चिम एवं उत्तर इस तरह तीन प्रकार के त्रिद्वार-प्रशस्त कहे गये हैं। पूर्व दिशा का द्वार भक्तिप्रद तथा पश्चिम दिशा का द्वार मुक्तिप्रद माना गया है। जिनदेव

---

१. शिलान्यासस्तु रोहिण्यां श्रवणे हस्तपुष्ययोः।
मृगशीर्षे च रेवत्या-मुत्तरात्रितये शुभः।। प्रासादमण्डन, प्रथम अध्याय, पद्य सं०-३१, पृ० २१

२. नद्यां सिद्धाश्रमं तीर्थे पुरं ग्रामे च गह्वरे।
वापी-वाटी-तडागादि-स्थाने कार्यं सुरालयम्।। प्रासादमण्डन, प्रथम अध्याय, पद्य सं०-३२, पृ० २१

३. प्रासादमण्डन, अध्याय-१, पद्य-३५, पृ० २२

४. एकद्वारं भवेत् पूर्वं द्विद्वारं पूर्व पश्चिमे।
त्रिद्वारं मध्यजं द्वारं दक्षिणास्यं विवर्जयेत्।।
चतुर्द्वारं चतुर्दिक्षु शिवब्रह्म जिनालये।
होमशालायां कर्त्तव्यं क्वचिद् राजगृहे तथा।। प्रासादमण्डन, अध्याय-५, पद्य-९-१०, पृ० ९७-९८

के समवसरण-प्रासादों में दिशा का दोष नहीं होता है, अर्थात् इनका द्वार किसी भी दिशा में बना सकते हैं।

नागर जाति के मन्दिरों के विभिन्न भाग

विश्वकर्मा-प्रकाश, मत्स्यपुराण भविष्यपुराण, वृहत्संहिता एवं समराङ्गणसूत्रधार २० प्रकार के नागर मन्दिरों का वर्णन करते हैं। इनके नाम मेरु, मंदर, कैलाश, कुम्भ, मृगराज, गज, विमानच्छन्द, चतुरस्र, अष्टास्र, षोड़शास्र, वर्तुल, सर्वतोभद्र, सिंह, नन्दन, नन्दीवर्धन, हंसक, वृष, गरुड़, पद्मक और समुद्र हैं।[१] उत्तरकालीन नागर तथा लाट शैली के मन्दिरों के विषय में विवेचन मिलता है कि इन मन्दिरों को ५ समूहों में वर्गीकृत किया गया है यथा - वैराज, कैलाश, पुष्पक, मणिक और त्रिविष्टप। वैराज नाम का प्रासाद चौकोर, कैलाश नामक प्रासाद गोलाकार, पुष्पक नामक आयताकार, मणिक नामक अण्डाकार तथा त्रिविष्टप नामक प्रासाद अष्टकोणीय होता है।[२]

नागर शैली के मन्दिर की बनावट को दो प्रकार से समझा जा सकता है -

(1) **तलछन्द** - लम्बाई में गर्भगृह (जिस मण्डप में मूर्ति स्थापित की जाती है।) से प्रवेश द्वार तक की लम्बाई को मन्दिर का 'तलछन्द' कहते हैं।

(2) **ऊर्ध्वछन्द** - ऊँचाई में नींव के ऊपर जहाँ चबूतरा (जगती) आरम्भ होता है, ऊपर शिखर की चोटी तक को उसका 'ऊर्ध्वछन्द' कहते हैं। इस तरह मन्दिर का अध्ययन ऊर्ध्वछन्द एवं तलछन्द दो भागों में किया जा सकता है।

तलछन्द की दृष्टि से मन्दिर के भाग

गर्भगृह - प्रासादपीठ के ऊपर गर्भगृह या मण्डोवर बनाया जाता है, जो वास्तविक रूप में प्रासाद का उदय भाग होता है। मण्ड का अर्थ है- पीठ या आसन एवं जो भाग इसके ऊपर निर्मित किया जाता था, उसे मण्डोवर के नाम से जाना जाता है। प्रासाद-निर्माण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रतिमा का है, जिसकी स्थापना गर्भगृह में की जाती है। गर्भगृह तीन ओर से बन्द होता है और एक ओर द्वार होता है। गर्भगृह में अधिकांशतया प्रकाश की कमी होती है। इसमें प्रायः मध्य में उठी वेदिका पर मूर्ति को स्थापित किया जाता है। मूर्ति के ठीक सामने गर्भगृह का द्वार होता है। गर्भगृह की छत पर प्रायः अलंकरण भी किया जाता है। मन्दिर का मुख्य शिखर भी गर्भगृह के ऊपर निर्मित किया जाता है। गर्भगृह के प्रवेश द्वार के सम्मुख अन्य मण्डप निर्मित किये जाते

---

१. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय-७४, पद्य १-५, पृ० १४३

२. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय-६३, पद्य ७-८, पृ० ५
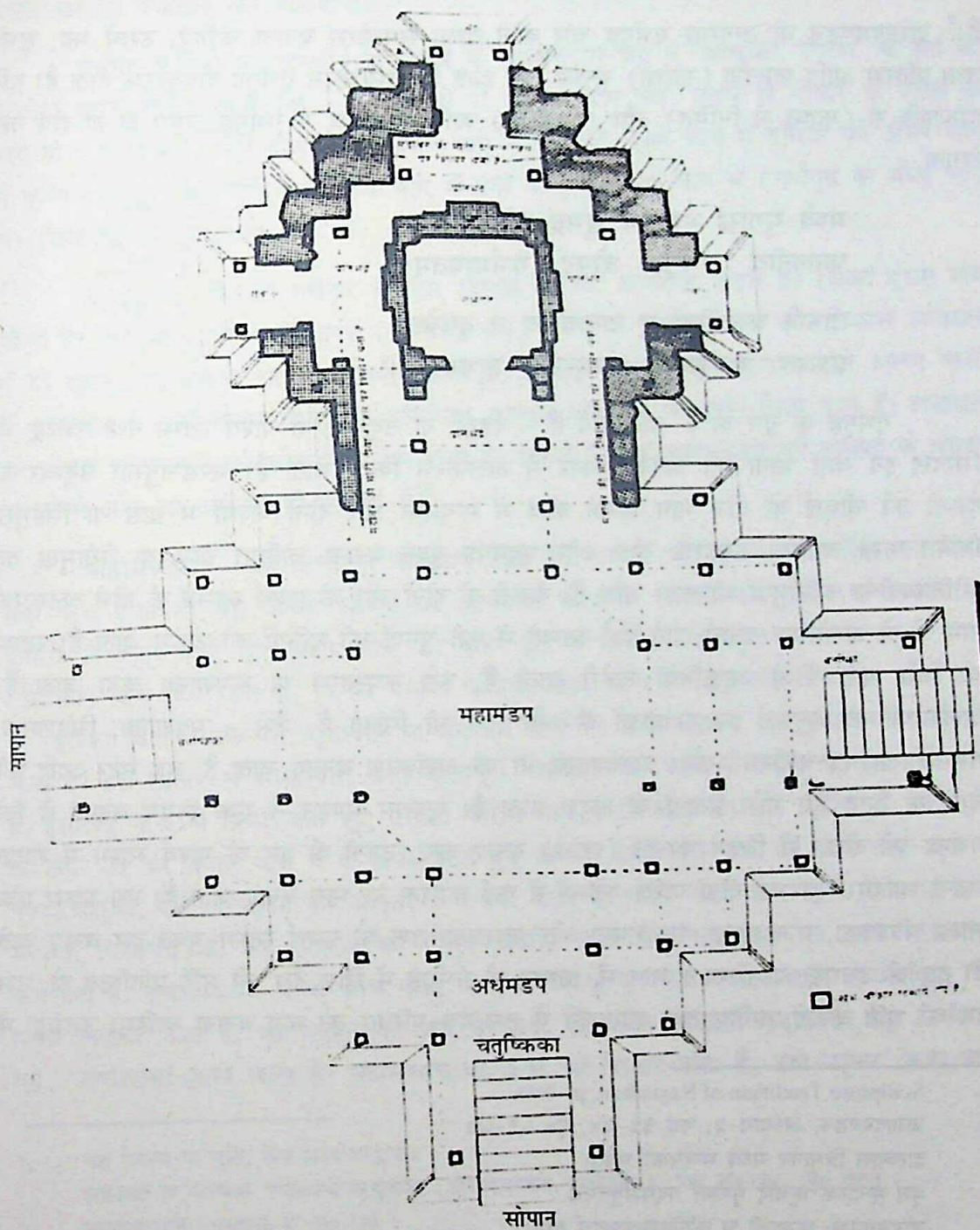
चित्र संख्या 3

मन्दिर का प्रारूप

हैं।[१] प्रासादमण्डन के अनुसार गर्भगृह चार कोने वाला समचोरस बनाना चाहिए, उसमें भद्र, सुभद्र तथा प्रतिरथ आदि फालना (खांचा) बनाना शुभ होता है, लम्बचोरस गर्भगृह दोषकारक होता है। यदि दारुणादि से (काष्ठ से निर्मित) और (स्त्रीलिंग) जाति से प्रासाद में गर्भगृह लम्बा हो तो दोष नहीं लगता -

मध्ये युगास्रं भद्राढयं सुभद्रं प्रतिभद्रकम्।
फालनीयं गर्भगृहं दोषदं गर्भमायतम्।।

दारुजे वलभीनां तु अयातं च न दूषयेत्।
प्रशस्त सर्वकृत्येषु चतुरस्रं शुभप्रदम्।।[२]

गर्भगृह के द्वार के 4 भाग होते हैं - देहली या उदुम्बर, दो पार्श्व स्तम्भ तथा उत्तरङ्ग या सिरदल इन चारों भागों का अनेक प्रकार से अलंकरण किया जाता है। मण्डनानुसार उदुम्बर या देहली की चौड़ाई के तीन भाग करके बीच में मन्दारक और दोनों पार्श्वों में ग्रास या सिंहमुख निर्मित करने चाहिए। मन्दारक गोल और पद्मपत्र-युक्त बनाना चाहिए। ग्रास या सिंहमुख को कीर्तिवक्त्र या कीर्तिमुख भी कहा जाता है। देहली के दोनों ओर के पार्श्व स्तम्भों के नीचे तलरूपक नाम के दो अलंकरण बनाये जाते हैं।[३] स्तम्भों में स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों को उकेरा जाता है। स्तम्भ के जिस भाग में ये आकृतियां उकेरी जाती हैं, उसे रूपस्तम्भ या रूपशाखा कहा जाता है। अलंकरणों के अनुसार इन शाखाओं के और नाम भी मिलते हैं, जैसे - पत्रशाखा, सिंहशाखा, गन्धर्वशाखा, खल्वशाखा आदि। खल्वशाखा पर जो अलंकरण बनाया जाता है, वह मटर आदि की बेलों के उठते हुए गोल प्रतानों के सदृश होता है। सूत्रधार मण्डन ने एक नियम बताया है कि गर्भगृह की दीवार में जितने फालने (खांचे) बनाए जाए, उतनी ही द्वार के पार्श्व स्तम्भ में शाखा रखनी चाहिए।[४] द्वार के दोनों पार्श्व-स्तम्भों में कई फालना या भाग बनाए जाते हैं। इस प्रकार एक शाखा, त्रिशाखा, पञ्चशाखा, सप्तशाखा और नवशाखा तक के पार्श्व स्तम्भ-युक्त द्वार बनाए जाते हैं। द्वार के उत्तराङ्ग या सिरदल भाग में, प्रासाद के गर्भगृह में जिस देव की मूर्ति प्रतिष्ठित हो, उस देव की मूर्ति बनानी चाहिए तथा शाखाओं में उस देव-परिवार का रूप बनाना चाहिए। उत्तराङ्ग में

---

१. Sculpture Tradition of Rajasthan, p. २०७.
२. प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य ३३-३४, पृ० ५६-५७
३. द्वारव्यास त्रिभागेन मध्ये मन्दारको भवेत्।
वृत्तं मन्दारकं कुर्याद् मृणालं पद्मसंयुतम्।।
जाड्यकुम्भः कणाली च कीर्तिवक्त्रव्यद्वयं तथा।
उदुम्बरस्य पार्श्वे च शाखायास्तरूपकम्।। प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य सं०-३९-४०, पृ० ५८
४. प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य सं०-५६, पृ० ६५

गणेश को भी स्थापित कर सकते हैं।[१]

गर्भगृह में देवों के पदस्थान के विषय में भगवानदास जैन ने 'वत्थुसार पयरण' के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि – गर्भगृह के दो बराबर भाग करें, उनमें से दीवार के तरफ के भाग के ५ भाग करें, इनमें दीवार वाले प्रथम भाग में यज्ञ को, दूसरे भाग में देवियों को तीसरे भाग में कृष्ण (विष्णु) और सूर्य को, चौथे भाग में ब्रह्म को, तथा ५वें भाग में (गर्भगृह के मध्य भाग में) शिवलिङ्ग को स्थापित करें।[२]

अन्तराल – जिसमें गर्भगृह का द्वार खुलता है, उसे अन्तराल कहते हैं। इसका दूसरा नाम कौली है। यदि मन्दिर में प्रदक्षिणापथ (परिक्रमा पथ) हुआ, तो उसका प्रवेश और निकास अन्तराल में ही खुलता है। इसके आगे महामण्डप होता है, जिसके स्तम्भ इसे महामण्डप से अलग करते हैं। अन्तराल में खड़े होकर गर्भगृह में प्रतिष्ठित भगवान की मूर्ति के दर्शन किये जाते हैं। अन्तराल की चौड़ाई महामण्डप की चौड़ाई से कम होती है। इसकी लम्बाई महामण्डप की लम्बाई के बराबर या उससे कम या अधिक हो सकती है।[३]

महामण्डप – यह अन्तराल के आगे होता है। लम्बाई-चौड़ाई में यह मन्दिर का सबसे बड़ा कक्ष होता है। यह अनेक स्तम्भों पर आधारित होता है। इसकी दांयी और बांयी ओर की दीवारों से कहीं-कहीं द्वार बनाए जाते हैं। कहीं द्वार न बनाकर अलंकृत और कलापूर्ण गवाक्ष (झरोखा) बना दिये जाते हैं, जिनसे पर्याप्त प्रकाश आता रहता है। महामण्डप पर्याप्त ऊँचा होता है।[४] इसका वितान सामान्यत: वृत्ताकार या वर्गाकार होता है। ऊपर उठकर यह वृत्ताकार (गोल) हो जाता है। इस वितान में सामान्यत: बड़ी कलापूर्ण नक्काशी की जाती है। चूँकि वितान गोल होता है, इसलिए नीचे से ऊपर जाते हुए उसकी परिधि कम होती जाती है। इस परिधि में एक-दूसरे के ऊपर जो थर बनाए जाते हैं वे ऊपर उठते हुए क्रमश: छोटे होते जाते हैं। इनमें तरह-तरह के पुष्पों, पशुओं, देवी-देवताओं की आकृतियाँ बनायी जाती हैं। कहीं-कहीं बीच-बीच में देवाङ्गनाओं, गन्धर्वों, विद्याधरों की बड़े आकार की मूर्तियाँ बनायी जाती हैं। वितान का यह भाग 'रूपकण्ठ' कहलाता है। सबसे ऊपर, बीचों-बीच केन्द्र में एक विशाल वृत्ताकार कमल आदि से अलंकृत गोल पत्थर लगाया जाता है, जो वितान की छत से झूमर की भाँति दिखायी पड़ता है। इस अलंकरण को 'पद्मशिला' कहा जाता है। महामण्डप के ऊपर जो शिखर होता है, उसे 'घूमट' कहा जाता

---

१. यज्ञ देवस्य या मूर्ति: सैव कार्योत्तरङ्गके।
शाखायां च परिवारो गणेशश्चोत्तरङ्गकें।। (प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य सं०-६८, पृ० ७१)

२. प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पृ० ७४

३. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १७

४. भारतीय स्थापत्य, पृ० ३३४

है, इसका दूसरा नाम घण्टी भी है। यह मुख्य शिखर से भिन्न होता है। मुख्य शिखर जहाँ उदीयमान होता है, वहीं घूमट बैठा हुआ होता है। इसकी चौड़ाई की अपेक्षा ऊँचाई बहुत कम होती है। इसके ऊपर की बनावट को संवरणा कहा जाता है।[१] इसे सांभरण भी कहा जाता है।[२] संवरणा की चोटी पर बड़ी या मूलघण्टिका लगायी जाती है। संवरणा में छोटी-बड़ी घण्टियों और सिंहों की मूर्तियों को क्रमशः छोटे होते हुए स्तरों में अनेक प्रकार से लगाकर उसे आकर्षक रूप दिया जाता है।

अर्द्धमण्डप - यह महामण्डप के आगे स्थित होता है और इससे छोटा होता है। इसमें भी छोटा वितान होता है और इसके ऊपर घूमट भी होता है। बहुत बड़े मन्दिरों में नृत्यमण्डप, रङ्गमण्डप आदि मण्डप भी बनाए जाते हैं।[३]

प्रवेशद्वार - प्रवेशद्वार या तो एक चतुष्किका में खुलता है या अर्द्धमण्डप में। मुख्यद्वार या तो अलंकृत चौखट का होता है या तोरण रूप में। जगती के चबूतरे पर से मन्दिर में प्रवेश करने का यही मुख्य द्वार है और इसके आगे सीढ़ियाँ बनी होती हैं। शुक्ल महोदय[४] ने अमरकोष का उद्धरण देते हुए लिखा है - "पुरद्वारं तु गोपुरम्" अतः गोपुरम् का अर्थ 'द्वार' है। सभी मण्डपों की गरिमा और गवाक्षों का बहुत कुछ सौन्दर्य स्तम्भों के कारण होता है। स्तम्भ के भागों के आधार पर कुम्भिका, फिर स्तम्भ, भरणी, शीर्ष और उच्छालक होते हैं। स्तम्भ की बैठकी (जिस पर स्तम्भ खड़ा किया जाता है।) कुम्भिका कहलाती है। इसके ऊपर स्तम्भ होता है। यह चौकोर, षट्कोणीय, अष्टकोणीय या गोल हो सकता है अथवा इसका एक भाग चौकार हो और ऊपर का भाग अष्टकोणीय या गोल हो सकता है। स्तम्भ का ऊपरी सिरा भरणी है, जिसका नीचे का भाग 'आमलक' और ऊपर का भाग 'पद्म' कहलाता है। 'भरणी' स्तम्भ से कुछ बड़ी होती है। भरणी के ऊपर उसका शीर्ष होता है। यह चारों ओर खम्भे से आगे निकला हुआ होता है। इसमें कलश, देवी-देवताओं आदि की मूर्तियाँ उत्कीर्ण होती हैं। स्तम्भ सामान्यतः शीर्ष पर समाप्त हो जाता है, किन्तु जहाँ से अधिक ऊँचा करना होता है वहाँ उसके शीर्ष के ऊपर स्तम्भ की चौड़ाई का एक दूसरा स्तम्भ लगा दिया जाता है, जो मुख्य स्तम्भ से प्रायः 1/4 भाग लम्बा होता है। इसके ऊपर भी शीर्ष होता है।[५]

प्रासादमण्डन में आकृति से स्तम्भसंज्ञा को बतलाते हुए कहा गया है कि चार कोना वाला चतुरस्र, भद्रवाला भद्रक, प्रतिरथ वाला वर्द्धमान, आठ कोना वाला अष्टास्र और आसन के ऊपर से

---

१. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १७
२. प्रासादमण्डन - प्रस्तावना, पृ० १०
३. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १७
४. भारतीय स्थापत्य, पृ० ३४१
५. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० २१-२२

भद्र और आठ कोना वाला स्वस्तिक नाम का स्तम्भ कहा जाता है।[१]

ऊर्ध्वछन्द - *ऊर्ध्वछन्द के तीन मुख्य भाग होते हैं -*

जगती - प्रासादमण्डन के अनुसार प्रासाद की मर्यादित भूमि को जगती कहते हैं जैसे - राजा का सिंहासन रखने के लिए अमुक स्थान मर्यादित रखा जाता है, वैसे ही प्रासाद बनाने के लिए अमुक भूमि मर्यादित रखी जाती है - **प्रासादानामधिष्ठानं जगती सा निगद्यते। यथा सिंहासन राज्ञः प्रासादस्य तथैव सा।।**[२]

जगती का अर्थ टेंम अर्थात् पीठ है। बिना पीठ अर्थात् आधार के भवन की स्थापना नहीं हो सकती है। जिस प्रकार पुरुषाङ्गों में प्रथम अङ्ग चरण अथवा पाद है, उसी प्रकार प्रासाद-पुरुष जगत्याश्रित ही है। जगती पर नाना परिवार देवों की मढ़ियां भी चारों ओर विन्यासित की जाती हैं। यह परम्परा पञ्चायतन पूजा-परम्परा के अनुरूप है। अपराजितपृच्छा के अनुसार - **प्रासादो लिङ्गमित्त्युक्तो जगती पीठमेव च।**[३] प्रासाद शिवलिङ्ग का स्वरूप है, जिसप्रकार - शिवलिङ्ग के चारों तरफ पीठिका होती है, वैसे ही प्रासाद के जगती रूप पीठिका है। समचोरस, लम्बचोरस, आठ कोने वाली, गोल और लम्बगोल भेद से जगती के ५ आकार हैं - **चतुरस्रायताष्ट्रास्त्रा वृत्ता वृत्तायता तथा। जगती पञ्चधा प्रोक्ता प्रासादानुरूपतः।।**[४]

इसलिए प्रासाद का जैसा आकार हो, वैसी ही जगती बनानी चाहिए। जगती के मध्य में मन्दिर का निर्माण किया जाता है। **यह फुट ऊँची व अनेक मन्दिरों में यह बृहदाकार होती है।** इसकी दीवार सीधी-सपाट न होकर नीचे कुछ आगे निकली हुई होती है। इसके नीचे से ऊपर तक चारों तरफ उभरी अलंकरण की पट्टियाँ होती हैं। इन पट्टियों को 'थर' कहते हैं। थरों की संख्या जगती पर निर्भर करती है। इनमें पशुओं, मनुष्यों या पुरुष आदि के अलंकरण होते हैं। जगती के 'थर' मान के विषय में प्रासादमण्डन में कहा गया है कि- जगती की ऊँचाई के २८ पद या भाग करके उसमें तीन पद का जाड्यकुम्भ, दो पद की कणी, तीन पद का दासा, जो पद्मपत्र से युक्त हो, दो पद का खुरक, उसके ऊपर ७ भाग का कुम्भ, फिर तीन पद का कलश, एक भाग का अन्तर्पत्रक, तीन भाग की कपोतपाली, चार भाग का पुष्पकण्ठ होना चाहिए।[५] जगती के चारों ओर

---

१. प्रासादमण्डन, अध्याय-७, पृ० १२१
२. वही, अध्याय-२, पद्य-१, पृ० २५
३. अपराजितपृच्छा, सूत्र-११५, पद्य-५
४. प्रासादमण्डन, अध्याय-२, पद्य-२, पृ० २५
५. वही, पद्य-११-१४, पृ० २८

प्राकार या दीवार और चार द्वार-मण्डप, जल निकालने के लिए मकराकृति की नाली, सोपान और तोरण भी इच्छानुसार बनाए जा सकते हैं। मण्डप के सामने जो प्रवेश द्वार हो उसके आगे सोपान में शुण्डिकाकृति हथिनी बनायी जाती है। तोरण की रचना में नाना प्रकार के रूप या मूर्तियों की शोभा बनायी जाती है। तोरण के कई प्रकार हैं जैसे - घटाला तोरण, तलक तोरण, हिण्डोला तोरण आदि।[१]

मण्डोवर - जगती (चबूतरे) के मध्य में मन्दिर निर्माण किया जाता है। मध्यभाग, जिसमें मूर्ति स्थापित होती है, उसकी तथा उसके सामने के मण्डपों की दीवारें इसमें सम्मिलित होती हैं। इसके बाहर जो किनारे निकलते हैं, उसके नीचे के भाग को 'पीठ' कहते हैं। इस पीठ की जितनी ऊँचाई होती है; उसी के बराबर गर्भगृह का फर्श रखा जाता है। प्रासाद पीठ के निर्माण के लिए भी विभिन्न थरों का विधान है, जैसे ९ अंश का जाड्यकुम्भ, सात भाग की अन्तर्पत्र के साथ कर्णिका, कपोतपाली या केवाल के साथ सात भाग की ग्रासपट्टी (जिसमें सिंहमुख की आकृति बनी रहती है।) और फिर उसके ऊपर १२ भाग का गज-थर, १० भाग का अश्वथर और 8 भाग का नर-थर बनाया जाता है।[२] गज, अश्वादि रूपों वाली पीठ को छोड़कर जाड्यकुम्भ और कर्णिका और केवाल के साथ ग्रासपट्टी वाली साधारण पीठ बनायें उसको कामपीठ कहते हैं। एवं जाड्यकुम्भ तथा कर्णिका ये दो थरवाली पीठ बनावें, उसको कणपीठ कहते हैं।[३]

मण्डोवर के बाहर की तरफ निकले किनारों के ऊपरी भाग को 'अधिष्ठान' कहते हैं। चबूतरे के एक कोने पर गर्भगृह बनाया जाता है। गर्भगृह के तीनों ओर की दीवारों की नींव सीधी खोदी जाती है। मध्य में उनका कुछ भाग आगे निकला होता है। इस आगे निकले भाग को 'भद्र' कहते हैं तथा जो भाग पीछे होता है वह 'प्रतिभद्र' कहलाता है। दीवार का अन्तिम पीछे हटा हुआ भाग, जहाँ से दीवार पार्श्व में मुड़ती है 'कर्ण' (कोना) कहलाता है। एक दीवार में 'भद्र' तो एक ही होता है, किन्तु उसके दोनों ओर 'प्रतिभद्र' दो तीन या अधिक हो सकते हैं। इन्हीं के ऊपर मण्डोवर की दीवारें उठती हैं और ये उनके उद्गम कहलाते हैं। इस कारण मण्डोवर की दीवारें कटावदार मालूम होती हैं, मण्डोवर में यदि प्रदक्षिणापथ हुआ तो यह दीवार उसकी बाहरी दीवार

---

१. प्राकारैर्मण्डिता कार्या चतुर्भिर्द्वारमण्डपैः।
मकरैर्जलनिष्कासैः सोपानैस्तोरणादिभिः।।
मण्डपाग्रे प्रतोल्यग्रे सोपानं शुण्डिकाकृतिम्।
तोरणं कारयेत् तस्य पदपादानुसारतः।। प्रासादमण्डन, अध्याय-२, पद्य-१५-१६, पृ० २८-३०

२. प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य-७-९, पृ० ४६

३. कामदं कणपीठं च जाड्यकुम्भश्च कर्णिका
लतिने निर्गमं हीनं सान्धारे निर्गमाधिकम्।। प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य-१३, पृ० ४६

होती है तथा प्रदक्षिणापथ के बाद गर्भगृह के बीच में दूसरी सीधी भीतरी दीवार होती है तो यही गर्भगृह की दीवार हो जाती है। गर्भगृह की इस बाहरी दीवार को 'जङ्घा' कहते हैं। नागरी, लाटी, वैराटी और द्राविड़ी ये चार प्रकार की जङ्घा हैं। नागरी जङ्घा बिना किसी प्रकार के रूप की और शुद्ध सादी है। स्त्री-युगल के रूप वाली लाटी जङ्घा हैं, कमलपत्रों वाली वैराटी-जङ्घा तथा बहुत मञ्जरी वाली द्राविड़ी जङ्घा प्रसिद्ध है।[1] यदि प्रदक्षिणापथ हुआ तो इस जङ्घा के मध्य में गवाक्ष (अलंकृत झरोखे) निर्मित कर दिये जाते हैं। इन झरोखों में आगे निकले हुए छज्जे होते हैं, जिन्हें 'दण्डछाद्य' कहते हैं। इनके ऊपर एक अलंकृत निर्माण होता है, जिसे 'रथिका' कहते हैं। इसका ऊपरी भाग 'तिलक' कहलाता है। जङ्घा के ऊपरी भाग जो गर्भगृह की छत के ठीक नीचे होता है 'वरण्डिका' कहलाता है। जङ्घा की दीवार की चौड़ाई में देवी-देवताओं, देवाङ्गनाओं आदि की मूर्तियाँ लगायी जाती हैं।[2]

मण्डोवर के उदय को १४४ भागों में विभाजित किया जाता है। यह ऊँचाई प्रासाद पीठ के मस्तक से छज्जे तक ली जाती है। इसके भाग निम्नवत् हैं - खुरा ५ भाग, कुम्भक २० भाग, कलश ८ भाग, अन्तराल २. भाग, केवाल ८ भाग, मंची ९ भाग, जङ्घा ३५ भाग, उद्गम (उरः जङ्घा) १५ भाग, भरणी ८ भाग, शिरावटी १० भाग, ऊपर की कपोतपाली ८ भाग, अन्तराल २. भाग और छज्जा १३ भाग,[3] एक विशिष्ट प्रकार का मण्डोवर 'मेरु मण्डोवर' कहलाता है, इसमें तीन जङ्घायें तथा दो छज्जे बनाए जाते हैं। प्रत्येक जङ्घा मे भिन्न-भिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की जाती हैं।[4]

शिखर - जङ्घा के ऊपर की वरण्डिका से जहाँ गर्भगृह का पटाव होता है, शिखर आरम्भ होता है। यह शिखर चौकोर होता है। इसमें भी प्रत्येक ओर उद्गम की तरह भद्र, प्रतिभद्र और कर्ण होते हैं, किन्तु ये दीवारों के कटावों की तरह गहरे नहीं होते। इसके भद्र एंव प्रतिभद्र को 'रथ' और 'प्रतिरथ' कहते हैं। रथ और प्रतिरथों की संख्या के अनुसार शिखर को त्रिरथ या पञ्चरथ

---

१. नागरी च तथा लाटी वैराटी द्राविडी तथा।।
शुद्धा तु नागरी ख्याता परिकर्म विवर्जिता।
स्त्रीयुग्मसंयुता-लाटी-वैराटी पत्रसङ्कुला।।
मञ्जरी बहुला कार्या जङ्घा च द्राविडी सदा।
नागरी मध्यदेशेषु लाटी लाटे प्रकीर्तिता।।
द्राविडी दक्षिणे देशे वैराटी सर्वदेशजा। प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पृ० ५२

२. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १९

३. प्रासादमण्डन, अध्याय-३, पद्य-२०-२४, पृ० ४९-५०

४. प्रासादमण्डन, भूमिका, पृ० २३

कहते हैं। शिखर का सौन्दर्य सबसे अधिक उन नकली शृंङ्गों के कारण होता है, जो रथ पर बनाए जाते हैं और शिखर उभरे हुए उसी के छोटे भाग होते हैं, इन्हें 'उरुशृङ्ग' कहते हैं। इन उरुशृंङ्गों के अतिरिक्त स्थपति शिखर में अनेक छोटे-छोटे शृङ्ग बनाकर उसकी शोभा बढ़ा देते हैं। ये बहुधा 'वरण्डिका' के ऊपर या 'रथों' के मध्य में निर्मित किए जाते हैं, इन्हें कर्णशृङ्ग कहते हैं।[१] भगवानदास जैन के अनुसार मण्डोवर के छज्जे के ऊपर दो-एक थर और लगाकर तब शिखर का प्रारम्भ करते हैं। शिखर के नीचे का भाग मण्डोवर के पटाव के आकार का होता है, किन्तु वह जैसे-जैसे ऊपर उठता है, वैसे-वैसे संकरा होता जाता है और कोणाकार रूप धारण कर लेता है, किन्तु वह एक निश्चित ऊँचाई पर जाकर रुक जाता है। इस भाग को (जहाँ शिखर का बढ़ना रुक जाता है।) 'स्कन्ध' कहते हैं। स्कन्ध के ऊपर स्कन्ध से छोटी पत्थर की गोल शिला रख दी जाती है, इसे 'ग्रीवा' कहते हैं[२] गोल शिला पर आँवले के आकार की एक और विशाल शिला लगा दी जाती है, इसे 'आमलक' कहते हैं। दूर से देखने पर 'आमलक' आँवले की प्रतिकृति मालूम होता है। आमलक के ऊपर गोलार्द्ध में, क्रमश: छोटे होते हुए कमलदल से अलंकृत गोल पत्थर लगाये जाते हैं, जिन्हें 'चन्द्रिका' कहते हैं। चन्द्रिका के ऊपर इससे छोटा एक आमलक लगाया जाता है। जिसे 'आमलसारिका' कहते हैं। इस पर एक विशाल कलश स्थापित किया जाता है।[३] 'प्रासादमण्डन' में कलश की उत्पत्ति और स्थापना के विषय में कहा गया है कि जब देवों के क्षीर समुद्र का मन्थन किया, तब उसमें से १४ रत्न मिले थे। इन 14 रत्नों में एक काम कुम्भ नाम का श्रेष्ठ कलश भी मिला था। यह प्रासाद के अग्रभाग (शिखर) पर और सभी मांगलिक स्थानों में विद्वानों द्वारा स्थापित किया जाता है।[४] 'प्रासादमण्डन' में सुवर्णपुरुष (प्रासाद पुरुष) की स्थापना के विषय में कहा गया है कि आमलसार के गर्भ में घी से भरा हुआ सोना, चांदी अथवा तांबे का कलश सुवर्णपुरुष के पास रखना चाहिए एवं चाँदी अथवा चन्दन का पलङ्ग रखे, उसके ऊपर रेशम की शय्या विछा करके उस पर सुवर्णपुरुष को शयन कराना चाहिए। यह विधि शुभ दिन में वास्तु-पूजन करके करनी चाहिए, क्योंकि यह प्रासाद का मर्म स्थान है।[५] प्राचीनकाल में कभी-कभी सोने का कलश लगाया जाता था या तांबे के कलश पर सोना चढ़ाकर लगाया जाता था। वर्तमान में प्राय: स्वर्णमण्डित ताँबे के कलश ही लगाये जाते हैं। उसका आकार शिखर के आकार के अनुपात में

---

१. नागरशैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १६
२. भारतीय स्थापत्य, पृ० ३२१
३. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० १९
४. क्षीरार्णवे समुत्पन्नं प्रासादस्याग्रजातकम्।
माङ्गल्येषु च सर्वेषु कलशं स्थापयेद् बुधः।।
—प्रासादमण्डन, अध्याय-४, पद्य-३६, पृ० ८७-८८
५. घृतपात्रं न्यसेन्मध्ये ताम्रतारं सुवर्णजम्।
सौवर्णपुरुषं तत्र तुलीपर्यङ्कशायनम्।। वही, पद्य-३४, पृ०८६

होता है। इसको ढ़कने के लिए प्राय: नारियल के आकार का धातु या पत्थर का ढ़कना लगाया जाता है, जिसे 'वीजापूरक' कहा जाता है।[1]

शिखर के सम्मुख, अन्तराल के ऊपर, जो निर्माण किया जाता है, उसे 'शुकनासिका' कहते हैं, शिखर की प्राय: २/३ ऊँचाई पर यह निर्माण समाप्त हो जाता है और इसके शीर्ष पर सिंह की एक मूर्ति लगा दी जाती है। यह शुकनासिका शिखर के आगे होती है और दर्शकों को वह शिखर का ही भाग मालूम होती है, किन्तु घूमट की तरह उसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। शुकनासा, प्रासाद या देव-मन्दिर की नासिका के समान है।[2]

प्रासादमण्डन में ध्वजा के विषय में बताया गया है कि प्रासाद के शिखर के पिछले भाग में दाहिनी प्रतिरथ में ध्वजादण्ड रखने का छिद्रवाला स्थान ध्वजाधार (कलाबा) निर्मित करना चाहिए। यह पूर्वाभिमुख प्रासाद के ईशान कोण में और पश्चिमाभिमुख प्रासाद के नैर्ऋत्य कोण में निर्मित करना चाहिए।[3] ध्वजा के महात्म्य के विषय में कहा गया है कि तैयार हुए प्रासाद के शिखर को ध्वजा रहित देखकर असुर (राक्षस) उनमें निवास की इच्छा करते हैं। इसलिए देवालय को ध्वजारहित नहीं रखना चाहिए।[4] दशाश्वमेध यज्ञ करने से और समस्त भूतल की तीर्थयात्रा करने से जो पुण्य होता है, वही पुण्य प्रासाद के ऊपर ध्वजा चढ़ाने से होता है।[5] ध्वजा चढ़ाने वाले के वंश की पहले की ५० और बाद की ५० तथा एक अपनी, इस तरह कुल १०१ पीढ़ी के पूर्वजों को नरकरूपी समुद्र से यह ध्वजा पार करवा देती हैं, अर्थात् उद्धार करती है।[6]

जिन प्रासाद का विवेचन - जैन धर्म में 'मन्दिर' और 'आत्मा' इन दोनों शब्दों से भी प्राचीन शब्द है - 'आयतन', जिसका अस्तित्व महावीर के काल में भी था। क्योंकि वे अपने विहारों के समय यक्षायतनों में ठहरा करते थे। बाद में इस आयतन शब्द का उपयोग जिनायतन शब्द के अन्तर्गत होने लगा और उसके भी बाद मन्दिर आलय, गेह, गृह, आदि शब्दों ने उसका स्थान ले लिया।[7] जैन और ब्राह्मण मन्दिरों की रचना में बहुत कुछ समता है। इनमें जो अन्तर है वह यह

१. नागर शैली के नए हिन्दू मन्दिर, पृ० २०
२. वही, पृ० २१
३. प्रासाद पृष्ठदेशे तु दक्षिणे तु प्रतिरथे।
ध्वजाधारस्तु कर्त्तव्य ईशाने नैऋतेऽथवा।। प्रासादमण्डन, अध्याय-४, पद्य-४०, पृ० ८९
४. निष्पन्नं शिखरं दृष्ट्वा ध्वजहीने सुरालये।
असुरा वासमिच्छन्ति ध्वजहीनं न कारयेत्।। वही, पद्य-४८, पृ० ९३
५. ध्वजोच्छ्रायेण तुष्यन्ति देवाश्च पितरस्तथा।
दशाश्वमेधिकं पुण्यं सर्वतीर्थधरादिकम्।। वही, पद्य-४९, पृ० ९४
६. पञ्चाशत् पूर्वत: पश्चाद् आत्मनं च तथाधिकम।
शतमेकोत्तर सोऽपि तारयेन्नकार्णवात्।। वही, पद्य-५०, पृ० ९९
७. जैन कला एवं स्थापत्य, भाग-३, पृ० ५१५-५१६

है कि जैन मन्दिरों के स्तम्भों, छतों आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्धित मूर्तियाँ तथा कथाएँ दर्शायी जाती हैं। जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी देवकुलिकाएँ बनी रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। सामान्यतया जैन मन्दिरों की विशेषताएँ निम्न हैं[१] -

१. इनके आङ्गन के चारों ओर स्तम्भयुक्त छोटे-छोटे मन्दिरों का समूह होता है और इस मन्दिर-समूह के मध्य में मुख्य मन्दिर का निर्माण किया जाता है।

२. इन मन्दिरों का मुख चारों ओर होता है और प्रतिमा भी चतुर्मुखी होती है।

जैन मन्दिरों में गूढ़मण्डप, चौकी मण्डप, नृत्यमण्डप, इन तीनों मण्डपों का होना आवश्यक माना गया है। प्रासादमण्डन में कहा गया है कि जिनदेव के गर्भगृह के आगे गूढ़मण्डप, इसके आगे चौकी वाले मण्डप, त्रिकमण्डप और इसके आगे नृत्यमण्डप इस प्रकार अनुक्रम में तीन मण्डप बनावें।[२]

गूढ़मण्डप - दीवारों से घिरा मण्डप गूढ़मण्डप कहलाता है। 'प्रासादमण्डन' में गूढ़मण्डप की 8 जातियाँ बतलाई गयीं है। इन 8 प्रकार के गूढ़मण्डपों की भी दीवार प्रासाद के दीवार जैसी बनानी चाहिए अर्थात् प्रासाद की दीवार जितने थर वाली हों उतने थर वाली और जितने रूपों को आकृति वाली हो उतने रूपों की आकृति वाली गूढ़मण्डप की दीवार बनानी चाहिए।[३] वे समचोरस, सुभद्र और प्रतिरथ वाला, मुखभद्र और दो या तीन प्रतिरथ वाला कर्ण जालान्तर वाला अथवा भद्र जालान्तर वाला, ऐसे ८ प्रकार के गूढ़मण्डप हैं।

चौकी मण्डप - गूढ़मण्डप के आगे एक चौकी वाला सुभद्र, तीन चौकी वाला किरीटीर, चार चौकी वाला दुंदभी, छः चौकी वाला प्रान्त, सात चौकी वाला मनोहर, तीन-तीन चौकी की तीन लाइन ऐवा, नव चौकी वाला शान्त नाम का मण्डप कहा जाता है। शान्त मण्डप के आगे एक चौकी हो तो नन्द, शान्त मण्डप के आगे चौकी न हो, परन्तु दोनों बगल में एक-एक चौकी हो तो सुदर्शन, शान्त मण्डप के आगे और दोनों बगल में एक-एक चौकी हो तो रम्यक, तीन-तीन चौकी वाली

---

१. जैन विद्या के विविध आयाम, पृ० १९८

२. गूढ़स्त्रिकस्तथा नृत्यः क्रमेण मण्डपास्त्रयः।
जिनस्याग्रे प्रकर्त्तव्याः सर्वेषां तु बलाणकम्।। प्रासादमण्डन, अध्याय-७, पद्य-३, पृ०११७

३. भित्तिः प्रासादवद् गूढे मण्डपेऽष्टविधेषु च।
चतुरस्र सुभद्रश्च तथा प्रतिरथान्वितः।।
मुखभद्रयुतो वापि द्वित्रिप्रतिरथैर्युतः।
कर्णोदकान्तरेणाथ भद्रोदकविभूषितः।। वही, पद्य-१६-१७, पृ० १२२-१२४

चार लाइन हो तो सुनाभ, सुनाभ मण्डप के दोनों बगल में एक-एक चौकी हो तो सिंह और सिंहमण्डप के आगे एक चौकी हो तो सूर्यात्मक नाम का मण्डप कहा जाता है। इन मण्डपों के ऊपर गूमट अथवा सवंरणा किया जाता है। ये मण्डप समचोरस आदि आकृति वाले और अनेक प्रकार के वितान (चन्दोवा) वाले होते हैं।[१]

मण्डप आदि के ऊपर गुमटी के स्थान पर संवरणा की जाती है। संवरणा, छत के तिर्यक रेखाओं में आयोजित भागों पर घंटिकाओं के आकार के लघु शिखर होते हैं। इसके २५ भेद हैं - पुष्पिका, नन्दिनी, दशाक्षा, देवसुन्दरी, कुलतिलका, रम्या, उद्‌भिन्ना, नारायणी, नलिका, चम्पका, पद्‌मा, समुद्‌भवा, त्रिदशा, देवगान्धारी, रत्नगर्भा, चूड़ामणि, हेमकूटा, चित्रकूटा, हिमारण्या, गन्धमादिनी, मन्दरा, मालिनी, कैलासा, रत्नसम्भवा और मेरुकूटा।[२]

छत के नीचे के तल भाग को वितान चान्दनी अथवा चन्दोवा कहते हैं। इसके मुख्य तीन भेद हैं।

❖ छत में जो लटकती आकृति हो, वह क्षिप्त वितान है।

❖ छत की आकृति ऊँची गोल गुम्बज के जैसी हो वह 'उत्क्षिप्त वितान' है।

❖ यदि छत समतल हो तो उसे समतल वितान कहते हैं। यह बिल्कुल सादी अथवा अनेक प्रकार के चित्रों से चित्रित की हुई अथवा खुदायी वाली होती है।

वितान अनेक प्रकार के चित्रों से सुशोभित बनावें तथा संगीत और नृत्य करती हुईं देवांगनाओं से और पुराणादि के अनेक प्रकार के कथारूपों से शोभायमान बनाने चाहिए। चौकी मण्डप के आगे रङ्गभूमि होती है अर्थात् समस्त मण्डपों की पीठ के नीचे की जो भूमि है, व

---

१. एक त्रिवेदषट्सप्ताङ्कचतुष्क्यस्त्रिकत्रये।
अग्रे भद्रं विना पार्श्वे पार्श्वयोरग्रतस्तथा।।
अग्रतस्त्रिचतुश्क्यश्च तथा पार्श्वद्वयेऽपि च।
मुक्तकोणे चतुष्के चेदिति द्वादश मण्डपाः।। प्रासादमण्डन, अध्याय-७, पद्य-२२-२३, पृ० १२६

२. पुष्पिका नन्दिनी चैव दशाक्षा देवसुन्दरी।
कुलतिलका रम्या च उद्‌भिन्ना च नारायणी।।
नलिका चम्पका चैव पद्‌माख्या च समुद्‌भवा।
त्रिदशा देवगान्धारी रत्नगर्भा चूड़ामणिः।।
हेमकूटा चित्रकूटा हिमाख्या गन्धमादिनी।
मन्दरा मालिनी ख्याता कैलासा रत्नसम्भवा।।
मेरु कूटोद्‌भवा ख्याताः संख्यया पञ्च विंशतिः। (अपराजितपृच्छा, सूत्र-१९३, पद्य-२-५)

रङ्गभूमि कहलाती है, वह बड़े लम्बे-चौड़े पाषाणों से तथा अनेक प्रकार के विचित्र पाषाणों से बनानी चाहिए।[१]

नृत्यमण्डप - रङ्गभूमि के ऊपर ही नृत्यमण्डप का निर्माण किया जाता है। इसे सभी प्रासादों के आगे बनाना चाहिए।[२] बलाणक अर्थात् आवृत्त-सोपान बद्ध-प्रवेशद्वार के विषय में प्रासादमण्डन में बतलाया गया है कि देवालय के द्वार के आगे तथा प्रवेशद्वार के ऊपर, राजमहल, गृह, नगर और जलाश्रय (बावड़ी, तालाब आदि) इन सब के द्वार के आगे मुखमण्डप (बलाणक) बनाना चाहिए।[३] मण्डप का द्वार और बलाणक का द्वार मुख्य प्रासाद के द्वार के बराबर रखना चाहिए। बलाणक की ऊर्ध्वभूमि नृत्यमण्डप के समसूत्र में रखनी चाहिए तथा मत्तवारण, वेदी, वितान और तोरणों से शोभायमान बनानी चाहिए।[४] इसके ५ भेद बताए गये हैं - वामन, विमान, पुष्कर, हर्म्यशाला तथा गोपुर।[५]

समवसरण - जिन प्रासाद के आगे समवसरण का निर्माण किया जाना चाहिए। समवसरण वह देवनिर्मित सभा है, जहाँ देवता, मनुष्य एवं पशु जिनों के उपदेशों का श्रवण करते हैं। कैवल्य प्राप्ति के बाद प्रत्येक जिन अपना पहला उपदेश समवसरण में ही देते हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार समंवसरण तीन प्राचीरों वाला भवन है। इसमें ऊपर (मध्य में) ध्यान मुद्रा में एक जिन आकृति (पूर्वाभिमुख) बैठी होती है। समवसरण के प्रत्येक प्राचीर में ४ प्रवेश द्वारों तथा उनके समीप विभिन्न आयुधों से युक्त द्वारपाल मूर्तियों के उत्कीर्णन का विधान है। जैन-परम्परा के अनुसार जिनों के समवसरणों में सभी को प्रवेश का अधिकार प्राप्त है और इस अवसर पर समवसरण में उपस्थित होने वाले मनुष्यों और पशुओं में आपस में किसी प्रकार के द्वेष का वैमनस्य नहीं रह जाता। इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए मूर्त अङ्कनों में सिंह-मृग, सिंह-गज, सर्प-नकुल एवं मयूर-सर्प जैसे परस्पर शत्रुभाव वाले जीवों को साथ-साथ, आमने-सामने दिखाया जाता है।[६]

---

१. एकादशशतान्येव वितानानां त्रयोदश।
शुद्ध सङ्घाटमिश्राणि क्षिप्तोत्क्षिप्तानि यानि च।। प्रासादमण्डन, अध्याय-७, पद्य-३५, पृ० १३२

२. त्रिकाग्रे रङ्गभूमिर्या तत्रैव नृत्यमण्डपः।
प्रासादग्रेऽथ सर्वत्र प्रकुर्याच्च विधानतः।। वही, पद्य-२५, पृ० १२९

३. बलाणकं देवगेहाग्रे राजद्वारे गृहे पुरे।
जलाश्रयेऽथ कर्त्तव्यं सर्वेषां मुखमण्डपम्।। वही, पद्य-३८, पृ० १३४

४. ऊर्ध्वा भूमिः प्रकर्त्तव्या नृत्यमण्डपसूत्रतः।
मत्त्वारणं वेदी च वितानं तोरणैर्युता।। वही, पद्य-४४, पृ० १३५

५. प्रासादमण्डन, अध्याय-७, पृ० १३५-१३६

६. जैन प्रतिमा विज्ञान, पृ० १५२-१५३

जिनप्रासाद में देवकुलिका क्रम - जिन प्रासाद का निर्माण इस तरह करना चाहिए कि उसके चारों ओर ७२, ५२ अथवा २४ देवकुलिकाएँ स्थित हों। जिन प्रासाद के बाँयी और दाहिनी ओर १७-१७, पीछे के भाग में ९ और आगे ८, ऐसे ५१ देवकुलिका और एक मुख्य प्रासाद मिलकर कुल ५२ जिनालय कहा जाता है। यदि जिन प्रासाद बाँयी ओर २५-२५ पीछे की तरफ ११ और आगे की तरफ १०, ऐसे ७१ देवकुलिका और एक मुख्य प्रासाद मिलकर कुल ७२ जिनालय कहा जाता है। मुख्य जिन प्रासाद के आगे, दाहिनी और बाँयी ओर-ऐसे तीन दिशा में ८-८ देवकुलिका बनाने से कुल २४ जिनालय कहा जाता है। ये सब देवकुलिकाएँ जगती के प्रान्त भाग में स्थापित की जाती हैं।[१]

विश्वकर्मा ने बावन जिन प्रासादों का वर्णन किया है, जिनमें पच्चीस तो चौबीस तीर्थंकरों के पृथक्-पृथक् हैं, नेमिनाथ के दो हैं, और शेष २७ सामान्यरूप से सभी तीर्थंकरों के हैं - कमलाभूषण, कमदायक, रत्नकोटि, क्षितिभूषण, पद्मराग, पुष्पदन्त, सुपार्श्व, शीतल, ऋतुराज, श्रीशीतल, श्रेयांस, वासुपूज्य, विमल, अनन्त, धर्मद् श्रीलिङ्ङ्ग, कुमुद, कमलकन्द, महेन्द्र, मानसन्तुष्टि, नमिश्रृङ्ङ्ग सुमतिकीर्ति, पार्श्व, वल्लभ और वीर-विक्रम नामक प्रासाद क्रमशः ऋषभनाथ आदि २४ तीर्थंकरों के हैं। नेमेन्द्र नामक प्रासाद नेमिनाथ का दूसरी बार है। अमृतोद्भव, श्रीवल्लभ, श्रीचन्द्र, कीर्तिदायक, मनोहर, सुकुल, कुलनन्दन, रत्नसंजय, मुक्ति, सुरेन्द्र, धर्मवृक्ष, कामदन्तक, हर्षज, श्रीशैल, अरिनाशन, मनवेन्द्र, पापनाशन, उपेन्द्र, राजेन्द्र, यतिभूषण, सुयुष्प, पद्मव्रत, रूप-वल्लभ, अष्टापद और तुष्टि-पुष्टि प्रासाद सामान्यरूप से सभी तीर्थंकरों के हैं। शक्ति नामक प्रासाद लक्ष्मीदेवी का और श्रीभव (गौरव) प्रासाद ब्रह्मा, विष्णु और शिव का है।

---

१. द्विसप्तत्या द्विबाणैर्वा चतुर्विंशतितोऽपि वा।
जिनालये चतुर्दिक्षु सहितं जिनमन्दिरम्।। प्रासादमण्डन, अध्याय-२, पद्य २३, पृ० ३१-३२

राजसी स्नानागार

डॉ. शैलजा पाण्डेय

भारतीय संस्कृति में मन के साथ तन की शुचिता एवं आह्लाद को भी महत्त्व दिया गया है। स्नान से मनुष्य का तन एवं मन दोनों ही पवित्र, निर्मल एवं प्रसन्न हो उठता है। वास्तु-शास्त्र में गृहनिर्माण के सन्दर्भ में स्नान-गृह का भी उल्लेख प्राप्त होता है। आवास-गृह के सोलह कक्षों में स्नानागार सामान्यतया पूर्व दिशा में होता है-

> **स्नानाग्निपाकशयनास्त्राभुजश्च धान्यभाण्डारदैवतगृहाणि च पूर्वतः स्युः।**
> **तन्मध्यतस्तु मथनाज्यपुरीषविद्याभ्यासाख्यरोदनरतौषधसर्वधाम।।**[१]

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में जन-सामान्य के आवास-गृहों में स्नानागार के स्थान का निर्देश तो प्राप्त होता है किन्तु उसकी संरचना, उसके उपस्कर अथवा सज्जा के विषय में उल्लेख नहीं प्राप्त होता है। स्नानागार के वास्तु एवं शिल्प-सौष्ठव का दर्शन राजसी-स्नानगृहों में दृष्टिगत होता है। वास्तु-ग्रन्थों में नरेशों के सुख-पूर्वक स्नान एवं जल क्रीडा हेतु विशिष्ट स्नान गृहों का विवेचन विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है। समराङ्गणसूत्रधार में इन विशिष्ट स्नान गृहों के प्रमुख रूप से पाँच भेद-धारागृह, प्रवर्षण, प्राणाल, जलमग्न एवं नन्दावर्त कहे गये हैं। सामान्य-जनों हेतु इनके निर्माण का प्रावधान नहीं है-

> **धारागृहमेकं स्यात् प्रवर्षणाख्यं ततो द्वितीयं च।**
> **प्राणालं जलमग्नं नन्दावर्तं तथान्यदपि।।**
>
> **प्राकृतजनार्थमेतन्न विधेयं योग्यमेतदवनिभुजाम्।**
> **मङ्गल्यानां सदनं दिव्यमिदं तुष्टिपुष्टिकरम्।।**[२]

इन विशिष्ट स्नानगृहों का वर्णन इस प्रकार प्राप्त होता है-

---

१. मुहूर्तचिन्तामणिः १२/२१
२. समरा. ३१.११७-११८

१. धारागृह

जल-यन्त्रों के सहयोग से निर्मित यह गृह मात्र स्नानगृह ही नहीं, अपितु जल-क्रीडा-गृह भी है। यह किसी जलाशय के निकट सुरम्य-स्थल पर निर्मित होता है। इसमें यन्त्र की सहायता से जल ऊपर चढ़ाया जाता है। यन्त्र की ऊँचाई से दुगुनी या तीन गुनी ऊँची नलिकायें (पाइप लाइन) होती हैं। इसमें बाहर की ओर रन्ध्र बने होते हैं एवं उनसे पानी सुगमता से निकलता हैं–

यन्त्रोत्सेधाद् द्विगुणा त्रिगुणा वा नाडिका कार्या।
जलनिर्वाहसहासावन्तर्मसृणा बहिश्च नीरन्ध्रा।
निर्व्यूढाम्भसि तस्यां शुभे मुहूर्त्ते गृहं कार्यम्।।[१]

निर्माण विधि

शुभ मुहूर्त में विधि-पूर्वक वास्तुपूजन कर सुन्दर स्नान-गृह का निर्माण करना चाहिये। स्नान-शाला को प्राग्रीवों (शीर्ष पर निर्मित भवन-भूषा), रतिचित्रों, सुन्दर प्रकोष्ठों, जालों (झरोखा), वेदियों, एवं कपोतपालियों (विशिष्ट भित्तिभूषा) आदि से सुसज्जित करना चाहिये। उस शाला में सुन्दर शाल-भंजिकायें (वृक्ष की शाखा का सहारा लिये युवती), यन्त्र द्वारा निर्मित विविध प्रकार के पक्षी, युगल, वानर, शृगाल, विद्याधर, सिद्ध, भुजंग, किन्नर, चारण एवं नृत्य करते हुये किन्नर आदि निर्मित करना चाहिये। कल्पतरु की संरचना करनी चाहिये जिसपर रमणीय लतायें एवं गुल्म हों। सुन्दर हंसों की श्रेणी का निर्माण करना चाहिऐ–

प्राग्ग्रीवैरतिचित्रैः शालैर्जालैर्विभूषितं विविधैः।
वेदीभिः परिकरितं कपोतपालीभिरभिरामम्।।

रमणीयसालभञ्जिकामनेकविधयन्त्रशकुनिकृतशोभम्।
मिथुनैश्च वानराणां जम्भकनिवहैश्च नैकविधैः।।

विद्याधरसिद्धभुजङ्गकिन्नरैश्चारणैश्च रमणीयम्।
नृत्यद्भिः परमग (गु)णैः शिखण्डिभिर्मण्डितोद्देशम्।।

कल्पतरुभिर्विचित्रैश्चित्रलतावल्लिगुल्मसंछन्नम् ।
परपुष्टषट्पदालीमरालमालामनोहारि ।।[२]

सभी स्त्रोतों से जल-प्रवाह हो, सभी नालिकायें आपस में अच्छीतरह से सम्बद्ध हो तथा सभी सुन्दर आकृतियाँ उन नालिकाओं से सम्बद्ध हो। नालिकायें स्तम्भतुला (स्तम्भ का ऊपरी

---

१. समरा. ३१.११९-१२०

२. समरा., ३१.१२५-१२८

भाग) की भित्ति से टिकी हुई चारों ओर स्थित हों। इन सभी को दृढ़ वज्रलेप (भित्ति आदि को स्थिरता प्रदान करने वाला लेप) से सुदृढ़ बनाया जाता है–

प्रवहत् सकलस्त्रोतः सुश्लिष्टनिविष्टनाडिकं मध्ये।
सच्छिद्रनाडिकयुक्तं नानाविधरूपरमणीयम्।।

सुश्लिष्टनाडिकाग्रे स्तम्भतुलाभित्तिसंश्रिते परितः।
सम्यक् कृत्वा दृढतरविलेपनं वज्रलेपाद्यैः।।[१]

जल-प्रवर्षण के स्त्रोत एवं विधि

सभी नालिकाओं एवं यन्त्रों को यथोचित रीति से उचित स्थान पर स्थापित करने के पश्चात् गृहपति (राजा) की रुचि के अनुसार स्थपति को जल-प्रवाह के स्त्रोतों का रूपांकन करना चाहिये। इनके कई रूप हो सकते हैं–

१. आपस में जलक्रीडा करते हुये हाथियों के जोड़े निर्मित हों, जिनके ऊपर कमलपुष्पों से झरते हुये जल-बिन्दु गिरें। इस जल-निर्झर से उनकी आँखें मुँदी हुई प्रतीत हों–

कार्याण्यस्मिन् करिणां मिथुनान्यभितोऽम्बुकेलियुक्तानि।
अन्योन्यपुष्करोज्झितसीकरभयपिहितनयनानि ।।[२]

२. मदोन्मत्त हाथी के गण्डस्थल से जल का वर्षण इस प्रकार हो, मानों उसके गण्डस्थल से मद झर रहा हो–

वर्षानुकृतं चास्मिन् प्रीतिमति प्रतिमङ्गजो वीक्ष्य।
दृक्कटमेहनहस्तैर्मदमिव मुञ्चञ् जलं कार्यः।।[३]

३. जल-प्रवर्षण दर्शाने के लिये नारी-प्रतिमाओं का भी प्रयोग प्राप्त होता है। विविध प्रयोग इस प्रकार हैं–

(क) किसी स्त्री के दोनों स्तनों से जल-धारा निकलती हुई दर्शाई जाय–

स्तनयोर्युगेन सृजती जलधारे तत्र कापि कार्या स्त्री।[४]

(ख) किसी स्त्री के पलकों से जल-कण ऐसे गिरें मानों नेत्रों से आनन्दाश्रु झर रहे हों–

---

१. समरा., ३१.१२९-१३०

२. समरा., ३१.१३४

३. समरा., ३१.१३५

४. समरा., ३१.१३६

आनन्दाश्रुलवानिव सलिलकणान् पक्ष्मभिः काचित्।[1]

(ग) किसी स्त्री के नाभि-गहवर से मानों छोटी नदी की धारा निकल रही हो–

नाभिह्लदनदिकामिव विनिर्गतां कापि बिभ्रती धाराम्।[2]

(घ) किसी स्त्री की अंगुलियों के नखों से जल इस प्रकार झरता हुआ दिखे मानों नखों से किरणें फूट रही हों–

काप्यङ्गुलीनखांशुभिरिव चोषित् सिञ्चती कार्या।[3]

इसी प्रकार अन्य रमणीय एवं मनोहर दृश्यों की कल्पना कर जलस्रोतों की निर्मिति की जाती रही है।

जलावगाह्य स्थल

उपर्युक्त जल-निर्झरों के मध्य भाग में सुवर्ण एवं रत्न-जटित सिंहासनपर बैठकर राजा आनन्दायक, सुमधुर मंगलगीतों एवं वाद्यों को सुनते हुये जब कभी स्नान करता है एवं उसके ऊपर सभी रमणीय प्रकल्पनों से सुरम्य, शुभ्र एवं स्फुट जल-धारा गिरती है तो वह राजा विविध जल-शिल्पों का सुख उठाते हुये एवं उनका अवलोकन करते हुये मानों धरती का मनुष्य नहीं, अपितु सुरपति इन्द्र है जिसने पृथिवी पर अपना आवास बना रखा है–

मध्ये तस्य विधेयं सिंहासनममलहेममणिघटितम्।
तत्रासीदेन्नरपतिरवनिपतिः श्रीपतिर्देवः।।

स्नायात् कदाचिदस्मिन् मङ्गलगीतैर्निवर्धितानन्दः।
वादित्रनाट्यनिपुणैर्निषेव्यमाणः सुरेन्द्र इव।।

य एतस्मिन् गाढगलपितधनधर्मव्यतिकरे
शुचौ धाराधाम्नि स्फुटसलिलधारे नरपतिः।
सुखेनास्ते पश्यन् विविधजन्यशिल्पानि स भवेन्न
मर्त्यः किन्त्वेष क्षितिकृतनिवासः सुरपतिः।।[4]

---

१. समरा., ३१.१३६
२. समरा., ३१.१३७
३. समरा., ३१.१३७
४. समरा., ३१/१३९-१४

राजवल्लभमण्डन (९/१९) तथा अपराजितपृच्छा (८८/७-१२, ८९/५-११) में धारा-मण्डप एवं जल-यन्त्र का वर्णन प्राप्त होता है। राजवल्लभमण्डन के अनुसार धारा-मण्डप का निर्माण क्रीडा-वाटिका के मध्य में होना चाहिये-

वामे भागे दक्षिणे वा नृपाणां त्रेधा कार्या वाटिका क्रीडनार्थम्।
एकद्वित्रिदण्डसंख्याशतं स्यान्मध्ये धारामण्डपं तोययन्त्रैः।।[1]

२. प्रवर्षण स्नानगृह

इस स्नानागार की संरचना भी पूर्ववत् होती है। इसमें मेघों के अष्टकुलों की संरचना की जाती है एवं जल की धारायें वर्षा की धारा के सदृश गिरती हैं अतः इस धारा गृह (स्नानागार) की संज्ञा प्रवर्षण है-

जलदकुलाष्टकयुक्तं पूर्ववदन्यद् गृहं समाचरेत्।
वर्षद्धारानिकरैः प्रवर्षणाख्यां तदाप्नोति।।[2]

संरचना

मेघों के आठ कुलों के प्रत्येक कुल में दिव्य अलंकार से सुसज्जित तीन, चार या सात सुदृढ़ पुरुष निर्मित किये जाते हैं जो जल-यन्त्र की ऊँचाई के चौथे भाग के बराबर होते हैं। इन पुरुषों के भीतर जल के वक्र-नालों द्वारा निर्मल जल भरा जाता है। तत्पश्चात् जल-प्रवेश के सभी सन्ध्रों को बन्द कर जल छोड़ने वाले सभी भागों को खोल दिया जाता हैं। ये यन्त्र पुरुष जलपूर्ण वक्रनाल से जल-द्वार को एक-एक कर खुलने वाले यन्त्रों से जल छोड़ते हैं जिससे जलवृष्टि अत्यन्त रमणीय प्रतीत होती है। ये मेघ-पुरुष सभी छिद्रों से, दो या तीन छिद्रों को छोड़कर अथवा इच्छानुसार जलवृष्टि करते हैं। इस प्रकार की वृष्टि सुरम्य वातावरण का निर्माण करती है जो ग्रीष्मकालीन सूर्यातप को शान्त करने के अतिरिक्त नेत्रों को भी सुख देती है-

प्रतिकुलमस्मिन् कार्या दिव्यालङ्कारधारिणः पुरुषाः।
विधिना त्रयः सुरूपाश्चत्वारः सप्त वा सुदृढाः।।

यन्त्रेण समोच्छ्रायेण तांश्चतुर्थेन वा ततः पुरुषान्।
कृत्वा सवक्रनालानम्भोभिः पूरयेद् विमलैः।।

सलिलप्रवेशरन्ध्राण्यखिलानि पिधाय तत्र पुरुषाणाम्।
अङ्गानि वारिमोक्षाण्यखिलान्यथ मोचयेत् तेषाम्।।

---

१. राजवल्लभमण्डन, ९.१८
२. समरा., ३१.१४२

सलिलं सवक्रनालं द्वारप्रतिरोधमोचनैः पुरुषाः।
मुञ्चन्ति स्वेच्छममी विचित्रपातेन चित्रकरम्।।

इत्थमिमान् वारिधरान् सामस्या(स्त्या)द् द्वयन्तरेण वा सलिलम्।
त्र्यन्तरतो वा स्वेच्छं प्रवर्षयेदतिमहच्चित्रम्।।

इदं नानाकारं कुलभवनमाद्यं रतिपते-
र्निवासश्चित्राणामनुकरणमेकं जलमुचाम्।
पयः पातैर्ग्रीष्मे रविकरपरीतापशमनं
न केषामत्यर्थं भवति नयनानन्दजननम्।।[1]

३. प्रणाल स्नानागार

यह स्नानागार दो तलों में निर्मित होता है। इसमें १,४,८,१२ या १६ स्तम्भ लगते हैं, चार चौकोर भद्र निर्मित होते हैं एवं सभी भित्ति से युक्त होते हैं। इन्हें ईलीतोरण से युक्त एवं पुष्पक के आकार का बनाया जाता है। इसके ऊपर मध्य में सुदृढ़ प्राङ्गण-वापी बनाई जाती है। उस वापी के मध्य में कर्णिका से युक्त कमल पुष्प, चारों कोणों में सुन्दर तथा सुसज्जित कठपुलियाँ (दारु दारिका) बनानी चाहिये जिनकी दृष्टि मध्य-स्थित कमल पर टिकी हो।

राजा स्नानार्थ मध्य कमल पर बैठतें हैं। जल से पूर्ण अङ्गणवापी का जल यन्त्रों द्वारा वापी के छाद्य तक पहुँचता है एवं वह जल उन पुत्तलिकाओं के मुख, नासा, श्रवण एवं नेत्रादिकों से निकलता हुआ राजा पर गिरता है–

एकेनाथ चतुर्भिः स्तम्भैरष्टभिरथार्कसङ्ख्यैर्वा।
षोडशभिर्वा कुर्यान्मनोहरं गृहमिह द्वितलम्।।
भद्रैर्युतं चतुर्भिश्चतुरश्रं सर्वभित्तिसंयुक्तम्।
ईलीतोरणयुक्तं कर्तव्यम् पुष्पकाकारम्।।
तस्योपरि मध्यगता प्राङ्गणवापी दृढा विधातव्या।
शतपत्रविहितभूषा तन्मध्ये कर्णिका कार्या।।
तत्कोणेषु चतुर्ष्वपि रमणीया दारुदारिकाः कार्याः।
मध्याम्बुजनिहितदृशः सालङ्काराः सशृङ्गाराः।।
पूर्वोक्तयन्त्रयोगात् पद्मासीने वसुन्धराधिपतौ।

---

१. समरा०, ३१/१४३–१४८

भृङ्गारामलवारिभिरङ्गणवापीं भ्रियाच्च ततः।।
तामिति भृत्वा वापीं तत्सलिलं तदनुपट्टगर्भगतम्।
छाद्यस्तु गन्धरोधेष्वति रोहतिसर्वतो नियतम्।।
मुखपटसमुत्कीर्णै रूपैश्चित्रैर्मनोरमैरखिलैः।
अङ्गैर्वारि विमुञ्चति नासास्यश्रवणनेत्राद्यैः।।[१]

४. जलमग्न स्नानागार

यह स्नानागार अन्य स्नानगृहों से पृथक् है। इसमें जलाशय ऊपर होता है तथा स्नानागार भूमिगर्भ में स्थित होता है। प्रथमतः इसके लिये चौकोर एवं गहरी वापी निर्मित करायी जाती है जो सुन्दर एवं सुदृढ़ होती है। इस वाणी के नीचे गर्भगत स्नानागृह निर्मित होता है। इस गृह के सन्धियों पर अच्छी तरह वज्रलेप किया जाता है। इस कक्ष में प्रवेश हेतु नीचे सुरंग बनाई जाती है एवं ऊपरी भाग में प्रवर्षण कराने की यान्त्रिक व्यवस्था की जाती है। जल - प्रवर्षण रमणीय रूपों के माध्यम से होता है। यह स्नानगृह मानों वरुण देव का आवास हो-

चतुरश्रातिगभीरा वापी कार्या मनोरमा सुदृढ़ा।
गर्भगतं गृहमस्याः कर्तव्यं लिप्तसन्धि ततः।।
विहितप्रवेशनिर्गति सुरङ्गयाद्यौ निवेशितद्वारम्।
विदधीत चारुरूपैः प्रवर्षकैर्व्याप्तमुपरिष्टात्।।
चित्राध्यायोदितवर्त्मना ततोलङ्कृतं च चित्रेण।
तस्य विधेयं मध्यं सलिलाधिपवाससङ्काशम्।।[२]

स्नानागार की वापी– स्नानागार के ऊपर निर्मित वापी में नाल एवं सछिद्र कर्णिका युक्त कमल पुष्प निर्मित कराना चाहिये। तत्पश्चात् पुष्पपर्यन्त निर्मल जल भरना चाहिये। चारों दिशाओं में शालायें एवं तोरण-द्वार आदि निर्मित हों। इस वापी में कृत्रिम मत्स्य, मकरी, पक्षी तथा अन्य जलजन्तुओं के साथ कमल-पुष्प निर्मित होने चाहिये–

ऊर्ध्वविनिर्गमिताब्जैर्नालैस्तत्पट्टकन्दकोद्भूतैः ।
सच्छिद्रकर्णिकागतदिनकरकरनिर्मितोद्द्योतम् ।।
आपूरयेत् ततोऽनु च पाताम्बुभिरमलकमलपर्यन्तम्।
विधिनामुनैव सम्यक् प्रविधाय मनोरमं भवनम्।।
नानारूपकयुक्त्या उ (व्यु) परचिततमङ्गतोरणद्वारम्।

१. समरा०, ३१/१४९-१५५
२. समरा०, ३१/१५७-१५९

शालाभिरायताभिश्चतसृष्वपि दिक्षु कृतशोभम्।।
कृत्रिमशफरीमकरीपक्षिभिरपि चाम्बुसम्भवैर्युक्ताम्।
कुर्यादम्भोजवतीं वापीमाहार्ययोगेन।।[१]

स्नानागार का राजनीतिक प्रयोग– जलमग्न स्नानगृह का प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से भी होता था। यहाँ राजा की आज्ञा से सामन्त आदि प्रमुख राजपुरुष तथा दूसरे राष्ट्र से आये राजदूत यहाँ ठहरते थे। यहाँ ठहरने वालों के लिये वारांगनाओं की व्यवस्था रहती थी। यह स्नानागार मानों भुजगेश्वर शेषनाग का पातालभवन है। जहाँ भोगविलास की समग्र सामग्री उपलब्ध रहती थीं–

सामन्तमुख्यपुरुषा राजाज्ञालब्धसंश्रयास्तत्र।
पर राष्ट्रगतदूतास्तिष्ठेयुर्निहितमिह निभृताः।।
अथ स यथाविधि सलिलक्रीडां पूर्वोक्तमार्गरूपाणाम्।
दृष्ट्वा मुदितः कुर्यात् पर्यङ्कारोहणं नृपतिः।।
तत्र स्थितस्य नृपतेः परिवारितस्य
वाराङ्गनाभिरभितो जलमग्नधाम्नि।
पातालसद्मनि यथा भुजगेश्वरस्य
निस्सीमसम्भृतरतिर्भवति प्रमोदः।।[२]

५. नन्द्यावर्त स्नानागार

इस स्नान गृह में भी पूर्वोक्त विधि से वापी निर्मित की जाती है। वापी के मध्य भाग में चार स्तम्भों के ऊपर मुक्ता प्रवाल आदि से पुष्पक लटम (सुन्दर आकृति विशेष) निर्मित होता है। वापी के चारों ओर पुष्पक पर्यन्त जल भरना चाहिये। एवं आवागमन हेतु सुदृढ़ तथा सुन्दर मार्ग निर्मित होना चाहिये। वापी की भित्तियों पर गर्भ-स्वस्तिक आदि शुभ तथा सुन्दर आकृतियों का अंकन होना चाहिये। इस वापी में राजा अपने मित्रों एवं स्त्रियों के साथ पुष्पक पर जाकर जल-क्रीड़ा करता है–

पूर्वोक्तवापिकायां मध्ये स्तम्भैश्चतुर्भिरुपरचितम्।
मुक्ताप्रवालयुक्तं पुष्पकमथ कारयेत् लटमम्।।
वापीं परितः पुष्पकमापूर्य सुनिर्गमाभिरथ सुदृढ़म्।
गर्भस्वस्तिकभित्तिभिरूपहितशोभं समन्ततः कुर्यात्।।
पूर्वोक्तवारियोगात् पूर्णामाकर्णतो विधायैताम्।
जलकेलिषु सोत्कण्ठो महीपतिः पुष्पकं यायात्।।

---

१. समरा०. ३१/१६०–१६३
२. समरा०, ३१/१६४–१६६

कुर्वीत नर्मसचिवैर्विलासिनीभिश्च सार्धमवनिपतिः।
तद्भित्यन्तरवर्ती निमज्जनोन्मज्जः क्रीडाम्।।[१]

इन पाँचों प्रकार के राजसी स्नानगारों का विहगावलोकन करने पर अधोलिखित निष्कर्ष प्राप्त होते हैं:–

१. ये स्नानागार जन सामान्य के लिये नहीं थे। इनका निर्माण एवं उपभोग राजा-महाराजा ही करने में सक्षम थे।

२. इनका प्रयोजन स्नान-मात्र नहीं था अपितु ग्रीष्म-काल में सुखोपभोग वं जल-क्रीडा भी था। ये वैभव एवं विलास के प्रतीक थे।

३. ये स्नानागार वास्तु-कला एवं यन्त्र-कला के निदर्शन थे। यहाँ जल की व्यवस्था दोनों तरह से प्राप्त थी। जलाशय नीचे होता था एवं जल नालिकाओं द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता था। दूसरी व्यवस्था के अन्तर्गत जलाशय ऊपर होता था एवं स्नानगृह नीचे होता था। इसका उदाहरण जलमग्न स्नानगृह है।

४. इसका प्रयोग राजनीतिक दृष्टि से विशिष्ट अतिथियों के लिये विश्रामगृह एवं आमोद-गृह के रूप में भी होता था।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राजभवन के ये स्नानागार राजाओं के क्रीडा, आह्लाद, भोगविलास एवं आमोद के स्थल थे, जहाँ नृपति अपने इष्ट-मित्रों, विशिष्ट अतिथियों एवं स्त्रीजनों के साथ स्नान-सुख उठाते हुये तन तथा मन दोनों की क्लान्ति दूर करते थे। ये स्नानागार उन्नत भारतीय वास्तुकला, यन्त्रकला एवं जल शिल्प के उदाहरण हैं।

---

१. समरा०, ३१/१६७-१७०

वास्तु एवं ज्योतिष का अन्तः सम्बन्ध

डॉ. नवीन राजपूत

हिन्दू-संस्कृति अति प्राचीन काल से समृद्ध एवं सम्पन्न रही है। हिन्दू-संस्कृति का मुख्य उद्देश्य मनुष्य मात्र का कल्याण कैसे हो। इसका जितना गम्भीर विचार हिन्दू-संस्कृति में किया गया है, उतना अन्यत्र नहीं मिलता। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य जिन-जिन वस्तुओं एवं व्यक्तियों के सम्पर्क में आता है और जो-जो क्रियाएँ करता है उन सबको हमारे त्रिकालदर्शी ऋषि-मुनियों ने बड़े वैज्ञानिक ढ़ग से मर्यादित, सुनियोजित एवं सुसंस्कारित किया है। उदाहरणतः ऋषियो द्वारा हमारे जीवन को ४ आश्रमों (ब्रह्मचर्य, गृहास्थ, वानप्रस्थ एवं संयास) में विभाजित कर प्रत्येक आश्रम में क्रियमाण कर्मों की व्यवस्था क्रम से की गई है इन्हीं आश्रमों में सबसे महत्त्वपूर्ण आश्रम गृहास्थ आश्रम है क्योंकि अन्य आश्रम इसी पर आश्रित हैं।

गृहास्थ का अर्थ है गृह (निवास) में स्थित (रहना) अर्थात् प्रत्येक मनुष्य जो गृहस्थ है वह अपने निवास के लिए भवन-निर्माण करता है। ऋषियों ने इस कृत्य को भी नियमों, विधियों एवं प्रविधियों द्वारा मर्यादित किया। वास्तुशास्त्र एक पूर्ण विज्ञान है, जिसका प्रभाव प्रत्यक्ष दृष्ट होता है वास्तुशास्त्र की विषय वस्तु से भारतीय ऋषियों की महनीय व्यापक दृष्टि एवं तत्त्वविचार की सूक्ष्मेक्षिका अवभासित होती है, जो अन्य संस्कृतियों में दृष्टिगोचर नहीं होती है।

भविष्यपुराण में कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना भवन-निर्माण करना चाहिए क्योंकि गृहस्थ के समस्त कार्य स्व-गृह के बिना संभव नहीं होते।[१] दूसरों के मकान में किए गये समस्त कार्य निष्फल हो जाते हैं तथा उन कर्मों का शुभफल भू-स्वामी को ही प्राप्त होता है[२]

वृहद्वास्तुमाला में स्वगृह प्रशंसा में कहा है-"यह गृह हमें स्त्री, पुत्रादि के भोग का सुख प्रदान करता है। धर्म, अर्थ, काम की सिद्धि देने वाला है। ठंड, वर्षा, गर्मी, लू(धूप) से रक्षा करने वाला है; दुष्ट जीवों से रक्षा करने वाला है, सुख का कारक है घर निर्माण करने से वापी, देवमंदिर आदि निर्माण का समस्त फल प्राप्त होता है। इसलिए पूर्वाचार्यों ने सर्वप्रथम मकान (भवन) निर्माण

---

१. गृहस्थस्य क्रियाः सर्वाः न सिद्धयन्ति गृहं विना। —वृहदैवरञ्जनम्, पृ. ६०३

२. ज्योतिर्निबन्ध, पृ. १६५

करने का आदेश किया है।"[१]

जिस शास्त्र में भूमि एवं भवन में निवास एवं कार्य करने वाले मनुष्यों की अधिकतम सुविधा प्राप्ति के सिद्धान्तों, नियमों, विधियों, एवं प्रविधियो का प्रतिपादन किया जाता है, उस शास्त्र को वास्तु-शास्त्र कहते हैं। वास्तु-शास्त्र का मुख्य उद्देश्य सर्वविध सुखी, समृद्ध एवं शान्त सुरक्षित जीवन से है जहाँ मनुष्य अपने उद्देश्यों की पूर्ति करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सके। वास्तु-शास्त्र मनुष्य को प्रकृति के अनुरूप जीवन यापन करने की सुनियोजित शिक्षा प्रदान करता है प्रकृति के अनुरूप जीवन यापन करने हेतु जिन-जिन वस्तुओं की अपेक्षाएं हैं वे कैसी हों? कहाँ हों? किस रूप में हों? उनका वातावरण से तारतम्य किस प्रकार हों? आदि की शिक्षा देना ही इस शास्त्र का परम लक्ष्य है।

जिन-जिन वस्तुओं के जिस प्रकार के उपयोग से मानव ऐहिक एवं पारलौकिक सुख को सुविधापूर्वक प्राप्त कर सके उन सभी विषयों का प्रतिपादन वास्तु-शास्त्र द्वारा किया जाता है। प्रकृति प्रदत्त क्षेत्र में ज्यों ही संस्कार करके अधिक उपयोगी बनाने का प्रयास किया जाता है या किसी क्षेत्र के लाभ-हानि का विचार किया जाता है तो वह वास्तु-शास्त्र का विषय बन जाता है।

हिन्दू-संस्कृति में प्रत्येक वस्तु एवं प्रत्येक पिण्ड में देवत्व की कल्पना करने की उदात्त भावना विद्यमान है। हिन्दू-संस्कृति में सभी कार्यों में देवपूजा का सर्वत्र विधान है देवपूजा साकार एवं निराकार दोनों प्रकार की होती है। वैदिक काल से ही सभी कार्यों से पहले पूजन का विधान है। वास्तु-शास्त्र में भी भवन निर्माण से पूर्व वास्तु-पुरुष के पूजन का भी विधान है। वैदिक संहिताओं के अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्मा का ही नामान्तर है क्योंकि वे ही विश्व ब्रह्माण्ड रूपी वास्तु के स्वामी हैं। आगमों एवं पुराणों के अनुसार वास्तु पुरुष नामक एक उपदेवता के ऊपर ब्रह्मा, इन्द्र आदि लोकपाल सहित ४५ देवता अधिष्ठित हो गए थे जो वास्तु (निर्मित भवन) का कल्याण करते हैं।[२] इसलिए वास्तु पुरुष की पूजा हमारे समाज में आवश्यक रूप से की जाती है।

भारतीय वास्तुशास्त्र की मूल अवधारणा (संकल्पना) पञ्च महाभूतों के साथ मानव जीवन की गतिविधियों का सामञ्जस्य एवं प्राकृतिक शक्तियों का प्रबन्धन करना है। सृष्टि पञ्चभूतात्मक है ठीक इसी प्रकार मानव सहित सभी जीवधारी भी पञ्च महाभूतों का ही सम्मिश्रण है। पृथ्वी पर किया जाने वाला प्रत्येक कार्य पाँचतत्वों पर ही आधारित है। अतः मानव मात्र का तन, मन एवं

१. स्त्रीपुत्रादिकभोगसौख्यजननं धर्म्मार्थकामप्रदम्,
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुघर्मापहम्।
वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पद्यते,
गेहं पूर्वमुशान्ति तेन विबुधाः श्रीविश्वकर्म्मादयः।। वृद्धवास्तुमाला, १.४

२. मत्स्य पुराण २५२.४-१३, अपराजित पृच्छा सूत्र ५२, अग्नि पुराण, ४०.१, राजवल्लभ २.२, बृहत्संहिता ५३.२-३, विष्णु धर्मोत्तर खण्ड ३ अध्याय ९५

जीवन इन महाभूतों के सन्तुलन से स्वतः स्फूर्त हो जाता है तथा इनके असन्तुलन से शिथिल हो जाता है। वास्तु-शास्त्र इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही यह प्रतिपादित करता है कि मनुष्य को अपने आवास एवं अन्य कार्यों के लिए निर्मित भवनों में इन पञ्चमहाभूतों का कैसे उपयोग करना चाहिए? जिससे मनुष्य को अपने जीवन के सभी क्रिया-कलापों में स्फूर्ति, ऊर्जा एवं संतुष्टि प्राप्त हो सके।

मानव की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं के स्तर को उन्नत रखने हेतु उसका पञ्चमहाभूतों के साथ उचित तालमेल होना अत्यन्त आवश्यक है। अतः आवासीय, व्यावसायिक एवं धार्मिक सभी प्रकार के भवनों के निर्माण में यह नियमों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन करता है।

भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं में और सिविल इंजीनियरिंग, स्ट्रक्चरल इंजीनियरिंग एवं आर्किटेक्चर जैसे वैज्ञानिक विषयों में पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश की पर्याप्त चर्चा की गई है किन्तु वास्तु-शास्त्र के अलावा उपर्युक्त सभी शास्त्रों में इन पञ्चमहाभूतों का संतुलन कैसे बनाया जाए? इसके लिए किन-किन प्रविधियों, नियमों, तकनीकियों का उपयोग किया जाय? आदि प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता। वैदिक चिन्तन धारा में वास्तु-शास्त्र ही एक ऐसी विद्या है जिसमें मनुष्य मात्र के लिए आवास एवं अन्य कार्यों के लिए निर्मित भवनों में पञ्चमहाभूतों के संतुलन का ध्यान रखकर भवन-निर्माण के नियमों तथा प्रविधियों का वर्णन एवं विवेचन किया गया है जिससे मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक क्षमताओं को सक्रिय एवं उन्नत रखा जा सके। इसलिए इस शास्त्र की मानव जीवन में महत्त्व एवं उपयोगिता स्वतः स्पष्ट हो जाती है।

इस ब्रह्माण्ड में सबसे शक्तिशाली प्रकृति है क्योंकि यही सृष्टि को उत्पन्न और विकसित करती है तथा यही ह्रास या प्रलय लाती है। प्रकृति की शक्ति उसके वातावरण में विद्यमान तीन प्रकार के बलों में परिलक्षित होती है प्रथम गुरूत्वबल, द्वितीय चुम्बकीय शक्ति तथा तृतीय सौर ऊर्जा। पृथ्वी पर सौर ऊर्जा या सूर्य की रश्मियों का प्रभाव सर्व विदित है सूर्य की किरणों के द्वारा ही हमें ऊर्जा, भोजन, ऋतुपरिवर्तन आदि से कई संसाधन प्राप्त होते हैं इसी प्रकार पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति एवं गुरूत्वाकर्षण शक्ति का, हवाओं की दिशाओं व अन्य प्राकृतिक तत्वों का मनुष्य पर तथा भवन पर प्रभाव पड़ता है इनके प्रभाव को ध्यान में रखते हुए वास्तु निर्माण करना आवश्यक है। इन तीनों प्रकार के बलों का उपयोग कर तन, मन एवं जीवन को सूक्ष्म और संतुलित बनाने के लिए आवास के जिन नियमों, सिद्धांतों एवं विधियों-प्रविधियों का प्रतिपादन किया जाता है उनका संकलित स्वरूप ही वास्तुशास्त्र है।

इस प्रकार यह शास्त्र पञ्चमहाभूतों के साथ तालमेल तथा प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग के द्वारा मानवीय गतिविधियों को स्वतः स्फूर्त करना चाहता है जिससे मानव मात्र को अपने जीवन में न केवल सन्तुष्टि ही मिलती है अपितु वह प्रगति एवं विकास के माध्यम से जीवन में सफलता

के मार्ग को प्रशस्त करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है।

वास्तुशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसमें आवास विचार, व्यवसाय विचार, सामाजिक एव धार्मिक क्षेत्र विचार, नगर निर्माण का विचार, मूर्ति एवं स्थापत्य कला का विचार, शिक्षण संस्था एवं जनकल्याण संस्था विचार, सरकारी- गैरसरकारी दफ्तर, अस्पताल, होटल-रिसार्ट का विचार आदि कई प्रकार के भवनों के निर्माण करने की व्यवस्था एवं नियमों का इस शास्त्र का एकमात्र महनीय लक्ष्य यही है कि निर्मित भवन में रहने वाले व्यक्ति को सुख तथा समृद्धि प्रदान करता हुआ पूर्ण सुरक्षा दे सके।

ज्योतिषशास्त्र को वेदपुरुष का नेत्र कहा गया है। छः वेदाङ्गों में इसका उन्नत स्थान है। इसे समस्त ज्योति पिण्डों का नियमन करने वाला खगोलशास्त्र तथा काल को परिमाण में मापने वाला काल विधान शास्त्र आदि नामों से जाना जाता है। ज्योतिष शास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है इसे एक परिभाषा में सीमित करना सम्भव नहीं है। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने इसे सिद्धान्त, संहिता और होरा नामक ज्योतिष के तीन स्कन्धों में इसकी पृथक्-पृथक् परिभाषा दी है।[१]

संहिता भाग के विस्तार को दर्शाने हेतु वराहमिहिर ने बृहत् संहिता में 'संहिता पदार्थाः'[२] शीर्षक के अन्तर्गत संहिता स्कन्ध में वर्णित विषयों की अनुक्रमणी प्रस्तुत की है। उन्होंने भी यही सोचा होगा कि संहिता को परिभाषा में बाँधकर इसे सीमित करना उचित नहीं है। वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र भारतीय संस्कृत वाङ्मय में एक अद्भुत विज्ञान है जिसके अन्तर्गत ग्रह-गणना एवं काल-गणना के अतिरिक्त मानवीय प्रमुख आवश्यकताओं का भी विवेचन किया गया है। यथा- ग्रहचार, ग्रहण एवं काल संबंधी इकाईयाँ, ग्रहों का प्राणिमात्र पर प्रभाव, विविध संस्कारों एवं प्रमुख कार्यों के लिए शुद्धतम समय अर्थात् मुहूर्त का निर्धारण, वायु, वृष्टि एवं भूकम्प का ज्ञान, दैवी उत्पात एवं आकाशीय नक्षत्रों के आधार पर देश पर सम्भावित विपदा का पूर्वाभास, पशु-पक्षियों की चेष्टाओं का ज्ञान, वृक्षों एवं कृषि विज्ञान, गृह-दुर्ग निर्माण, जलाशय एवं देवालय निर्माण विधान, भूमिचयन, गृहप्रवेश, रोग ज्ञान, रत्नपरिचय, शस्त्रनिर्माण, वज्रलेप आदि विषयों का विवेचन भी ज्योतिष शास्त्र के अन्तर्गत किया गया है। इसी प्रकार अति विस्तृत क्षेत्र को ध्यान में रख कर आचार्यों ने ग्रह गणित भाग को सिद्धान्त स्कन्ध नाम से पृथक् कर दिया। ग्रह गणना सम्बन्धी समस्त सिद्धान्तों, काल परिभाषा, काल के भेदों, प्रभेदों, एवं यंत्रों का प्रतिपादन पंचाग निर्माण आदि कृत्य सिद्धान्त स्कन्ध के अन्तर्गत कर दिया गया है तथा ग्रह जन्य प्रभाव एवं उनके ज्ञान की विधि, जातक के भावी शुभाशुभ का ज्ञान आदि होराशास्त्र के अन्तर्गत निरूपित किया गया है।

---

१. ज्योतिर्विदाभरणम्, रामचन्द्रपाण्डेय, भूमिका

२. बृहत्संहिता २.६

ज्योतिष शास्त्र के संहिता भाग में सर्वाधिकरूप से वास्तुविद्या का वर्णन उपलब्ध होता है। ज्योतिष के विचारणीय पक्ष "दिग्-देश-काल" के कारण ही वास्तु, ज्योतिष के संहिता भाग में पूर्णरूप से समाहित हुआ है। वैदिक काल से ही ज्योतिष-शास्त्र अतिपुरात परम्परा से मानव जीवन के विविध पक्षों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार करता आ रहा है। इस शास्त्र ने ही मनुष्य के हर पहलू का विचार विस्तृत एवं सटीक रूप से करने का सर्वाधिक प्रयास किया है। जीवन में घटने वाली व्यष्टिगत एवं समष्टिगत आपदाओं के पूर्वानुमान एवं विश्लेषण में इस शास्त्र के होरा एवं संहिता भाग ने सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि के लिए गृहस्थ को एक शुभ वास्तु (घर) की सर्वाधिक आवश्यकता होती है[१] भविष्य पुराण में कहा है **गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा न सिद्धयन्ति गृहं विना।**[२]

माननीय प्रो. वाचस्पति उपाध्याय (कुलपति, लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ) ने वास्तु एवं ज्योतिष के संबंध में कहा है[३]– वास्तुशास्त्र भारतीय ज्योतिष की समृद्ध एवं विकसित शाखा है। इन दोनों में अंग-अङ्गिभाव सम्बन्ध है। जैसे शरीर का अपने विविध अंगों के साथ सहज एवं अटूट सम्बन्ध होता है। ठीक उसी प्रकार ज्योतिषशास्त्र का अपनी सभी शाखाओं-सामुद्रिक शास्त्र, स्वरशास्त्र, अंकशास्त्र, प्रश्नशास्त्र एवं वास्तुशास्त्र आदि के साथ स्वाभाविक एवं अटूट सम्बन्ध है।

इतनी निकटता होने पर भी इन दोनों शास्त्रों की दृष्टियों में एक मौलिक अन्तर है– वास्तुशास्त्र जीवन के घटनाक्रम की अनुकूलता या प्रतिकूलता का कारण वातावरण को मानता है वास्तु हमें हमारे वातावरण में विद्यमान गुरुत्त्व शक्ति, चुम्बकीय शक्ति एवं सौर ऊर्जा के समुचित प्रयोग एवं उपयोग के द्वारा जीवन को प्रगति एवं संतुष्टि की ओर ले जाता है। जबकि ज्योतिष शास्त्र जीवन में अनुकूलता या प्रतिकूलता के चार कारण मानता है– १. वंशानुक्रम २. वातावरण ३. कर्म ४. काल। यह शास्त्र वातावरण को नकारता नहीं है अपितु उसे स्वीकार करते हुए वंशानुक्रम, कर्म एवं काल को भी जीवन में सफलता एवं असफलता का कारण मानता है। इसलिए ज्योतिष का दृष्टिकोण व्यापक एवं व्यावहारिक है।[४]

एक महल में रहने वाली एक-दो पीढ़ियों को विजय समृद्धि एवं सम्मान का मिलना और उसी महल मे रहने वाली अगली पीढ़ियों का ह्रास होना। यह प्राग्-ऐतिहासिक काल में अद्यतन अनवरत ऐसी घटना विश्व के इतिहास में प्रमाण रूप से स्थापित है। जैसे चित्तौड़गढ़ के किले में राणा कुम्भा एवं राणा प्रताप के साथ हुआ था या दिल्ली के लाल किले में शाहजहाँ, मुहम्मदशाह .

---

१. वास्तुसार/डॉ॰ देवी प्रसाद त्रिपाठी, भूमिका पृ. iii

२. वास्तुरत्नावली. पृ. २.

३. भारतीय वास्तु/शुकदेव चतुर्वेदी, पुरोवाक् पृ. iii

४. भारतीय वास्तुशास्त्र, शुकदेव चतुर्वेदी पृ. ३१

रंगीला और बहादुरशाह जफर के साथ हुआ। तथा यही विचार घरों में भवनों में भी देखने को मिलता है कि दो भिन्न पीढ़ियों के लोगों के दो भिन्न कालों में परस्पर विरोधी फल मिलते हैं। इसका उत्तर वास्तुशास्त्र के पास नहीं है। क्योंकि वह काल का विचार नहीं करता। इसका सही एवं सटीक उत्तर ज्योतिषशास्त्र के पास ही है।[१]

आज महानगरों में बहुमंजलीय भवनों के एक ही तरफ बने सभी मंजिलों के फ्लैटों की दिशा और विभिन्न कक्षों के निर्माण में पूरी-पूरी समानता होती है फिर एक मंजिल पर रहने वाला परिवार बिमारी से पीड़ित है तो दूसरी मंजिल पर रहने वाला स्वस्थ। एक मंजिल पर रहने वाला परविार आर्थिक संकट एवं कलह से ग्रसित है तो दूसरे फ्लैट में रहने वाला परिवार सम्पन्न एवं आपसी तालमेल से रह रहा है अतः उपयुक्त विरोधी फल क्यों प्राप्त होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर भी वास्तुशास्त्र के माध्यम से नहीं सुलझाया जा सकता। जबकि ज्योतिषशास्त्र वंशानुक्रम एवं काल द्वारा इनका विचार करता है अतः इस प्रश्न का हल भी ज्योतिष शास्त्र के पास है।[२]

वास्तुशास्त्र की इन सीमाओं की ओर ध्यान खींचने का एक मात्र कारण यह है कि किसी शास्त्र के बारे में चर्चा करते समय उसके सभी पक्षों को जान लेना अत्यावश्यक है प्रत्येक शास्त्र में कुछ विशेषताएं होती हैं तो उसमें कुछ न्यूनताएँ भी होती हैं कोई शास्त्र अपने में परिपूर्ण नहीं होता। उदाहरणतः रोग एवं उनकी चिकित्सा के लिए अनेक चिकित्सा पद्धतियों का होना, ब्रह्म एवं आत्मा के प्रतिपादन हेतु अनेक दर्शन शास्त्रों का होना इसके प्रमाण है।

वास्तु में ज्योतिषशास्त्र का महत्त्व-

वस्तुतः ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्रों के मध्य अंग-अंगीभाव जैसा अटूट सम्बन्ध है और ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। इसलिए यदि जीवन के घटनाक्रम का विचार, जीवन की समस्या एवं संकटों की व्याख्या और उनके कारण एवं निराकर का सही-सही ज्ञान करना हो तो वास्तुशास्त्र के साथ-साथ ज्योतिष शास्त्र की सहायता लेना परमावश्यक है। ज्योतिषशास्त्र के तीनो स्कन्ध की सहायता से ही वास्तुशास्त्र की कल्पना की जा सकती है। तीनों स्कन्धों की सहायता से ही इस शास्त्र, को सम्यक् रूप से समझा जा सकता है।

व्यक्ति को अपने जीवन में भूमि एवं भवन का सुख मिलेगा या नहीं? इस प्रश्न का फलित ज्योतिष के जातक ग्रन्थों में विस्तार से विचार किया गया है। जातक ग्रन्थों में इसका निश्चय करने के लिए अनेक योगों का वर्णन मिलता है, जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण योग इस प्रकार है:-

---

१. वही पृ. ३८
२. वही

भूमि-भवन का सुख न मिलने के योग–

१. यदि चतुर्थेश नीच राशि या शत्रुराशि में कालाग्नि, शूल अथवा अन्तक के षष्टयंश में हों।[१]

२. यदि चतुर्थेश निर्बल हो और पापग्रहों से युत-दृष्टि हो।[२]

३. यदि चतुर्थेश एवं लग्नेश परम्पर एक-दूसरे के शत्रु हों।[३]

४. चतुर्थस्थान में दो या अधिक पापग्रह हों और उन पर पापग्रहों की दृष्टि हो।[४]

५. चतुर्थभाव में शनि हो और चतुर्थेश त्रिक स्थान में हों।[५]

६. चतुर्थेश अष्टमभाव में हो और षष्ठेश चतुर्थभाव में हों।[६]

७. द्वितीयेश, चतुर्थेश एवं द्वादशेश त्रिक भावों में हों।[७]

८. दशमेश पापग्रह के साथ चतुर्थ भाव में हों।[८]

९. दशमेश एवं अष्टमेश दोनों साथ-साथ हों और दशमेश क्रूरांशक या मृत्युकर षष्ठयंश में हो।[९]

१०. यदि चतुर्थेश एवं मंगल नीचस्थ, पापयुक्त, पापदृष्टि या पाप मध्यस्थ हो।[१०]

११. यदि चतुर्थेश द्वितीय भाव में स्थित हो और निर्बल या पापक्रान्त हो।[११]

१२. चतुर्थस्थ पापग्रह की दशा अन्तर्दशा हो।[१२]

१३. शनि, मंगल या गुलिक से युत चतुर्थेश की दशा अन्तर्दशा हो।[१३]

१४. त्रिकभाव में स्थित चतुर्थेश की दशा अन्तर्दशा हो।[१४]

१५. यदि चौथे घर का स्वामी दुःस्थान में हो और सूर्य और मंगल के साथ हो या सूर्य और मंगल चौथे घर में हो तो जातक का जन्म-गृह जल जायेगा।[१५]

१६. यदि राहु और शनि चतुर्थ घर में हो तो मकान जीर्ण होगा।[१६]

१७. यदि चौथे घर में शत्रु ग्रह हो तो उस मनुष्य की जमीन, सवारी तथा भूमि का लोग अपहरण कर लेंगे।[१७]

१८. द्वादशेश, द्वितीयेश और चतुर्थेश षष्ठ, तृतीय, द्वादश और अष्टम स्थान में हो या जितने पाप ग्रह स्थित हों उतने ही गृह नष्ट होते हैं।[१८]

१-९. जातक पारिजात – तृतीयचतुर्थभावफलाध्याय

१०-११. ज्योतिष रत्नाकार – पृ. ३३४

१२-१४. जातक पारिजात – तृतीयचतुर्थभावफलाध्याय

१५-१७. फलदीपिका, पृ. ३१४

१८. भारतीय ज्योतिष, नेमीचन्दशास्त्री, तृतीय अध्याय, पृ. ३०२-३०५

१९. द्वितीय, द्वादश और चतुर्थ भाव के स्वामी पापग्रह से युक्त होकर अष्टम स्थान में स्थित हो तो सर्वदा किराये के मकान में रहना पड़ता है।[१]

२०. शत्रु स्थान में पापग्रह हो अथवा पापग्रह सुख भाव को देखता हो तो जातक गृह सुख से वंचित रहता है। नीच राशि या शत्रु राशि में मंगल अथवा सूर्य स्थित हो तो मनुष्य को गृह गृह सुख प्राप्त नहीं होता।[२]

२१. चतुर्थेश द्वादश भाव में हो तो जातक पर-गृह में निवास करता है अष्टम में हो तो गृह का अभाव होता है।[३]

भूमि-भवन प्राप्ति के योग–

१. चतुर्थभाव में शुभग्रह हो, चतुर्थेश शुभग्रह के साथ हो और उसका कारक शुभ स्थान में हों।[४]

२. चतुर्थेश बलवान् हो और लग्नेश से उसकी मित्रता हो।[५]

३. केन्द्र एवं त्रिकोण में बलवान ग्रह हो और चतुर्थेश उपचय स्थान में हो।[६]

४. तृतीयभाव के शुभग्रह हो और चतुर्थेश बलवान हो।[७]

५. चतुर्थेश लग्न या त्रिकोण में शुभग्रहों के साथ हों।[८]

६. चतुर्थेश द्वादश स्थान में बलवाद हो तो पुराना मका मिलता है।[९]

७. चतुर्थ कारक त्रिकोण में और चतुर्थेश पारावत गोपुरादि में हो तो बंगला या प्रसाद मिलता है।[१०]

८. तृतीय भाव में शुभग्रह हों चतुर्थेश एवं लग्नेश बली हो, तो विस्तृत एवं भव्य मकान होता है।[११]

९. चतुर्थेश परावतांश या गोपुरांश में हो और उस पर चन्द्रमा एवं गुरु की दृष्टि हो तो भव्य गृह प्राप्त होता है।[१२]

१०. चतुर्थभाव पर चन्द्र, बुध, गुरु एवं शुक्र में से दो ग्रहों की दृष्टि हो और वे पाप ग्रह न हों।[१३]

११. चतुर्थभाव एवं कारक शुभग्रहों से युत-दृष्ट हों।[१४]

१२. कारकांश कुण्डली में चतुर्थ स्थान में चन्द्र-शुक्र का योग हो, राहु-शनि का योग हो, केतु-मंगल का योग हो अथवा उच्च राशि में स्थित हो तो जातक के पास श्रेष्ठ मका न

१-३. भारतीय ज्योतिष, नेमीचन्दशास्त्री, तृतीय अध्याय, पृ. ३०२-३०५

४-१३. जातक पारिजात – तृतीयचतुर्थभवफलाध्याय

१४. भारतीयवास्तुशास्त्र, नेमीचन्द्र शास्त्री, प्रो. शुकदेवचतुर्वेदी

होता है।[1]

१३. कारकांश कुण्डली में चौथे स्थान में गुरु हो तो लकड़ी का मकान, सूर्य हो तो फूस की कुटिया एवं बुध हो तो साधारण स्वच्छ मकान जातक के पास होता है।[2]

१४. लग्नेश चतुर्थ भाव में और चतुर्थेश लग्न में गया हो तो जातक को गृहलाभ होता है। चतुर्थेश बलवान होकर १/४/७/१० स्थानों में शुभ ग्रह से दृष्ट या युत होकर स्थिति हो अथवा चतुर्थेश जिस राशि में गया तो उस राशि के स्वामी का नवांशपति १/४/७/१० में हो तो घर का लाभ होता है।[3]

१५. धनेश और लाभेश चतुर्थभाव में स्थित हो तथा चतुर्थेश लाभ भाव या दशम में स्थित हो तो जातक को धन सहित घर मिलता है।[4]

१६. लग्नेश और चतुर्थेश दोनों शुभग्रहों से दृष्ट या युत हो तो घर का लाभ अकस्मात होता है।[5]

१७. लग्नेश, धनेश और चतुर्थेश इन तीनों ग्रहों में जितने ग्रह १/४/५/७/९/१० स्थानों में गये हो उतने ही घरों का स्वामी जातक होता है। उच्च, मूलात्रिकोणा और स्वक्षेत्रीय में क्रमशः तीगुने, दुगुने और डेढ़ गुणा समझें।[6]

१८. तृतीय भाव में शुभ ग्रह हों और चतुर्थेश बलवान होकर केन्द्र या त्रिकोण में स्थित हो तो उत्तम गृह की उपलब्धि होती है।[7]

१९. तृतीय भाव में शुभग्रह हो, चतुर्थेशबती हो और लग्नेश भी पूर्ण बलवान हो तो उत्तम गृह उपलब्ध होता है।[8]

२०. लग्न त्रिकोण और केन्द्र में जितने बलवान ग्रह हो तो उतने अच्छे गृह उपलब्ध होते हैं।[9]

चतुर्थेश, चतुर्थकारक एवं मंगल की दशा-अन्तर्दशा में मकान बनता है। इन योगों के माध्यम से किस व्यक्ति को मकान और मकान का सुख मिलेगा या नहीं? इसका विचार किया जा सकता है। वस्तुतः सुख शब्द का अर्थ अत्यन्त व्यापक है। मकान में रहने वाले परिवार के सदस्यों को शारीरिक, मानसिक, व्यावसायिक, सामाजिक या अन्यान्य कष्ट उनके सुख को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। इन सभी प्रकार से कष्टों और उनके परिणामों का विचार ज्योतिषशास्त्र द्वारा योग दशा एवं गोचर के आधार पर ही किया जा सकता है।

प्राचीनकाल से ही प्रत्येक मांगलिक कार्य के लिए शुभ समय का विचार किया जाता है। मानव जीवन से उसकी मृत्यु तक के समग्र जीवनोपयोग की विभिन्न समस्याओं के अनुकूल व

१-६. भारतीय ज्योतिष, तृतीय अध्याय, पृ. ३०२-३०५.

७-९. भारतीय ज्योतिष, नेमीचन्द्र शास्त्री तृतीय अध्याय. पृ. ३०२-३०५.

प्रतिकूल समयों को जानकर प्रतिकूल वातावरण से मानव मात्र के अभ्युदय का उपर्युक्त काल जानना, यह ज्योतिष का सर्वश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। अत: जयोतिष के संहिता शाखा के निर्माण के अनन्तर संहिताओं में उपलब्ध सूत्र रूप के मुहूर्त विषयों के विस्तृत विवेचना की गई है। ज्योतिषशास्त्र की इस शाखा के आज पूरे भारतवर्ष में इसी के अनुसार जातकर्म, नामकरण, आदि सभी संस्कार, यात्रा, गृहनिर्माण, गृहप्रवेश, अग्न्याधान, कृषि, क्रय-विक्रय आदि अनेक शुभ मुहूत्तों की व्यवस्था विस्तार पूर्वक दी गई है।[१] भवननिर्माण प्रशाखा, जलाशयनिर्माण प्रशाखा, देवस्थापन प्रशाखा, गृहप्रवेश प्रशाखा प्रभृत वास्तुशास्त्र के विषय पूर्ण रूप से मुहूर्त्त ज्योतिष में समांकित है।[२]

भवन निर्माण प्रशाखा में भूमि परीक्षा, भूमि क्रय, इष्टकादि चयन, ग्राम निर्माण, नूतन गृहारम्भ, शिलान्यास, आलिन्द निर्माण, द्वारस्थापन, गृहाच्छादन, स्तम्भारोहण, बंदनमाला, चूल्हा स्थापन, व्रतोलिका कर्म, मन्दिर निर्माण, प्रतिमा निर्माण आदि मुहूर्त की चर्चा है। जलाशयारम्भ प्रशाखा में जलाशयखनन, तड़ागारम्भ, वापीखनन, कूपारम्भ, जीर्णोद्धार, नवीन जल प्राशन, जलस्थान, स्थापन आदि सभी मुहूर्त्तो की चर्चा है। देवस्थापन प्रशाखा में सभी देवों की मूर्तियों की प्रतिष्ठा के मुहूर्त्तों की चर्चा है। गृह प्रवेश प्रशाखा में वास्तुशान्ति, नूतनग्रह प्रवेश, जीर्णादि गृह प्रवेश, नवदुर्ग प्रवेश नवनिर्मित पुर आदि के मुहूर्त्तों की चर्चा विस्तृत रूप से ज्योतिष के मुहूर्त्त शाखा में वर्णन किया गया है। तथा उपर्युक्त मुहूर्त्तों की वास्तुशास्त्र में प्रत्येक चरण में आवश्यकता होगी।

मुहूर्त्तों का उद्देश्य कार्य की निर्विघ्नता पूर्वक सिद्धि के लिए शुद्धतमकाल का निर्धारण करना है जिसके लिए एक विस्तृत एवं विभिन्न प्रकार के परीक्षणों से गुजरना पड़ता है। मूहूर्त के निर्धारण में काल की विभिन्न परिभाषाएं, ग्रहों के उदयान्त एवं वेध, वार, नक्षत्र, राशि एवं लग्नों के उदयास्त तथा सूर्य और चन्द्रमा के संयोग से उत्पन्न होने वाले तिथि नक्षत्र, योग एवं करण का अवलोकन करना होता है। वार, तिथि और नक्षत्रों के संयोग से विविध प्रकार के शुभ एवं अशुभ योग उत्पन्न होते हैं। सभी अशुभ योगों के एवं दोषों से रहित तथा कार्य के लिए विहित पञ्चाङ्गों (तिथि, वार, नक्षत्र, योग, करण) की उपलब्धि होने पर अभीष्ट कार्य संबंधी समय स्थिर किया जाता है। उपर्युक्त सभी विचार सिद्धान्त स्कन्ध के अन्तर्गत आते हैं।

अत: वास्तुशास्त्र का अध्ययन करने से पूर्व ज्योतिषशास्त्र के त्रिस्कन्धों के आपसी संबंध, विचार क्षेत्र, सीमाएं जीवन के घटना-चक्र के बारे में इनके दृष्टिकोण की जानकारी कर लेनी चाहिए, तभी भूखण्ड के चयन, भवन निर्माण और उसमें रहने वाले लोगों के जीवन में सन्तुष्टि का पूर्वानुमान किया जा सकता है।

---

१. मूहूर्तचिन्तामणि, केदारदत्त जोशी, पृ. ११२.

२. मुहूर्तपारिजात, वास्तु अध्याय, पृ.

द्वारविन्यास

श्रीदेशबन्धु

गृह के मुख्य द्वार को उस गृह का मुख कहा जाता है। जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में मुख का महत्त्व है उसी प्रकार भवन में मुख्य द्वार का महत्त्व है। द्वारनिर्धारण के सम्बन्ध में वास्तुग्रन्थों में विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है। सर्वप्रथम 'वत्समुखविचार' के माध्यम से भवन के मुख्य द्वार का निर्धारण होता है। जब सूर्य कन्या-तुला-वृश्चिक राशि में हो तो वत्स मुख पूर्व में, धनु-मकर-कुम्भ राशि में होने पर दक्षिण में, मीन-मेष-वृष राशि में होने पर पश्चिम में और मिथुन-कर्क-सिंह राशि में होने पर वत्स मुख उत्तरदिशा में होता है। वत्समुख के सम्मुख ओर पृष्ठ दिशा में गृहद्वार कष्टदायक है।[१] भवन के स्वामी की राशि के अनुसार भी मुख्य द्वार का निर्धारण होता है यथा वृश्चिक-मीन-सिंह राशि वालों के लिए पूर्व, कन्या-कर्क-मकर राशि के लिए दक्षिण, धनु-तुला-मिथुन राशि के लिए पश्चिम और कुम्भ-मेष-वृष राशि के लिए उत्तरदिशा शुभ है।[२]

आय के अनुसार भी मुख्यद्वार का निर्धारण किया जाता है। यथा- ध्वजाय वाले गृह का मुख्यद्वार चारों दिशाओं में, सिंहाय वाले भवनों का मुख्यद्वार पश्चिमातिरिक्त अन्य दिशाओं में, गजाय वाले घर के लिए पूर्व या दक्षिण और वृषाय वाले भवन में पूर्व दिशा में घर का मुख्य द्वार शुभ होता है।[३] राशियों के वर्ण के अनुसार भी गृह के मुख्य द्वार का विचार होता है। जैसे- ब्राह्मण राशियों के लिए पश्चिम, क्षत्रिय राशियों के लिए उत्तर, वैश्य राशियों के लिए पूर्व और शूद्र राशियों के लिए दक्षिण दिशा के मुख्य द्वार वाले घर शुभ होते हैं।[४]

इसी प्रकार भवनारम्भ मास के अनुसार भी मुख्यद्वार का निर्धारण होता है। कर्क-मकर-सिंह राशि के सूर्य में भवनारम्भ करने पर भवन का मुख्य द्वार पूर्व या पश्चिम में बनाया जाता है। मेष-वृष-वृश्चिक के सूर्य में भवनारम्भ करने पर मुख्य द्वार दक्षिण या उत्तर में बनाया जाता है।[५]

राहु के मुख-पुच्छ विचार के अनुसार जिस दिशा में राहु का मुख हो उसी दिशा में भवन का मुख्य द्वार रखने से सर्वविध कल्याण होता है।[६] भवन की आरम्भ तिथि के अनुसार भी द्वार का निर्धारण किया गया है जैसे भवन का आरम्भ पूर्णिमा से कृष्णाष्टमी तक करने पर पूर्व दिशा

---

१. राजवल्लभवास्तुशास्त्रम् – १/९
२. वही, १/१२ (राशिनामलि मीनसिंह भवनं .....)
३. वास्तुरत्नाकर – ८/६ (सर्वद्वारे ध्वजो देयः .....)
४. वास्तुरत्नाकर ८/७
५. वही, – ८/८-९
६. वास्तुरत्नाकर, – ८/१२-१३

में, कृष्ण नवमी से चतुर्दशी तक करने पर उत्तर दिशा में, अमावस्या से शुक्लाष्टमी तक करने पर पश्चिम दिशा में, शुक्ल नवमी से चतुर्दशी तक करने पर दक्षिण दिशा में मुख्य द्वार नहीं रखना चाहिए।[1]

सप्तशलाकाचक्र के अनुसार भी मुख्य द्वार का निर्धारण किया जाता है। इस चक्र में पूर्वापर और याम्योत्तर सात रेखाएँ खींची जाती हैं। कृत्तिका से आश्लेषा तक सात नक्षत्र पूर्व दिशा में, मघा से विशाखा तक सात नक्षत्र दक्षिण में, अनुराधा से श्रवण तक सात नक्षत्र पश्चिम में, धनिष्ठा से भरणी तक सात नक्षत्र उत्तर दिशा में लिखे जाते हैं, ग्राम-नगर आदि में अपने-अपने नक्षत्र दिशाओं में निवास बनाना श्रेयस्कर है। सम्मुख और पृष्ठस्थ नक्षत्रों में द्वारकरण अशुभ तथा वाम और दक्षिण नक्षत्रों में शुभ होता है।

सप्तशलाकाचक्रम्

यथा–

कृत्तिकायास्तु पूर्वादौ सप्तसप्तोदिताः क्रमात्।
यद्दिश्यं यस्य नक्षत्रं तत्र तस्य गृहं शुभम्।।[2]

इसी प्रकार द्वारचक्र के माध्यम से भी द्वार निर्धारण किया जाता है। द्वारचक्र में सूर्य नक्षत्र से आरम्भ कर चार नक्षत्र द्वार के ऊपर, दो नक्षत्र कोणों में, दो नक्षत्र द्वार की शाखाओं में, तीन नक्षत्र द्वार के अधो भाग में और चार नक्षत्र मध्य भाग में विन्यस्त किए जाते हैं। ऊर्ध्वनक्षत्रों में द्वार निर्माण से राज्य, कोण नक्षत्रों में उद्वासन, शाखा नक्षत्रों में लक्ष्मी प्राप्ति, ध्वज नक्षत्रों में मृत्यु और मध्य नक्षत्रों में द्वार निर्माण से सौख्य होता है।[3]

पदवास्तु के अनुसार पूर्व दिशा में सूर्य-ईश और पर्जन्य के पदों पर, दक्षिण दिशा में यम-अग्नि और पौष्ण के पदों पर, पश्चिम दिशा में शेष-असुर और पाप के पदों पर, उत्तर दिशा में रोग-नाग और शैल के पदों पर तथा क्रूर देवताओं के पदों पर द्वार निर्माण से अशुभ फल की

१. वास्तुरत्नाकर – ८/१६
२. वास्तुसारसंग्रह – १६/८
३. विश्वकर्माप्रकाश – ७/२९-३२

प्राप्ति होती है।[1] एकाशीतिपदवास्तु में पूर्व दिशा के नव पदों में से तीसरे तथा चौथे पद पर, दक्षिण में तीसरे एवं चौथे पद पर, पश्चिम दिशा में चौथे और पाँचवें पद पर तथा उत्तर दिशा में तीसरे-चौथे और पाँचवे पद पर द्वारकरण धनदायक और सन्ततिवृद्धिकारक होता है। यथोक्तम्–

> द्वारं नवमभागेषु कार्यं वामात्प्रदक्षिणम्।
> तृतीय-तुर्ययोः प्राच्यां याम्ये तूर्येऽथ पश्चिमे।।
>
> त्रि-तुर्य-पञ्चमे चैव पञ्च-वेद-त्रिषूत्तरे।
> तत्र द्वारं च कर्त्तव्यं धनधान्यादिवृद्धये।।[2]

पद वास्तु के अनुसार विभिन्न पदों पर द्वार-स्थापन का शुभाशुभ फल है–

पूर्व

	अग्नि भय	स्त्री जन्म	धन वृद्धि	नृपाप-लब्धि	क्रोधा-धिक्ता	अस-त्यता	क्रूरता	चौरभय	
स्त्रीधनहानि	ईश / दिति	पर्जन्य	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश	आकाश / वह्नि	अपुत्रता
पुत्रकष्टदोष	अदिति	पर्जन्य / अदिति	जयन्त	इन्द्र	सूर्य	सत्य	भृश / पूपा	पूपा	प्रेषत्व (दासता)
वैर	शैल	शैल	आप / आपवत्स	अर्यमा		सविता / सावित्र	वितथ	वितथ	नीचता
पुत्रधनप्राप्ति	कुबेर	कुबेर	पृथ्वीधर	ब्रह्मा	ब्रह्मा	विवस्वान	गृहक्षत	गृहक्षत	सुतवृद्धि
सर्वगुणो-पलब्धि	भल्लाट	भल्लट		ब्रह्मा	ब्रह्मा		यम	यम	रौद्र-क्रूरता
धनपुत्रलाभ	मुख्य	मुख्य	रूद्र / रुद्रदास	मैत्र		इन्द्र / जय	गन्धर्व	गन्धर्व	कृतघ्नता
शत्रुवृद्धि	नाग	नाग / शांप	असुर	वरुण	पुष्पदन्त	सुग्रीव	दौवारिक / भृंग	भृंग	अधनता
वधबन्धन	रोग	शेष	असुर	वरुण	पुष्पदन्त	सुग्रीव	दीवारिक	मृग	पुत्र-बलनाश
	रोग वृद्धि	धन क्षय	राज भय	धन लाभ	महद् ऐश्वर्य	पुत्र,अर्थ-लाभ	शत्रु वृद्धि	सुत पीड़ा	

उत्तर (बायें) — दक्षिण (दायें)

पश्चिम

द्वार की दिशा और स्थान निर्धारण के पश्चात् द्वार का निर्माण वास्तुशास्त्रीयसिद्धान्तों के अनुसार करना चाहिए। यथा द्वार के विस्तार से द्विगुणित ऊँचाई होनी चाहिए। गृह का विस्तार जितने हाथ हो, उतने ही अङ्गुलात्मक मान में सात अङ्गुल जोड़ने से द्वार की ऊँचाई रखनी चाहिए। यथा २४ हस्तात्मक गृह का द्वार २४+७=३१ अङ्गुलात्मक ऊँचा होना चाहिए। समायत द्वार शुभ तथा विषमायत द्वार अशुभ होता है। द्वार की भुजाओं और कोणों में समानता परमावश्यक है। दक्षिण और

१. राजवल्लभवास्तुशास्त्र – ५/२७
२. वास्तुसारसंग्रह – १६/५१-५२

पश्चिम में किए गए कपाट सुखकर होते हैं। यथोक्तम्–

> विस्ताराद्द्विगुणोत्सेधं द्वारं न विषमायतम्।
> पश्चिमे दक्षिणे वापि कपाटं च सुखप्रदम्।।[१]

गृहद्वार का निर्माण सदैव मानानुसार करना चाहिए। यदि द्वार मान से कम हो तो दुःख और मान से अधिक हो तो राजभय होता है।[२] द्वार के कुछ गुण और दोष भी शास्त्र में वर्णित है। सुस्थिर-सुन्दर-चतुरश्र-कान्त-ऋजु और अपने द्रव्य से योजित द्वार एक उत्तम द्वार कहलाता है। अत्युच्च द्वार राजभयदायक, अति नीच द्वार चौर्यदायक और कुब्जद्वार कुलपीडा कारक होता है। इसी प्रकार भवन के द्वार का स्वतः उद्घाटित होना उन्मादकर, स्वयं बन्द होना कुल का विनाश, मानाधिक्य नृप का भय करता है। यथोक्तम्–

> उन्मादः स्वयमुद्घाटितेऽथ पिहिते स्वयं कुलविनाशः।
> मानाधिके नृपभयं दस्युभयं व्यसनमेव नीचे च।।
>
> द्वारं द्वारस्योपरि यत्तन्न शिवाय सङ्कट यच्च।
> आव्यात्तं क्षुद्भयदं कुब्जं कुलनाशनं भवति।।
>
> पीडाकरमतिपीडितमन्तर्विनतं भवेदभवाय।
> वाह्यविनते प्रवासो दिग्भ्रान्ते दस्युभिः पीडा।।[३]

द्वार के अन्य दोषों में एक दोष द्वार-वेध दोष है। यदि द्वार का वेध वृक्ष-कूप – देव मंदिर यां अन्य किसी पदार्थ के साथ हो तो कष्टप्रद होता है। इस वेध दोष के निवारण के लिए द्वार तथा वेधक पदार्थ का परस्पर अन्तर द्वार की ऊँचाई से अधिक होना चाहिए।[४]

इस प्रकार द्वार का दिक् और स्थान निर्धारण होने के पश्चात् दोष रहित द्वार का निर्माण शुभ मुहूर्त में करना चाहिए। द्वार की स्थापना शुभ नक्षत्रों और शुभ तिथियों में की जाती है। गृह का मुख्य द्वार अश्विनी-उत्तरात्रय-स्वाति-रोहणी आदि शुभ नक्षत्रों और पञ्चमी-सप्तमी-अष्टमी-नवमी आदि शुभ तिथियों में स्थापित किया जाता है।[५] वास्तुग्रन्थों में "द्वारकरणचक्र" नाम से एक द्वार स्थापना का मुहूर्तबोधक चक्र भी प्राप्त होता है। तदनुसार सूर्य नक्षत्र से वर्तमान नक्षत्र तक गिनने पर चार नक्षत्र धनदायक, दो नक्षत्र हानिकर, चार नक्षत्र धनदायक, दो नक्षत्र भयकर, चार नक्षत्र मृत्युदायक, दो नक्षत्र मृत्युकर, चार नक्षत्र धनदायक, दो नक्षत्र शोककर और तीन नक्षत्र लाभकर

१. वास्तुसौख्यम् - ९/३३०
२. विश्वकर्माप्रकाश - ७/९४
३. बृहत्संहिता - ५३/७९-८१
४. समराङ्गणसूत्रधार - ३५/५२-५६
५. बृहद्वास्तुमाला - ४/९६०-९७०

होते हैं। यथोक्तम्–

दिनकरकिरणक्रान्तर्क्षतो द्वारचक्रे युगयमयुगदृग्वेदद्विरामैः।
मितमुडुगणभागं विन्यसेदूर्ध्वतोऽन्तर्नियमतोऽन्तर्नियमाखिलदिगाप्यभे कोणभंसतः।।[1]

द्वारकरणमुहूर्तचक्रम्–

नक्षत्रसंख्या	४	२	४	२	४	२	४	२	३
फलम्	राज्य लाभः	हानिः	धन-प्राप्तिः	भयम्	मृत्यु-भयः	मृत्युम्	द्रव्य-प्राप्तिः	शोकः	धन लाभः

देवप्रासादवास्तु में द्वारनिर्धारण के इन सभी सिद्धान्तों के अनुपालन के अतिरिक्त कुछ विशिष्ट सिद्धान्तों का अनुपालन भी किया जाता है। मन्दिर का मुख्य द्वार सदैव पूर्व दिशा में होना चाहिए परञ्च ब्रह्मा-शिव और जैनमन्दिरों का द्वार चारों दिशाओं में हो सकता है। तद्यथा–

एकद्वारं प्राङ्मुखं शोभनं स्याच्चतुर्वक्त्रं धातृभूतेशजैने।
युग्मं प्राच्यां पश्चिमे स्यात् त्रिकेषु मूलद्वारं दक्षिणे वर्जनीयम्।।[2]

इसी प्रकार गृह वास्तु में मध्यद्वार का निषेध है पर मन्दिर में मध्यद्वार प्रशस्त कहा गया है।[3] मन्दिर के द्वार की शाखाओं का निर्माण भी सदैव विषम संख्या में किया जाता है। और शाखाओं की संख्या कदापि नौ से अधिक नहीं होनी चाहिए। देवालयों के द्वार कदापि परस्पर सम्मुख नहीं होने चाहिए। ब्रह्मालय और शिवालय के द्वारों में परस्पर वेध होने पर कुलनाश होता है। यथोक्तम्–

देवद्वारं विनाशाय शाङ्कर द्वारमेव च।
ब्रह्मणो यच्च संविद्ध तद्भवेत् कुलनाशनम्।।[4]

देवालयों की द्वार शाखा के विषय में वर्णन है कि द्वार की तीन-पाँच-सात और नौ शाखाएँ होनी चाहिएं।[5] नौ शाखाओं वाले द्वार में ध्वज आय, पंच शाखा वाले द्वार में वृष आय, तीन शाखा वाले द्वार में सिंह आय, सात शाखा वाले द्वार में गज आय रखनी चाहिए।[6] नवशाखात्मक द्वार की संज्ञा पद्मिनी, सप्तशाखात्मक द्वार की संज्ञा हस्तिनी, पंचशाखात्मक द्वार की संज्ञा नन्दिनी है।[7]

इस प्रकार द्वार-निर्धारण में वास्तु-शास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुपालन करते हुए वास्तु सम्मत द्वार का निर्माण करना चाहिए।

१. वास्तुसारसंग्रह - १६/२०
२. राजवल्लभवास्तुशास्त्र - ९/३९
३. वास्तुसौख्यम् - ९/३२४
४. विश्वकर्माप्रकाश - ७/७७
५. वही ७/८२-८५
६. अपराजितपृच्छा, - १३१/६
७. वही, १३१/२-४

वास्तुशास्त्र एवं वायव्य कोण

श्री मृत्युञ्जय त्रिपाठी

भारतीय संस्कृति, साहित्य एवं समस्त ज्ञान राशि का स्रोत प्राचीनतम एवं अपौरुषेय ग्रन्थ वेद हैं। वैदिक काल से ही वास्तु का अपना महत्व रहा है। सभी वेदों एवं पुराणों में इसका यथास्थान उल्लेख प्राप्त होता है। वैदिक काल से ही आवास का महत्व प्रतिपादित होता रहा है। उसी का समुन्नत रूप हमें आगे चलकर अन्य ग्रन्थों में दिखाई पड़ता है। आवास प्राणी मात्र के लिए आवश्यक है, चाहे वह मनुष्य हो अथवा कोई मनुष्येत्तर प्राणी। कोई भी जीव चाहे वह स्वयं का आवास बनाने में सक्षम हो अथवा अक्षम, वह आवास की खोज में रहता है। यथा सरीसृपादि स्वयं का बिल नहीं बना पाते परन्तु उसे भी आवास के लिए बिल की आवश्यकता पड़ती ही है।

आवास प्राणी मात्र की आवश्यकता है जहाँ वह निवास करके सुविधा एवं सुरक्षा का अनुभव करता है। विवेकशील मनुष्य ने वास्तुशास्त्र को विभिन्न प्रकार से उपयोग कर आवासीय, व्यावसायिक एवं धार्मिक इकाइयों के रूप में विभाजित किया है। प्राचीन काल से ही मनुष्य अपनी सुविधा एवं सुरक्षा को लेकर सचेत रहा है। जिसके कारण अनेक प्रकार के दुर्ग, महल, नगर, मन्दिर, वायी, कूप, उद्यानों आदि का निर्माण होता रहा है। जिसके फलस्वरूप मनुष्य एक ही स्थान पर सभी प्रकार की सुविधाओं का उपयोग करते हुए सुरक्षा का भी अनुभव करता है। अतः यह विदित है कि प्रत्येक मनुष्य के लिए आवास अत्यन्त आवश्यक है जिसके परिणामस्वरूप वास्तुशास्त्र का उद्‌भव एवं विकास निरन्तर होता रहा है। 'वस्' वासे धातु निवास करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। **"वस् + वसेस्तव्यत् + कर्तरिणिच्च्"** (**शब्दकल्पद्रुम**) यहाँ 'वस्' क्लो पुल्लिंग हुआ जिसका अभिप्राय है **"वसन्ति प्राणिनो यत्र"**। "वस्" निवासे के अर्थ में उणादि तुण प्रत्यय करने के पश्चात् 'वस्' धातु के 'व' के अकार (व्+अ) को दीर्घ करने के लिए अगारेणिच्च सूत्र आया। इस प्रकार सभी सूत्रादि कार्य होने के पश्चात् "वास्तु" शब्द की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार वास्तु शब्द का मूल रूप से अभिप्राय है कि जिसमें प्राणी निवास करते हैं। **'वसन्त्यस्मिनितिवास्तु'** शास्त्रों के अनुसार जिस भूमि पर भवन आदि निर्माण किया जाए अथवा जो भूमि गृहादि निर्माण के योग्य है वह वास्तु कहलाता है।

जटाधर ने वास्तु शब्द के पर्याय के रूप में 'वेश्मभूः पोतः. वाटी' इन शब्दों का प्रयोग किया है। इसी प्रकार शब्द रत्नावली में वास्तु शब्द के लिए 'वाटिका' एवं 'गृहपोतकः' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। कथा सरित् सागर में भी वार्तालाप के माध्यम से वास्तु शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। यथा– **"इहैवस्मि महाराज वास्तव्योवे नगरे द्विजः"**। अत एव वास्तु कला का अभिप्राय भवन निर्माण संबंधी ज्ञान से हो गया। जिसके फलस्वरूप वास्तुशास्त्र का मुख्य विषय आवासीय, व्यावसायिक, धार्मिक भवनों तथा क्षेत्र वाटिका आदि के निर्माण संबंधी सिद्धान्तों, उपायों एवं साधनों की व्याख्या करना है।

वास्तु पुरुष का प्रादुर्भाव

वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के विषय में अनेक प्रसंग प्रचलित हैं। बृहत्संहिता में वराहमिहिर ने वर्णन किया है कि–

किमपि किल भूतमभवद्रुन्धानं रोदसी शरीरेण।
तदमरगणेन सहसा विनिगृह्याधोमुखं न्यस्तम्।।

यत्र च येन गृहीतं विबुधेनाधिष्ठितः स तत्रैव।
तदमरमयं विधाता वास्तुनरं कल्पयामास।।[1]

प्राचीन काल में अपने शरीर से पृथ्वी और आकाश को ढाँकने वाला कोई अपरिचित व्यक्ति उत्पन्न हुआ। उसको सहसा देवताओं ने पकड़कर नीचे मुख करके पृथ्वी पर स्थापित कर दिया। उस समय जो देवता जिस अङ्ग को पकड़े थे उन्होंने उस अङ्ग में अपना स्थान बना लिया, उस देवमय अपरिचित व्यक्ति को ब्रह्मा जी ने वास्तुपुरुष नाम से कल्पित किया। इसी प्रकार बृहस्पति जी ने भी वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के विषय में वर्णन किया है–

सत्ययुग के आरम्भ में एक महान प्राणी उत्पन्न हुआ, जो अपने विशाल शरीर से समस्त भुवनों में व्याप्त था, इसको देखकर देवराज इन्द्र सहित सभी देवता भयभीत एवं आश्चर्यचकित थे, तदनन्तर उन्होंने क्रुद्ध होकर उस असुर को पकड़कर उसका शिर नीचे करके भूमि में गाड़ दिया और स्वयं वहाँ खड़े रहे। इसी का नाम ब्रह्मा ने 'वास्तुपुरुष' रखा। यथा–

पुरा कृतयुगे ह्यासीन्महद्भूत समुत्थितम्।
व्याप्यमानं शरीरेण सकलं भुवनं ततः।।

तद्दृष्ट्वा विस्मयं देवा गताः सेन्द्रा भयावृताः।
ततस्तैः क्रोधसन्तप्तैर्गृहीत्वा तमथासुरम्।।

१. बृहत्संहिता ५३.२-३

विनिक्षिप्तमधोवक्त्रं स्थितास्तत्रैव ते सुराः।
तमेव वास्तुपुरुषं ब्रह्मा समभिकल्पयेत्।।[१]

इनके अतिरिक्त अन्य अनेक विद्वानों ने वास्तुपुरुष की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न प्रकार से वर्णन किये हैं। वास्तु रत्नावली के अनुसार भगवान शिव और अंधकासुर के युद्ध के समय भगवान शंकर के शरीर से पृथ्वी पर स्वेद (पसीना) गिरा। उस स्वेद से सहसा एक अद्भुत प्राणी की उत्पत्ति हुई जिससे पृथ्वी एवं स्वर्ग-दोनों स्थानों में महान भय व्याप्त हो गया। एकाएक ऐसी स्थिति देखकर देवताओं ने उस अद्भुत प्राणी को पकड़कर अधोमुख करके पृथ्वी पर रख दिया तथा उन्होंने उसे वरदान दिया कि आज से आप वास्तुपुरुष के नाम से सर्वत्र विदित होंगे और वास्तुकर्म में आपकी पूजा होगी। इस पूजा के फलस्वरूप लोगों का सर्वथा कल्याण होगा। देवताओं के इस वरदान के फलस्वरूप ही वह अद्भुत प्राणी कल्याणकारक तथा वास्तुपुरुष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। यथा-

सङ्ग्रामेऽन्धकरुद्रयोश्च पतितः स्वेदो महेशात् क्षितौ
तदस्माद्भूतमभूच्च भीतिजननं द्यावा पृथिव्योर्महत्।
तद्देवैः सहसा निगृह्य निहितं भूमावधोवक्त्रकं
देवानां वचनाच्च वास्तुपुरुषस्त्रेनैव पुज्यो बुधैः।।[२]

वैदिक काल में वास्तु

वैदिक चिन्तन धारा विविधरूपिणी एवं बहुमुखी रही है। प्रत्येक मानवीय कार्यक्षेत्र में, युद्ध और शान्ति की प्रत्येक कला में, राजनीति एवं शासन में, संगीत तथा साहित्य में, वास्तु विद्या अथवा स्थापत्य के निर्माण-विधान में भारतीय चिन्तन धारा विकसित हुई और ऐसे आदर्श स्थापित किए जिनकी प्रशंसा समस्त संसार आज भी करता है।

सुखी, सुरक्षित और शान्तिमय जीवन के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता होती है। आवासीय दृष्टि से गृह-निर्माण, सुख से साधनभूत उन समस्त उपकरणों में प्रथम स्थान रखता है। निवास स्थान की उत्तम व्यवस्था का विचार वैदिक ग्रन्थों में विस्तार से किया गया है। प्राचीनकाल में इसे स्थापत्यवेद के नाम से जाना जाता था। भारतीय वास्तु विद्या का उद्गम संसार की प्राचीनतम रचना ऋकसंहिता से हुआ है। जिसका स्वरूप ऋग्वेद में वास्तोष्पति की प्रार्थना करते हुए प्राप्त होता है।

---

१. वृहत्संहित ५३.२-३ टीका-विमला

२. वास्तुरत्नावली पृ. ४५

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्वं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।[१]

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व।।[२]

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमदि रण्वया गातुमत्या।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः।।[३]

ऋग्वेद के समय में वास्तुकला अत्यन्त विकसित स्वरूप में थी। दुर्ग, प्रासाद और भवनों का उल्लेख उसमें किया गया है। इसके अनुसार दुर्गों, प्रासादों आदि का निर्माण पत्थरों के खण्डों, अन्य ठोस वस्तुओं से किया जाता था। जिनमें अभिजात वर्ग के लोग रहा करते थे। इसके अतिरिक्त यह भी उल्लेख मिलता है कि उस समय कुछ मकान लकड़ी से भी बनाए जाते थे। कहा गया है कि मित्र तथा वरुण के पास एक ऐसा प्रासाद था जिसमें एक सहस्र स्तम्भ थे।

वास्तव में वैदिक काल में ऋषि-मुनि एवं विद्वान आचार्य यज्ञादि विविध अनुष्ठानों की विधिवत् सम्पन्नता के लिए अनेक प्रकार के कुण्ड-मण्डप एवं यज्ञवेदियों का निर्माण करते थे। आश्रमों, यज्ञशालाओं, मठों, मन्दिरों, राज-प्रासादों आदि के निर्माण में दिशा, देश और काल का मुख्य रूप से विचार किया जाता था। निर्माण की इन प्रविधियों का विकास आगे चलकर स्थापत्यवेद, पुराण एवं वास्तु के अन्य ग्रन्थों के रूप में हुआ।

भारतवर्ष उन देशों में से है जहाँ की संस्कृति और परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अतः वास्तु कला-परम्परा भी इतनी अधिक प्राचीन है कि उसका ज्ञान प्राचीनतम साहित्य के गहन अनुशीलन से ही प्राप्त होता है। वेदों में भवन या घर के पर्याय के रूप में कई शब्द मिलते हैं जैसे- गृह, हर्म्य, सदन, दम, दुरोण, अस्त, शरण आदि। इन भवनों के चार प्रमुख भाग होते थे। प्रथम भाग सामने के आँगन सहित गृह-द्वार, दूसरा भाग सदस या बैठक थी। तृतीय भाग पत्नी सदन या अन्तःपुर था। चौथा भाग अग्निशाला, यज्ञशाला या देवगृह था। गृह निर्माण की यह योजना भारतीय परम्परा में निरन्तर चलती रही। घर के समस्त सौन्दर्य की पराकाष्ठा की अभिव्यक्ति के लिए उसकी तुलना नववधू से की गई है। इसलिए उस युग में जब गृह निर्माण होता था तो गृहपति के मानस में सर्वथा यही होता था-

---

१. ऋग्वेद ७/५४/१

२. ऋ. ७/५४/२

३. ऋ. ७/५४/३

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जास्वती धृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभाग्य।।[१]

अर्थात– यह शाला गोमती, अश्वावती, पयस्वती, घृतवती, ऊर्जास्वती और सुनृतावती बनकर मेरे लिए कल्याणकारी और महान सौभाग्य को प्रदान करने वाली होवे।

इन सभी तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वैदिक एवं प्राक् वैदिक काल में भारतीय जनता वास्तुशास्त्र से परिचित थी और उन्होंने इस शास्त्र की अपने जीवन में उपयोगिता को ध्यान में रखकर विकास किया; जिसका वर्णन हमें वेद, पुराण, प्राचीन साहित्य एवं इस शास्त्र कं अनेक मानक ग्रन्थों में आज भी मिलता है।

आवास में पञ्च महाभूतों का महत्त्व

"यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे" प्राचीन काल में ही हमारे तपस्वी ऋषि-मुनियों ने इस सिद्धान्त का आत्म-साक्षात्कार किया। उन्होंने सदैव ही यह माना है कि जिन पञ्च महाभूतों के मिश्रण से एक पिण्ड की रचना हुई है उन्हीं पञ्च महाभूतों से ब्रह्माण्ड की भी रचना हुई है। पृथ्वी और इसमें रहने वाले प्राणियों में भी यही समानता है कि दोनों ही पञ्च महाभूतों के एक निश्चित मात्रा के सम्मिश्रण से निर्मित हुए हैं।

पृथ्वी, जलं, तेज, वायु और आकाश– इन पञ्च महाभूतों के सन्तुलन से प्राणी सक्रिय और स्फूर्तिमान रहता है और इनके असंतुलन से प्राणी में निष्क्रियता निरन्तर बढ़ती रहती है। वास्तुशास्त्र का इस विषय में मुख्य प्रयोग यह है कि व्यक्ति अपने आवास में पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का समुचित प्रबन्ध करे ताकि अपने गृह में उसका जीवन रोगमुक्त, सुरक्षित और सुविधामय हो तथा वह निरन्तर प्रगति की ओर अग्रसर रहे।

समस्त ब्रह्माण्ड पञ्चमहाभूतों से निर्मित है। पृथ्वी और पृथ्वी पर रहने वाले प्राणियों में भी ये पञ्च महाभूत समाहित हैं। इन पञ्च महाभूतों में किसका महत्व ज़्यादा है यह बताना कठिन है। फिर भी वास्तुशास्त्र की दृष्टि से इनके तारतम्य का विचार करना आवश्यक है अतः इन पञ्च महाभूतों के गुण-धर्मों का विचार कर लेना चाहिए। जैसे– पृथ्वी में सामान्यतया पाँच गुण मिलते हैं– १. शब्द २. स्पर्श ३. रूप ४. रस ५. गन्ध। इनमें से पृथ्वी का विशेष गुण गन्ध है क्योंकि यह पृथ्वी के अलावा अन्य महाभूतों में नहीं मिलता। जल में सामान्यतया चार गुण मिलते हैं– १. शब्द २. स्पर्श ३. रूप ४. रस। इनमें से जल का विशेष गुण रस है। तेज (अग्नि/प्रकाश) में सामान्यतया तीन गुण मिलते हैं– १. शब्द २. स्पर्श ३. रूप। इनमें से तेज का विशेष गुण रूप है। वायु में सामान्यतया दो गुण मिलते हैं– १. शब्द २. स्पर्श। इनमें से वायु का विशेष गुण स्पर्श है।

१. अथर्ववेद ३/१२/०२

आकाश में एकमात्र गुण है शब्द जो इसका सामान्य गुण भी है क्योंकि यह अन्य सभी में भी है तथा विशेष गुण भी है।

इस विवेचना से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी से लेकर आकाश तक पाँचों महाभूतों में उत्तरोतर गुणों का ह्रास हो रहा है। इसलिए भवन एवं जीवन दोनों दृष्टियों से वास्तुशास्त्र में पञ्च महाभूतों में एक तारतम्य माना गया है। इसके अनुसार इन महाभूतों की १५ कलाएँ होती हैं। आकाश की १ कला, वायु की २ कलाएँ, तेज की ३ कलाएँ, जल की ४ कलाएँ और पृथ्वी की ५ कलाएँ मानी गई हैं। वास्तुशास्त्र भूमि और भवन में निवास करने वालों की सुविधा एवं सुरक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता देता है। अतः वास्तुशास्त्र के अनुसार पञ्च महाभूतों में से पृथ्वी तत्व का सबसे अधिक महत्व है। अन्य महाभूतों का तारतम्य उनकी कलाओं के अनुसार जाना जा सकता है।

प्रकृति की नैसर्गिक शक्तियाँ–

प्रकृति ही सृष्टि का आधार है। सृष्टि की उत्पत्ति, उसका विकास एवं प्रलय से उसका विनाश ये सारी प्रक्रियाएँ प्रकृति द्वारा नियंत्रित की जाती हैं। प्रकृति ही जगत् का कारण है। प्रकृति ही इस जगत् की प्रारम्भिक इकाई है जिससे अन्य भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ निकलती हैं। यह प्रकृति अनन्त शक्तियों का भण्डार है जो इस सृष्टि को नियंत्रित करने में सहायक होती हैं। इन अनन्त शक्तियों में से केवल तीन शक्तियाँ वास्तुशास्त्र की दृष्टि में मुख्य हैं– गुरुत्वाकर्षण बल, भू-चुम्बकीय बल एवं सौर ऊर्जा (नाभिकीय बल)। प्रकृति की अन्य शक्तियाँ वास्तुशास्त्र के अनुसार अप्रासंगिक नहीं हैं किन्तु वास्तुशास्त्र का क्षेत्र केवल भवन और उसमें रहने वाले प्राणियों तक ही सीमित है अतः यह गृह-निर्माण के लिए भूखण्ड और उसके आसपास के वातावरण में विद्यमान इन प्रमुख शक्तियों के प्रभाव का विचार करता है।

गुरुत्वाकर्षण बल–

इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित प्रत्येक पिण्ड दूसरे पिण्ड को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। दो पिण्डों के बीच यह आकर्षण उनके द्रव्यमान के कारण होता है। द्रव्यमान के कारण होने वाले इस आकर्षण बल को गुरुत्वाकर्षण बल कहते हैं। यह बल सर्व व्याप्त है। यहाँ गुरुत्वाकर्षण बल का पृथ्वी के संदर्भ में उपयोग किया गया है। 'सिद्धान्त शिरोमणि' में 'भास्कराचार्य' ने लिखा है–

आकृष्टिशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या।
आकृष्यते तत्पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे।।[१]

---

१. सिद्धान्त शिरोमणि गो. भुवनकोश. ६

अर्थात् पृथ्वी में अपनी आकर्षण शक्ति के कारण आकाश में स्थित भारी पदार्थ पृथ्वी की आर स्वशक्ति से आकर्षित होकर उस पर गिरते हुए दिखाई देते हैं।

पृथ्वी का यह गुरुत्वाकर्षण बल कई प्रक्रियाओं को पूर्ण करने में सहायक होता है। चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा, पृथ्वी द्वारा सूर्य की परिक्रमा, पृथ्वी पर गिरने वाली वस्तुओं की गति को संचालित करना आदि कार्यों का संचालन पृथ्वी, चन्द्रमा और सूर्य की गुरुत्वाकर्षण शक्ति द्वारा होता है। गुरुत्व का अर्थ सामान्यतया वज़न या भार है। इसका अर्थ है कि जिस वस्तु में जितना अधिक भार होगा उसका गुरुत्वाकर्षण बल उतना ही अधिक होगा। अर्थात् जो वस्तु जितनी ठोस और घनत्व वाली होगी उसके प्रति पृथ्वी का उतना ही अधिक गुरुत्वाकर्षण होगा। वास्तुशास्त्र की दृष्टि से पृथ्वी की यह गुरुत्वाकर्षण शक्ति इस पर बनने वाले भवनों को स्थिरता एवं स्थायित्व प्रदान करती है। गृह-निर्माण में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के घनत्व तथा वज़न पर घर की स्थिरता और स्थायित्व निर्भर है।

चुम्बकीय बल–

चुम्बकीय शक्ति सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इस ब्रह्माण्ड में उपस्थित सब वस्तुएँ– ग्रह, नक्षत्र, तारे इत्यादि इसी शक्ति से आपस में जुड़े हुए हैं। चुम्बकीय शक्ति प्रकृति की वह शक्ति है जिसके द्वारा वह सृष्टि में होने वाली क्रियाओं को संचालित करती है। चुम्बक के दो ध्रुव होते हैं– उत्तर ध्रुव तथा दक्षिण ध्रुव। जब दो चुम्बकों के समान ध्रुवों को सामने लाया जाता है तो वे एक दूसरे से दूर जाते हैं और जब दोनों अलग ध्रुवों को पास में लाया जाय तो वे एक दूसरे को आकर्षित करते हैं। अर्थात्– चुम्बक के सजातीय ध्रुवों के बीच विकर्षण तथा विजातीय ध्रुवों के बीच आकर्षण होता है।

ब्रह्माण्ड के अन्य पिण्डों की तरह पृथ्वी भी एक बहुत बड़ा चुम्बक है। पृथ्वी को यह चुम्बकीय शक्ति पिछले ४६० करोड़ सालों से अपनी कक्षा तथा अपने अक्ष पर लगातार भ्रमण करते रहने से मिली है। पृथ्वी के भी दो ध्रुव होते हैं– उत्तरी ध्रुव तथा दक्षिणी ध्रुव। भू-चुम्बकीय शक्ति तरंगों का प्रवाह उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव की ओर रहता है। किसी भी कम्पास की नोक सदैव उत्तर की ओर रहती है। पृथ्वी के ही समान मानव शरीर के भी दो ध्रुव होते हैं– सिर (उत्तरी ध्रुव) तथा पाँव (दक्षिणी ध्रुव)। इसी कारण उत्तर की ओर सिरहाना करके सोने को शास्त्र सम्मत नहीं माना गया। इससे पृथ्वी का उत्तरी ध्रुव तथा मानव शरीर का उत्तरी ध्रुव एक ही दिशा में होते हैं जिससे विकर्षण होता है–

नोत्तरापर शिरः न च नग्नो नैवचार्द्ररणः श्रियमिच्छन्।[१]

---

१. बृहत्संहिता वा.वि.अ.

इन चुम्बकीय शक्ति तरंगों के प्रवाह को ध्यान में रखते हुए वास्तुशास्त्र ने गृह-निर्माण के अनेक विधानों का वर्णन किया है क्योंकि इन तरंगों का मानव जीवन पर प्रभाव पड़ता है। इन तरंगों का मार्ग बाधित न हो इसके लिए घर के मध्य में स्तम्भ आदि न हों, उत्तर दिशा की ओर खिड़कियाँ, दरवाज़े अधिक हों, पेड़-पौधे या अन्य भवन उत्तर की ओर न हों, उत्तर की ओर ज़मीन का ढलान हो, उत्तर की ओर भवन की ऊँचाई कम हो इन सब विधानों का उल्लेख है। घर का समस्त भारी सामान दक्षिण दिशा में रखने का नियम है। इन सबसे भवन वासियों का बौद्धिक विकास होता है तथा उनका तन-मन संतुलित एवं स्फूर्त रहता है।

सौर ऊर्जा–

पृथ्वी पर ऊर्जा का मुख्य स्रोत सूर्य है। सूर्य से निकलने वाले विकिरणों से पृथ्वी पर ऊर्जा, उष्मा तथा प्रकाश का संचार होता है। सूर्य की ऊर्जा का कारण सूर्य के केन्द्र में होने वाली नाभिकीय अभिक्रिया है जिसमें परमाणुओं में होने वाले पारस्परिक घर्षण से ताप और तेज की उत्पत्ति होती है। इसलिए सौर ऊर्जा को नाभिकीय बल भी कहा जाता है। सूर्य से निकलने वाली किरणों को मुख्यतया तीन वर्गों में वर्गीकृत किया गया है–१. पराबैंगनी किरणें २. वर्णक्रम प्रकाश ३. रक्ताभ किरणें। पराबैंगनी किरणें शीतल और विषाणुओं को नष्ट करने की क्षमता वाली होती हैं। ये किरणें बैंगनी, नीले और आसमानी रंगों के मिश्रण से बनती हैं।

वर्णक्रम प्रकाश में इन्द्रधनुष के सात रंग होते हैं जिसमें– बैंगनी, नीला, आसमानी, हरा, पीला, नारंगी और लाल रंग होते हैं। ऋग्वेद में कहा गया है– **अधुक्षत् पिप्युषीमिषम् ऊर्ज सप्तपदीमरिः सूर्यस्य सप्त रश्मिभिः।**[१] सूर्य की किरणें सात रंग की हैं, इन सात रंग की किरणों से सात प्रकार की ऊर्जा प्राप्त होती है। रक्ताभ किरणें उष्ण होती हैं। ये लाल, नारंगी और पीले रंग के मिश्रण से बनती हैं। वस्तुतः नीले और बैंगनी रंग शीतल होते हैं और जैसे-जैसे हम नीले से लाल रंग की ओर जाते हैं, उष्णता बढ़ती है। इस क्रम में पराबैंगनी किरणें सबसे शीतल और रक्ताभ किरणें सबसे ज़्यादा ऊष्ण होती हैं। प्रातःकालीन सूर्य की किरणों में पराबैंगनी किरणों की अधिकता होती है तथा रक्ताभ किरणें कम होती हैं। इस कारण उदय होते हुए सूर्य की किरणें शीतलता प्रदान करने के साथ-साथ आरोग्यता का भी वरदान देती हैं। ऋग्वेद के अनुसार– उदित होता हुआ सूर्य हृदय के सभी रोगों को, पीलिया और रक्ताल्पता को दूर करता है। यथा–**"उद्यन्नद्य मित्र मह आरोहन्नुत्तरां दिव। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशाय"**[२] अतः श्रीमद्भागवत का कथन है–**"आरोग्यं भास्करादिच्छेत्"** अर्थात्– यदि निरोगी रहना चाहते हो तो सूर्य की शरण में जाओ। सूर्य ही हमारे जीवन को गतिशीलता प्रदान करता है और हमारी नित्य क्रियाओं को व्यवस्थित एवं संचालित करता है।

---

१. ऋग्वेद ८ : ७२ : १

२. ऋग्वेद १ : ५० : ११

सारावलीकार ने ग्रन्थारम्भ में कहा है–

यस्योदये जगदिदं प्रतिबोधमेतिमध्यस्थिते प्रसरति प्रकृतिक्रियासु।
अस्तंगते स्वपिति चोच्छ्वसितैकमात्रंभाव त्रये स जयति प्रकट प्रभावः।।[१]

अर्थात्– जिसके उदय होने पर संसार जाग जाता है, तथा मध्याकाश में पहुँचने पर अपने स्वाभाविक कर्मों में लग जाता है, और अस्त होने पर केवल श्वास–प्रश्वास मात्र जिसमें रह जाय ऐसे सो जाता है। इस प्रकार के प्रकट प्रभाव वाले भुवन–भास्कर भगवान सूर्य की जय हो।

इस प्रकार सूर्य की किरणों के महत्व को समझते हुए वास्तुशास्त्र में इनके शुभ प्रभाव का अधिकतम उपयोग करने के लिए भवन निर्माण के अनेक नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। सर्वप्रथम उदयकालिक सूर्य की किरणों से गृह के निवासियों को अधिकतम लाभ हो इसके लिए पूर्व दिशा में खुला स्थान छोड़ना, खिड़की, दरवाज़े, झरोखे आदि बनाना, पूर्वी भाग में बड़े वृक्ष न लगाना, पूर्वोत्तर दिशा में ढलान बनाना इत्यादि नियमों का उल्लेख है। इसी प्रकार सायंकालीन सूर्य की रक्ताभ किरणों की तीव्र उष्णता से बचने के लिए घर के पश्चिम भाग में वृक्षारोपण का विधान है।

दिक् निर्धारण–

सर्वप्रथम गृहनिर्माण प्रारम्भ करने से पूर्व कार्यसिद्धि हेतु दिशा ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। वास्तव में दिशा सापेक्षता के कारण स्थान भेद से वह भिन्न–भिन्न प्रतीत होती है। वास्तुशास्त्र का मुख्य ध्येय प्राणीमात्र को प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का अधिकतम उपयोग कर संतुलित एवं सुखी जीवन प्रदान करना है। अतः वास्तुशास्त्र के व्याख्याकारों ने विभिन्न दिशाओं के सम्मुख बनने वाले निर्माणों तथा अलग–अलग दिशाओं में वास्तु भूखण्डों की ऊँचाई–निचाई के आधार पर उस भूखण्ड पर रहने वाले व्यक्ति पर पड़ने वाले शुभाशुभ फलों का उल्लेख किया है।

प्रकृति की इस शक्ति को समझना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि सम्यक् दिशाज्ञान कर व्यक्ति भूखण्ड पर इस प्रकार का भवन निर्माण कर सकता है जहाँ उसे न्यूनतम श्रम कर अधिकतम लाभ प्राप्ति हो सके। दिक् साधन का महत्व स्पष्ट करते हुए स्वयं विश्वकर्मा ने कहा है कि– प्रसाद, गृह, अलिन्द, द्वार और कुण्ड के निर्माण में विशेष रूप से दिक्साधन करना चाहिए क्योंकि दिङ्भ्रमित होने से कुल का नाश होता है। यथा–

प्रासादे सदनेऽलिन्दे द्वारे कुण्डे विशेषतः।
दिङ्मूढ़े कुलनाशः स्यात्तस्मात संसाधयेद्दिशः।।[२]

---

१. सारावली मङ्गलाचरण

२. वास्तुसारसंग्रह ७.१

अतः दिक्साधन का निर्देश देते हुए आचार्य कहते हैं कि धरातल को दर्पण के समान समतल करके सिद्धान्त ग्रन्थों के अनुसार सर्वप्रथम स्पष्टतः पूर्वापर साधन करना चाहिए। इसके पश्चात् ही उस भूखण्ड पर गृह निर्माण करना चाहिए।

प्रथमे सुसमे क्षेत्रे प्राचीं संसाधयेत्स्फुटम्।
सिद्धान्तोक्तप्रकारेण ततो निष्पादयेद् गृहम्।।[1]

भास्कराचार्य ने सिद्धान्त शिरोमणि के गणिताध्याय के त्रिप्रश्नाधिकार में दिक्साधन का वर्णन इस प्रकार से किया है।

वृत्तेऽम्भःसुसमीकृते क्षितिगते केन्द्रस्थशङ्कोः क्रमाद्
भाग्रं यत्र विशत्यपैति च यतस्तत्रापरैन्द्रयौ दिशौ।
तत्कालापमजीवयोस्तु विवराद्भाकर्णमित्या हता-
ल्लम्बज्याप्तमिताङ्गुलैरयनदिश्यैन्द्री स्फुटा चालिता।।

तन्मत्स्यादय याम्यसौम्यककुभौ सौम्या ध्रुवे वा भवे-
देकस्मादपि भाग्रतो भुजमितां कोटीमितां शङ्कुतः।
न्यस्येद्यष्टिमृजुं तथा भुवि यथा यष्ट्यग्रयोः संयुतिः
कोटिः प्राच्यपरा भवेदिति कृते बाहुश्च याम्योत्तरा।।[2]

अर्थात् जल से सुसमीकृत (समान) की हुई भूमि में इष्ट प्रमाण का वृत्त बनाएँ तथा उसके केन्द्र में द्वादश अंगुल नाप का शंकु स्थापित करें। उसकी छाया पूर्वाह्न में वृत्त में जहाँ प्रवेश करे वह पश्चिम दिशा तथा अपराह्न में जहाँ वृत्त से छाया का निर्गमन हो वहाँ पूर्व दिशा स्थूल रूप में होती है। परन्तु क्रान्ति के निरन्तर बदलते रहने से पूर्वापर बिन्दु का ठीक ज्ञान नहीं हो पाया अतः छाया के प्रवेश समय एवं छाया के निर्गमन समय की क्रान्तिज्या साधित कर उसके अन्तर को छायाकरण से गुणा करके लम्बज्या से विभक्त करने पर प्राप्त अंगुलादि फल तुल्य पश्चिम बिन्दु को स्थिर कर स्थूल पूर्वापर रेखा को यदि सूर्य उत्तरायन हो तो उत्तर की ओर और यदि दक्षिणायन हो तो दक्षिण की ओर घुमाने से स्पष्ट पूर्वापर रेखा अथवा दिशा ज्ञात होती है।

ध्रुव तारा सदैव उत्तर की ओर होता है अतः उसकी ओर उत्तर दिशा उसके विपरीत दक्षिण दिशा होती है। इस प्रकार याम्योत्तर रेखा के मध्य बिन्दु पर जो रेखा होगी वह स्पष्ट पूर्वापर रेखा होती है। इस प्रकार प्रकारान्तर से रात्रि में भी स्पष्ट पूर्व पश्चिम दिशा का ज्ञान किया जा सकता है। इस प्रकार भवन-निर्माण योग्य भूखण्ड पर पूर्व-पश्चिम तथा उत्तर-दक्षिण दिशा का विधिवत् ज्ञान किया जा सकता है।

---

१. वास्तुसार दिक्साधन, ३

२. वही ४-५

वास्तुशास्त्र के अनुसार कोई ऐसा निर्देश नहीं है कि किसी दिशा विशेष में एक ही कार्य करने के लिए कक्ष का निर्माण हो अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। वस्तुतः यह शास्त्र सभी दिशाओं की प्रकृति तथा गुण धर्म का अधिकतम उपयोग करने के लिए समान प्रकृति की गतिविधियों को संचालित करने का निर्देश देता है। अतः विभिन्न दिशाओं की प्रकृति एवं गुणधर्मों के अनुसार ही कक्षों का निर्माण किया जाता है।

वायव्यकोणीय निर्माण विचार–

यहाँ विशेषकर वायव्य कोण पंर चर्चा करनी है। वायव्य कोण पश्चिम उत्तर के मध्य की दिशा को कहते हैं। इस दिशा के गुण धर्मों के अनुसार निर्माण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। यथा–

दिशा	अनुरूप-निर्माण
पश्चिम एवं वायव्य के मध्य में	१. रोदन गृह २. दण्ड गृह ३. द्वार ४. डाइनिंग रूम के मध्य में ५. ड्राइंग रूम ६. लिविंग रूम ७. शयनकक्ष ८. स्टोर ९.पोर्टिको १०. रसोईघर ११. तल पर पानी की टंकी १२. पेड़।
वायव्य	१. पशुशाला २. खाद्यान्न का भण्डार ३. रसोईघर ४. लिविंग रूम ५. सीढ़ियाँ ६. शौचालय ७. पेड़-पौधे।
वायव्य एवं उत्तर के मध्य में	१. रति गृह २. बच्चों का कमरा ३. लिविंग रूम के मध्य में ५. ड्राइंग ४. भोजन कक्ष ५. अध्ययन कक्ष ६. सैप्टिक टैंक ७. गोबर गैस ८. पानी का हौज।

इस प्रकार वास्तुशास्त्र का उद्देश्य मानव तथा प्रकृति का सामंजस्य स्थापित कर तथा दैनिक गतिविधियों के लिए प्राकृतिक शक्तियों का उचित प्रबन्ध कर सुविधा एवं सुरक्षा के साथ-साथ प्रगति के पथ पर अग्रसर करना है।

वायव्य कोणीय विस्तार एवं कटाव–

आयताकार एवं वर्गाकार भूखण्ड भवन निर्माण हेतु श्रेष्ठ माने गए हैं। परन्तु यदि कोई भूखण्ड आयताकार एवं वर्गाकार न होकर इसके किसी कोण पर विस्तार हो तो वास्तुशास्त्र में इसके लिए शुभाशुभ फल वर्णित हैं। वायव्य कोण पर यदि पश्चिम दिशा में विस्तार हो तो गृहस्वामी को शत्रु भय एवं राजकीय कष्ट होता है। यदि वायव्य कोण में उत्तर दिशा में विस्तार हो तो गृहस्वामी को धन हानि एवं विवाद का सामना करना पड़ता है। स्पष्टता के लिए निम्नाङ्कित चित्र संख्या १, २, ३, ४ को देखें–
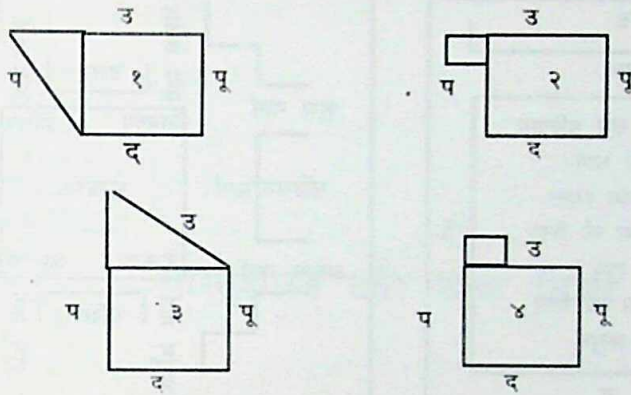
जिस प्रकार भूखण्ड के विस्तार का शुभाशुभ प्रभाव गृहपति पर परिलक्षित होता है। उसी प्रकार भूखण्ड के कटाव से पड़ने वाले शुभाशुभ प्रभावों से भी गृहपति प्रभावित होता है। जैसे– वायव्य कोण के भूखण्ड में यदि पश्चिम दिशा में कटाव हो तो रोग, दुर्घटना एवं राजकोप प्रदायक होने के कारण ये भूखण्ड अशुभ फलदायी होता है। वायव्य कोण में यदि उत्तर दिशा में कटाव हो तो भूखण्ड शुभ फलदायी होता है। कटाव की स्थिति स्पष्ट रूप से समझने के लिए चित्र संख्या ५ एवं ६ को देखें–
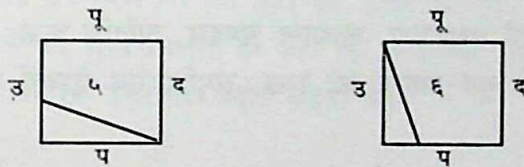
वायव्य कोणीय वेध विचार–

उत्तर एवं पश्चिम दिशा में मार्गों से युक्त भूखण्ड वायव्य भूखण्ड कहलाता है। यह भूखण्ड आवास के लिए उत्तम एवं व्यापार के लिए हानिकारक होता है। भूखण्ड के द्वार के सामने मन्दिर, धर्मशाला, स्तम्भ, कुँआ, जलाशय एवं सड़क होने से वेध दोष उत्पन्न होता है। यदि यह मकान की ऊँचाई से दो गुनी दूरी पर हो तो यह दोष समाप्त हो जाता है। भूखण्ड का वेध विशेष रूप से मार्ग के आधार पर होता है।

यदि कोई सड़क सीधा आकर भूखण्ड को छूती हो तो वह भूखण्ड के लिए वेध दोष होता है। भूखण्ड की किसी भी दिशा में सड़क भूखण्ड के मध्य भाग को स्पर्श करती हो तो वेध दोष उत्पन्न होता है। यदि पूर्व एवं उत्तर दोनों दिशाओं से भूखण्ड पर वेध हो तो यह शुभ होता है। यदि वायव्य कोण का विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि यदि पश्चिम का आने वाला मार्ग वायव्य कोण पर भूखण्ड का वेध करे तो शुभ फलदायी होता है। इसी के विपरीत उत्तर दिशा से आने वाले मार्ग के द्वारा भूखण्ड पर वेध हो तो यह अशुभ फलदायी होता है।
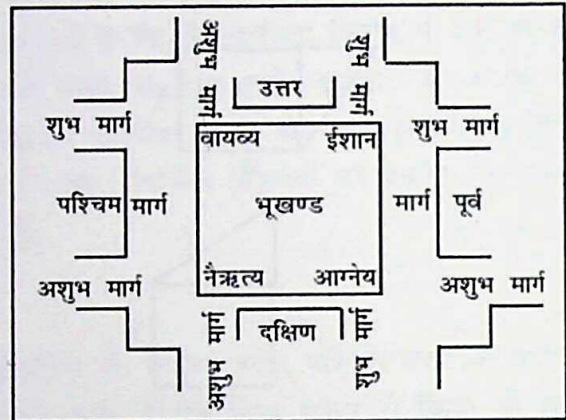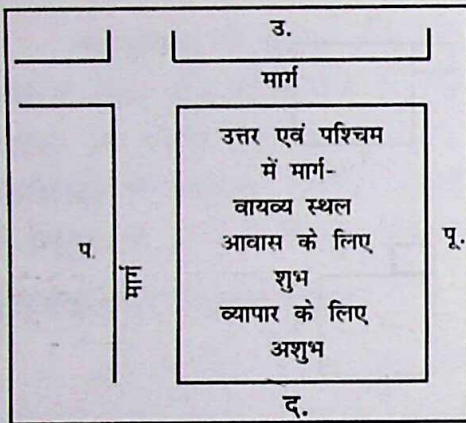
वास्तुशास्त्र के अनुसार सभी दिशाओं में उनकी प्रकृति एवं गुण धर्मों का विचार करते हुए विभिन्न गतिविधियों को सम्यक् रूप से चलाने के लिए विभिन्न प्रकार के निर्माण किए जा सकते हैं। संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि– वायव्य कोण में रोदन कक्ष, अतिथि गृह, पशुशाला, खाद्यान्न भण्डार, के अतिरिक्त रसोईघर, सीढ़ियाँ, शौचालय, पार्किंग आदि का निर्माण किया जा सकता है। इस कोण में पेड़-पौधे लगाकर सज्जा भी की जा सकती है। वायव्य कोण का प्रतिनिधित्व वायु देवता करते हैं जिनकी प्रकृति निरन्तर गतिशील रहना है। जिससे इस कोण की परिस्थितियाँ निरन्तर बदलती रहती हैं। इसलिए यहाँ पशुशाला, खाद्यान्न भण्डार, अतिथि कक्ष, वाहन-पार्किंग आदि का निर्माण किया जाता है जिससे गृह-स्वामी को सुख, समृद्धि एवं ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है।

वास्तुशास्त्र और उत्तर दिशा

श्री मुकेश शर्मा

उत्तर दिशा चुम्बकीय शक्ति का महत्त्वपूर्ण स्त्रोत है। उत्तर दिशा के अधिष्ठाता देव कुबेर है, जिन्हें धन का स्वामी अथवा देवताओं का कोषपाल भी कहा जाता है। उत्तर दिशा की तरफ जिन देवताओं का वास है उनका नाम है-- दिति, अदिति, मृग, सोम, भल्लाट, मुख्य, नाग आदि। उत्तर दिशा को मातृ स्थान अर्थात माता का स्थान भी कहा जाता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा को पिता का स्थान कहा जाता है। उत्तर दिशा का महत्व इसलिए भी है क्योंकि इसका संबंध स्त्री पक्ष से भी है। जिस प्रकार बिना स्त्री के घर सूना सा लगता है उसी प्रकार बिना उत्तर दिशा के सभी दिशायें फिकी सी लगती हैं। जिस घर का मुख द्वार उत्तर की ओर होगा उस घर की स्त्रियाँ बहुत सुख पाती हैं। जहाँ स्त्री को सुख मिलता हो वहाँ घर में शान्ति, समृद्धि तथा देवता का वास होता है और घर की मान-प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहती है।

उत्तराभिमुखी भवन–

उत्तर की ओर मुख वाला घर बड़ा सौभाग्यशाली होता है। ऐसा घर शिक्षाविदों तथा बौद्धिक कार्य करने वालों के लिए बड़ा शुभ होता है। ऐसे घर में रहने वाले व्यक्ति उदारचित्त वाले होते हैं, वे अपनी प्रसिद्धि की इच्छा न रखते हुए भी दूसरों की मदद करने व शुभ कार्यों में भागी होने के इच्छुक होते हैं। ऐसे लोग समाज में प्रतिष्ठा पाते हैं। यदि घर का द्वार उत्तर दिशा में वास्तु के अनुरूप हो तो गृह-स्वामी को ऐसे पुत्र की प्राप्ति होती है जो आगे चलकर परिवार का नाम रोशन करता है। यदि घर के उत्तर में सड़क तथा खुला स्थान हो तो वास्तु दृष्टि से एक अच्छा लक्षण है।

घर का मुख्य द्वार उत्तर दिशा में रखना चाहिए, लेकिन इसे मकान के बीचों बीच न बनवाकर उत्तर तथा वायव्य के बीच मुख्य, भल्लाट तथा सोम देवताओं के स्थान पर बनाना चाहिए। इस स्थान पर वास्तुसम्मत द्वार बनाने से पुत्र, धन, समृद्धि आदि की निरन्तर वृद्धि होती रहती है। यदि प्लाट उत्तर मुखी है तो यह ध्यान रखना चाहिए कि दीवारें ज्यादा ऊँची न हों तथा मेन गेट ज्यादा भारी न हो। मेनगेट पर मेहराब आदि भी नहीं बनवाना चाहिए।

उत्तर दिशा में धन का–

उत्तर दिशा कुबेर की दिशा मानी जाती है। इसलिए घर में धन तथा धन से संबंधित चीजें उत्तर दिशा में रखनी चाहिए इससे धन में निरन्तर वृद्धि होती रहती है। घर की जिस अलमारी या सेफ में नकदी, आभूषण, कीमती वस्तुएँ रखी जाए उसे उत्तराभिमुख होना चाहिए जिससे धन में सदा प्रवाह बना रहता है। घर के उत्तर में ज्यादा निर्माण तथा ऊँचे ऊँचे वृक्ष भी नहीं लगवाने चाहिए।

उत्तर दिशा में जल का प्रवाह–

उत्तर दिशा में जल का प्रवाह होना एक शुभ लक्षण है, यहाँ पर जल से संबंधित चीजें रखनी चाहिए। यहाँ जल का स्त्रोत बनाना चाहिए। जल का मुख्यतः संबंध धन से है अतः स्वच्छ जल की व्यवस्था भी करनी चाहिए इससे धन में वृद्धि होती है। घर के फर्श तथा छत का ढलान इस प्रकार होना चाहिए जिससे घर के जल का निकास उत्तर या उत्तर पूर्व दिशा की तरफ रहे।

पुष्कर नामक मकान–

उत्तर की ओर मुख वाला और जिसका द्वार भल्लाट संयुत हो तथा जिसकी शाला छागली हो, उसे पुष्कर नाम से पुकारा जाता है। इस पुष्कर नामक मकान में रहने वाला व्यक्ति शीलवान, नित्य-संतुष्ट, सुहृदों एवं सुजनों का वत्सल होता है। इसके अलावा उसे सौभाग्यशाली, बहु पुत्र एवं धन-वैभव से युक्त कहा जाता है।

सोते समय उत्तरदिशा की स्थिति–

उत्तर दिशा की तरफ पैर तथा दक्षिण दिशा की तरफ सिर करके सोना चाहिए। इससे सुखद तथा गहरी निद्रा आती है परन्तु अगर हम उत्तर दिशा की तरफ सिर करके तथा दक्षिण की तरफ पैर करके सोयेंगे तो इससे हमें अनिद्रा, मानसिक अशान्ति तथा सिर दर्द इत्यादि कष्ट हो सकते हैं। इसका मुख्य कारण है कि उत्तर दिशा से दक्षिण दिशा की तरफ चुम्बकीय तरंगें निर्बाध रूप से बहती रहती हैं। मनुष्य का शरीर भी चुंबकीय ऊर्जाओं से बना हुआ है। मानव का सिर उत्तर दिशा का तथा पैर दक्षिण दिशा का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि सोते समय सिर को उत्तर की तरफ करेंगे तो चुंबकीय प्रभाव में बाधा आयेगी तथा इसका प्रत्यक्ष प्रभाव रक्त संचार पर पड़ता है। इससे मस्तिष्क में तनाव, भारीपन आदि रहेगा। अगर लम्बे समय तक यह सोने की क्रिया रहती है तो व्यक्ति विभिन्न प्रकार के भयंकर रोगों से पीड़ित हो सकता है। अतः सोते समय उत्तर की तरफ पांव तथा दक्षिण की तरफ सिर करके सोना चाहिए।

उत्तर दिशा की तरफ मुख करके कार्य करने के लाभ–

भारतीय वास्तुशास्त्र ने अनेक जगह यह बताया है कि मनुष्य को ज्यादातर काम करते वक्त अपना मुख पूर्व या उत्तर की तरफ रखना चाहिए। इसका मुख्यकारण है कि उत्तर तथा पूर्व की तरफ से आने वाली सकारात्मक उर्जा हमारे मस्तिष्क की सुप्त कोशिकाओं को कई गुणा सक्रिय कर देती है तथा इन्हें ये उर्जायें शुद्ध आक्सीजन प्रचुर मात्रा में देती है इससे व्यक्ति की मस्तिष्क की कार्यशीलता कई गुणा बढ़ जाती है। इससे व्यक्ति हर प्रकार से अच्छा चिन्तन करता है तथा शरीर की सारी क्रियायें लाभप्रद स्थिति में हो जाती हैं। घर का वातावरण सुखद हो जाता है। व्यक्ति हर काम को मन लगा कर सकता है। इस प्रकार व्यक्ति की कार्यशीलता में कई गुणा वृद्धि हो जाती है।

नवदम्पत्ति का शयन कक्ष–

भारतीय वास्तुशास्त्र ने नवदम्पत्ति के परिवारिक जीवन के लिए वायव्य तथा उत्तर दिशा के बीच जहाँ मुख्य तथा भल्लाट नामक देव पद होते हैं वहाँ बनाने की सलाह दी है। इससे उनके जीवन में नित नया आनंद प्राप्त होता रहे। इसका मुख्य कारण यह है कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार मीन राशि उत्तर दिशा में बली होती है तथा शुक्र ग्रह यहाँ पर उच्च का होकर बली होता है। परस्पर प्रेम, रस, माधुर्य, सौहार्द, सहयोग, संयोग, शक्ति, रतिसुख एवं समस्त गृहस्थ सुख का कारकत्व शुक्र के पास है। अतः नवदम्पत्ति के लिए यह स्थान हर प्रकार से श्रेयस्कर बताया गया है।

उत्तर दिशा में रसोईघर–

घर की उत्तर दिशा में रसोईघर नहीं बनानी चाहिए क्योंकि उत्तर दिशा का संबंध जल तत्व से है तथा रसोईघर का संबंध अग्नि तत्व से है। इन दोनों तत्वों में परस्पर विरोध रहता है। अगर ये दोनों तत्व एक जगह होंगे तो विभिन्न प्रकार के रोग, स्त्री कष्ट, आर्थिक हानि इत्यादि होने की संभावना बनी रहती है। अतः यहाँ रसोईघर बहुत आवश्यक होने पर ही बनाना चाहिए।

उत्तर दिशा में शौचालय–

भारतीय वास्तुशास्त्र उत्तर दिशा को स्वच्छ, सुन्दर तथा भार व बाधा रहित रखने की सलाह देता है क्योंकि यहाँ से सकारात्मक ऊर्जा का निरन्तर प्रवाह रहता है। अगर यहाँ शौचालय का निर्माण करवाया जाता है तो उत्तर दिशा की तरफ से आने वाली सकारात्मक ऊर्जायें शौचालय की नकारात्मक ऊर्जाओं का संयोग करके वे भी नकारात्मक ऊर्जाओं में प्रवर्तित हो जायेंगी। इससे घर की प्रगति रूक जायेगी। घर में कई प्रकार के रोग पैदा हो जायेंगे। स्त्री तथा सन्तान कष्ट उत्पन्न होने की संभावना रहेगी। अतः इस दिशा में शौचालय जैसे कक्षों का निर्माण नहीं करना चाहिए।

उत्तर दिशा में सीढ़ियाँ–

इस दिशा में सीढ़ियाँ नहीं बनानी चाहिए क्योंकि इस दिशा से आने वाली सकारात्मक ऊर्जायें बाधित होगीं तथा उनका पूरा लाभ घर के सदस्यों को प्राप्त नहीं हो सकेगा। इससे घर आर्थिक तथा मानसिक कष्टों से घिर जायेगा। हर क्षेत्र में रूकावट पैदा हो जायेगी। भारतीय वास्तुशास्त्र इस क्षेत्र में सीढ़ियाँ बनाने की सलाह नहीं देता है। अतः इस स्थान को खुला, स्वच्छ तथा भाररहित रखना चाहिए।

उत्तर दिशा में उन्नत निर्माण एवं वृक्ष–

उत्तर दिशा से जो हमें उर्जायें प्राप्त होती हैं ये हमारे जीवन के लिए संजीवनी औषधी की तरह है। अतः हमें उत्तर दिशा में ऊँचे निर्माण तथा भारी व बड़े वृक्ष नहीं लगाने चाहिए। इससे घर की हर प्रकार से प्रगति रूक जाती है। अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है। इसलिए हमें इस दिशा को हल्का तथा खुला रखना चाहिए।

उत्तर दिशा में स्टोर आदि–

इस दिशा में स्टोर भी नहीं बनवाना चाहिए। यह दिशा जल तत्व का प्रतिनिधित्व करती है। अगर यहाँ पर पुराना समान या अन्य फालतु समान रखेंगे तो धीरे-धीरे वे सब खराब हो जायेगे। उसमें कई प्रकार दूषित किटाणु पैदा हो जायेंगे। इससे घर पर रोगों का हमला हो सकता है। घर में सकारात्मक ऊर्जा नकारात्मक में बदल जायेगी जिससे अनेक प्रकार की परेशानियों से जूझना पड़ेगा। अतः इस दिशा में स्टोर आदि का निर्माण नहीं करवाना चाहिए। उपरोक्त विवरण के आधार पर हम कह सकते हैं कि उत्तर दिशा पवित्र गंगा जल के समान है जिसे संभालकर रखना चाहिए। उत्तर दिशा की तरफ वाले भुखण्ड शुभ होते हैं परन्तु खरीदते तथा बनवाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वास्तुशास्त्र के नियमों का उल्लंघन न हो। इस दिशा को जितना स्वच्छ, हल्का, खुला तथा पवित्र रखेंगे उतना ही हमें हर प्रकार से लाभ होगा।

उदाहरण संख्या-१

यह आवास पश्चिमी दिल्ली के उत्तम नगर क्षेत्र में स्थित है। यह प्लाट आयातकार चन्द्रभेदी तथा उत्तराभिमुखी है। इस आवास में एक डाक्टर तथा उनकी पत्नी तथा तीन पुत्र व एक पुत्री निवास करते हैं। इनके आवास का मुख्य द्वार वायव्य तथा उत्तर दिशा के मध्य में है। इनके आवास के ईशान कोण में सीड़ियाँ हैं तथा उसके नीचे शौचालय है। इस घर के सभी सदस्य स्वस्थ तथा अध्यात्मिक प्रवृत्ति के नहीं है तथा घर का वातावरण ठीक नहीं है। आर्थिक स्थिति भी प्रायः खराब ही है। इस घर के सबसे बड़े लड़के का जीवन अस्थिर एवं घर का खर्चा अधिक है। भाईयों में कुछ मनमुटाव सा रहता है। पुत्री की शादी की समस्या सताती रहती है।

शौचालय बन्द करवाकर एक नया शौचालय नैर्ऋत्य कोण में बनवा दिया है। विधि-विधान से वास्तु देवता की पूजा करवाने से घर में सुख-शान्ति का वातावरण बन गया है। सभी बच्चे ठीक जगह पर लग गये हैं। आर्थिक स्थिति भी ठीक होती जा रही है। सभी बच्चों की शादी हो गई है। इस प्रकार घर की स्थिति ठीक रहने लगी है।

उदाहरण संख्या-२

यह आवास अंकलेश्वर, गुजरात में स्थित है। यह उत्तराभिमुखी मकान है। इसका आकर आयातकार है। इस घर में एक दंपत्ति के साथ उनके दो लड़के तथा एक लकड़ी रहती है। ये दुकान करते हैं। इनकी आर्थिक स्थिति मध्यम श्रेणी की है। इस घर का ढलान वायव्य की तरफ है। इस घर का मुख्य द्वार उत्तर दिशा के मध्य में है। इस घर के दंपत्ति उत्तर-पूर्व के कमरे में रहते हैं तथा बच्चे पूर्व के कमरे में रहते हैं। बच्चों की पढ़ाई ठीक है।

दंपत्ति में संबंध अच्छे नहीं रहते हैं। रसोई घर में खर्चा ज्यादा होता है। पड़ौसी से हमेशा अनबन रहती है। घर की आर्थिक स्थिति ज्यादा अच्छी नहीं रहती है। दंपत्ति का सोने का स्थान ईशान से दक्षिण की तरफ करवाया गया। अब संबंध ठीक है। रसोईघर को आग्नेय की तरफ करवा दिया इससे रसोई के समान का खर्चा कम हो गया है। वायव्य के खुले स्थान पर कुछ निर्माण करवा दिया गया है तथा ढलान उत्तर की तरफ करवा दिया है। इससे घर की संपूर्ण स्थिति ठीक ही हो रही है।

उदाहरण संख्या-३

यह आवास सूरत में स्थित है। यह घर आकार में आयातकार है। यह एक सूर्यभेदी आवास है। इस घर का मेन गेट उत्तर में वास्तुशास्त्र के अनुसार सही स्थान पर है। इस घर में कुल आठ सदस्य रहते हैं। घर के सभी सदस्य ठीक तथा स्वस्थ है। घर की आर्थिक स्थिति भी ठीक है। सभी अच्छी तथा उच्च शिक्षा पा रहे हैं। मन्दिर ईशान कोण में है। सभी सदस्य धार्मिक प्रवृत्ति के हैं। रसोईघर आग्नेय कोण में है। इस प्रकार ज्यादातर कक्ष वास्तुशास्त्र के अनुरूप हैं। इन्हीं सबके कारण घर के सभी सदस्यों के चेहरों पर एक सुन्दर सी आभा देखने में आती है। सभी लोग प्रसन्नचित रहते हैं।

उदाहरण संख्या-४

यह आवास अंकलेश्वर, गुजरात में स्थित है। यह एक गौमुखी भूखण्ड है। इसका मुख्य द्वार उत्तर दिशा की तरफ है। इस घर में चार सदस्य रहते हैं– माता-पिता तथा उनकी दो छोटी सन्तानें। गृहस्थी परचून की दुकान करते हैं। जो सामन्यतया ठीक चलती है। इस घर के कुछ कक्ष वास्तुशास्त्र के अनुरूप हैं परन्तु उनका आकार ठीक नहीं है।

बच्चे बहुत चंचल हैं तथा हमेशा खेलते-कूदते रहते हैं। पढ़ाई में मन कम लगता है। घर का वातावरण ज्यादा सौहार्दपूर्ण नहीं है। घर के दरवाजे तथा खिड़कियाँ प्राय: बन्द रहती हैं इसलिए घर में अजीब सी दुर्गन्ध आती है। घर का वातावरण चंचलता लिए हुए है।

सभी कक्षों को वर्गाकार तथा आयातकार करवाया गया। घर में ताजी हवा के लिए द्वारों तथा खिड़कियों को खोल के रखने को कहा गया। आर्थिक स्थिति तथा घर के वातावरण को सौहार्दपूर्ण करने के लिए पूजा उपासना बताई गई। इस प्रकार करने के बाद अब घर की आर्थिक स्थिति ठीक चल रही है। मन सभी का प्रसन्न रहता है। बच्चे पढ़ने में रूचि दिखाने लगे हैं। घर का वातावरण सौहार्दपूर्ण रहने लगा है।

उदाहरण संख्या-५

यह आवास ONGC, अंकलेश्वर, गुजरात में स्थित है। यह आवास उत्तराभिमुखी है। यह एक प्रकार की आवासीय कालौनी है। यहाँ पर चारों तरफ बहुत हरियाली है। इस भूखण्ड में उत्तर तथा पूर्व की तरफ विस्तार है तथा वायव्य कोण कटा हुआ है। इसका मुख्य द्वार उत्तर दिशा में है। यहाँ एक दंपत्ति अपनी एक छोटी पुत्री के साथ रहते हैं। घर का पुरुष सदस्य एक सरकारी कर्मचारी है। रसोईघर आग्नेय कोण में है परन्तु जल का स्रोत भी ठीक आग्नेय कोण में है। सभी कक्षों में बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ तथा रौशनदान हैं। आग्नेय दिशा की तरफ एक पीपल का पेड़ है।

प्राय: यह देख गया कि यहाँ पर भोजन बनाने के बाद उसमें विकृति आ जाती है उसमें मूल स्वाद नहीं रहता है। नैर्ऋत्य कोण वाले कक्ष में मन नहीं लगता है जिससे वह प्राय: खाली पड़ा रहता है। पुत्री का मन पढ़ाई में नहीं लगता है। आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं रहती है।

रसोईघर के जल का स्रोत उत्तर-पूर्व की ओर करवाया गया। दक्षिण तथा पश्चिम के दरवाजें तथा खिड़कियाँ कम खोलने की सलाह दी गई। पूर्व तथा उत्तर की तरफ मुख करके खाना बनाने तथा पुत्री को पढ़ाने की सलाह दी गई। इससे पुत्री का मन पढ़ने में लगने लगा है तथा आर्थिक स्थिति भी ठीक होती जा रही है। भोजन भी रुचिकर होने लगा है।

वास्तुसम्मत चिकित्सालय

श्री गणेशदत्त चतुर्वेदी

आयुर्वेद का कथन है कि शरीर रोग-व्यधियों का एक बड़ा भण्डार है। जैसे कि कहा है- "शरीरं व्याधि मन्दिरम्" शरीर में रोग-आधि एवं व्याधि हमेशा विद्यमान रहती हैं। रोग होने के कई कारण बताए गये हैं। आयुर्वेद का कथन है कि ऐसा आहार विहार हो जिससे रोग उत्पन्न न हो और यदि रोग प्रकट हो गया तो चिकित्सा के द्वारा उसका निदान करना चाहिए क्योंकि शरीर ही पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि का साधन है। यथा-"शरीरमाद्यं खलु धर्म साधनम्"। अतः शरीर का सर्वतो भावेन स्वस्थ्य एवं निरोग होना परम आवश्यक है। इसलिए शरीर की रक्षा के विषय में कहा है-

धर्मार्थज्ञानमोक्षाणाम् शरीरं साधनं यतः।
सर्वकार्येष्वन्तरङ्गं शरीरस्य हि रक्षणम्।।

अर्थात धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए निरोग तथा स्वस्थ शरीर ही मुख्य साधन है इसलिए शरीर की रक्षा करनी चाहिए।

अतः समय समय पर विभिन्न प्रकार की उत्पन्न व्याधियों की चिकित्सा के लिए भिन्न भिन्न स्थानों पर चिकित्सालय, औषधालय, नर्सिंग होम, क्लीनिक, आयुर्वेद केन्द्र, पंचकर्म केन्द्र आदि का निर्माण किया जाता है। इन चिकित्सा केन्द्रों का ऐसी जगह पर निर्माण करना चाहिए जहाँ पर रोगी को शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हो सके तथा चिकित्सालय की ख्याति भी बढ़े। यह तभी सम्भव है जब इनका निर्माण वास्तुसम्मत हो। अतः भूखण्ड के गुणधर्म के अनुसार ही चिकित्सा के विभागों का निर्माण श्रेयस्कर है ताकि विभाग में कार्य करने वाले चिकित्सक तथा कर्मचारी पूरी तल्लीनता तथा मनोयोग से काम कर सकें जिससे कि रोगी की मनः सन्तुष्टि के साथ-साथ रोग का निदान भी शीघ्र हो। रोग के उपचार करते समय रोगी की मन:संतुष्टि (Positive Thinking) आवश्यक है तभी रोग का निदान सम्भव है। जैसे कहा भी गया है।

प्रसन्न चेतसः सौख्यमारोग्यं च भवेत् सदा।
अप्रसन्नस्य चित्तस्य रोगाः सर्वे भवन्ति हि।।

प्रसन्नचित्त (Positive Thinking) (मन) ही सभी प्रकार के सौख्य एवं आरोग्यता प्रदान करता है। अप्रसन्न मन (Negative Thinking) सभी रोगों का कारण है। यह तभी सम्भव है जब चिकित्सालय का निर्माण वास्तु सम्मत हो। अत: चिकित्सा केन्द्रों का निर्माण करते समय वास्तुशास्त्र के निम्न बिन्दुओं पर विचार करना आवश्यक है–

१. भूखण्ड का चयन–

चिकित्सालय अथवा चिकित्सा केन्द्रों के निर्माण के लिए बड़े भूखण्ड का चयन करना चाहिए ताकि तीन चार खंडों में उसका निर्माण हो सके। चिकित्सालय का ऐसे भूखंड पर निर्माण करना चाहिए जहाँ रोगी को अति शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हो सके यदि इसका निर्माण वास्तु के विपरीत भूखण्डों पर हुआ तो रोगी के ठीक होने की कम सम्भावना रहती है। यथा–

स्फुटिता च सशल्या च वाल्मीकाऽऽरोहिणी तथा।
दूरतः परिहर्तव्या कर्त्तुरायुर्धनापहा।।[१]

फटी हुई, शल्य युक्त, दीमकों से व्याप्त और ऊँची-नीची भूमि को (भवन निर्माता) चिकित्सालय निर्माता को दूर से छोड़ देनी चाहिए। ऐसी भूमि आयु और धन दोनों का नाश करने वाली है। अर्थ स्पष्ट है चिकित्सालय/अस्पताल का ऐसी भूमि पर निर्माण करना चाहिए जहाँ पर आयु की वृद्धि हो तथा धन का भी क्षय न हो। इसलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है कि अनुभूति हो प्रसन्नता के साथ-साथ सन्तुष्टि भी हो तो उस भूमि पर सभी प्रकार का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा गर्गादि ऋषियों का कथन है। इस प्रकार की भूमि पर चिकित्सालय का निर्माण करने से चिकित्सा के लिए आये हुए व्याधि पीड़ित व्यक्तियों को व्याधि से राहत तथा आत्म सन्तुष्टि के साथ-साथ आत्मबल की भी प्राप्ति होती है।

चिकित्सालय के निर्माण से पूर्व भूखण्ड के आकार-प्रकार का भी विचार कर लेना चाहिए। अस्पताल के लिए बड़ा भूखंड होना चाहिए। इसके लिए आयताकार वर्गाकार एवं वृत्ताकार भूखंड श्रेष्ठ है। किसी तरह का कटा-फटा भूखंड चिकित्सालय के लिए उत्तम नहीं है। भूखण्ड के चयन के विषय में वास्तुशास्त्र का कथन है–आयताकार भूखंड सभी प्रकार की सिद्धि प्रदान करने वाला, वर्गाकार धन देने वाला, वृत्ताकार भूखंड बुद्धि की वृद्धि करने वाला, भद्राकार भूखण्ड सभी प्रकार से कल्याणकारी होता है। चक्राकार दरिद्रता, विषमबाहु शोक प्रद, त्रिकोण राजभय, गाड़ी (शकट) के आकार का भूखण्ड धन नाश, दण्डाकार-पशुनाश, सूप के आकार वाला गो वंश नाश, कूर्माकार बन्धन (कारागार) भय, धनुषाकार भय, घड़े के आकार वाला कुष्ठ रोग पंखे के आकार वाला नेत्रपिड़ा तथा मृदंगाकार भूखंड धन और बन्धु का नाश करने वाला होता है।[१]

१. वृहद्वास्तुमाला १.७९।
१. वृहद्वास्तुमाला १.८०-९२

चिकित्सालय के निर्माण से पूर्व भूखण्ड चयन में भूमि का ढाल, मिट्टी का घनत्व, शल्यादि विचार, आस-पास के वातावरण का विचार भी करना चाहिए।

२. चिकित्सालय का मुख्य द्वार–

वास्तुशास्त्र के अनुसार मुख्य द्वार का स्थान निश्चित करने के लिए कई विधियाँ बताई गई हैं जिसमें से वर्ण, राशि, आय एवं वास्तु चक्र के अनुसार मुख्यद्वार का निर्धारण करना चाहिए। वर्ण और राशि में चिकित्सालय बनाने वाले की राशि का ग्रहण करना चाहिए। बिना इसके यह निर्णय करना सम्भव नहीं होगा। यदि राज्य पक्ष चिकित्सालय का निर्माण कर रहा हो आय और वास्तुचक्र के अनुसार द्वार का निर्धारण करना श्रेयस्कर है।

३. स्वागत कक्ष–

चिकित्सालय में यदि मुख्य द्वार पूर्वाभिमुखी है तो बायीं तरफ और यदि दक्षिणमुखी है तो दायीं तरफ स्वागत कक्ष (रिसेप्सन) का निर्माण करना चाहिए। ताकि आगन्तुकों को प्रवेश करते ही पूछताछ केन्द्र पर जाने में कोई असुविधा नहीं होगी यदि इसके विपरीत स्वागत कक्ष का निर्माण होता है तो आगन्तुक एवं मरीजों को परेशानियों का सामना करना पड़ेगा। स्वागत कक्ष की तरफ उत्तर होना चाहिए और आगन्तुक का मुँह दक्षिण या पश्चिम की तरफ होना चाहिए। स्वागत कक्ष के उत्तर एवं पूर्व भाग में ज्यादा खुला रखना चाहिए तथा सोफे एवं कुर्सियाँ इस प्रकार लगायी जानी चाहिए जिससे कि पूर्वोत्तर भाग खुला रहे।

४. जल की व्यवस्था–

चिकित्सालय में जल की व्यवस्था के लिए कुआँ, बोरिंग, नलकूप, हैंडपम्प तथा अन्डर ग्राउन्ड टैंक का निर्माण ईशान, उत्तर अथवा पूर्व में श्रेयस्कर है। वास्तुशास्त्र का सिद्धांत है कि भवन का ईशान भाग नीचा होना चाहिए तथा यह स्थान जल क्षेत्र के अन्तर्गत आता हो अतः इन्हीं स्थानों पर जल की व्यवस्था उचित है। उर्ध्व टैंक का निर्माण चिकित्सालय के दक्षिणी एवं पश्चिमी भाग अथवा नैर्ऋत्य में करना श्रेयस्कर है।

५. बहुमंजिले भवनों का निर्माण–

यदि चिकित्सा केन्द्र का निर्माण प्रखंड या शालाओं में करना है तो एक शाला का निर्माण दक्षिण दिशा मे करना चाहिए तथा मुख्य द्वार उत्तर की तरफ निश्चित करना चाहिए द्विशाल का निर्माण दक्षिण एवं पश्चिम भाग में तथा त्रिशाल का निर्माण दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर भाग में और चतुः शाल का निर्माण चारों दिशाओं में करना चाहिए। लेकिन भूखण्ड पर ब्रह्म स्थान के ऊपर निर्माण नहीं करना चाहिए। यदि शालाओं का निर्माण L, E, U या C के आकार में होता है तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि दक्षिण एवं पश्चिम के भाग की ऊँचाई पूर्व एवं उत्तर से ज्यादा

हो अर्थात् पूर्व एवं उत्तर दिशाओं में बने शालाओं की ऊँचाई अपने दक्षिण एवं पश्चिम से कम होनी चाहिए।

६. इमरजेन्सी/कैजुअल्टी वार्ड–

आकस्मिक दुर्घटना तथा भयंकर बीमारी तथा असह्य रोग के त्वरित उपचार के लिए हर एक चिकित्सा केन्द्रों एवं चिकित्सालयों में इमरजेन्सी तथा केजुअल्टी वार्ड बनाया जाता है। इस वार्ड का अस्पताल में कहाँ निर्माण करना चाहिए जिससे कि रोगी को त्वरित लाभ हो तथा असह्य वेदना से कुछ राहत मिले। वास्तुशास्त्र इस प्रकार के वार्ड का निर्माण के लिए प्रस्तावित भूखंड पर परिकल्पित देवता के गुण धर्म के अनुसार पूर्व, उत्तर तथा वायव्य में आदेश देता है। पूर्वी द्वार होने पर द्वार के दाहिने तरफ तथा उत्तरी द्वार होने पर द्वार के बायें तरफ भी इमरजेन्सी कक्ष का निर्माण किया जा सकता है। इमरजेन्सी कक्ष में रोगियों का बैड वायव्य कोण में होना चाहिए तथा डाक्टरों एवं नर्सों का बैठने का स्थान नैऋत्य दिशा में होना चाहिए। पूर्व दिशा के देवता हैं सूर्य और ईशान के भगवान शिव, उत्तर के सोम तथा इस स्थान के ग्रह है बृहस्पति व शुक्र। अतः स्थान पर इमरजेन्सी कक्ष का निर्माण त्वरित लाभ कराने वाला तथा शीघ्र राहत पहुँचाने वाला होगा। वायव्य कोण में निर्मित इमरजेन्सी कक्ष का लाभ उस स्थान के देवता वायु से मिलेगा जो स्वभावतः चंचल है वायु का गुण धर्म है। अपने तेज रफ्तार से किसी वस्तु को उड़ा देना। अतः इस स्थान पर रोगी को त्वरित लाभ होगा।

७. गहन चिकित्सा कक्ष (ICU)–

अति गम्भीर एवं दुसह्य रोग तथा आकस्मिक दुर्घटना से पीड़ित व्यक्ति को इमरजेन्सी वार्ड से गहन चिकित्सा कक्ष ICU में भेजा जाता है। वहाँ पर योग्य चिकित्सकों की देखरेख में रोगी का उपचार किया जाता है। गहन चिकित्सा कक्ष के चिकित्सिक एवं नर्स तथा परिचारिकाएँ अत्यंत मुस्तैद एवं स्फूर्त रहती हैं तथा रोगी पर अपना ध्यान केन्द्रित रखती हैं। समय-समय पर रोगियों के खतरनाक बीमारियों का नाना प्रकार के उपकरणों से जाँच चलती रहती है। गहन चिकित्सा कक्ष में प्रायः अति गम्भीर एवं जटिल रोग से ग्रसित व्यक्तियों को ही रखा जाता है। जैसे हृदयाघात से पीड़ित, पक्षाघात, ब्रेन हैमरेज, मानसिक विकृति, कैंसर, मधुमेह एवं रक्तचाप आदि। यदि वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार गहन चिकित्सा कक्ष का निर्माण किया जाए तो न केवल रोगी को फायदा होगा बल्कि गहन चिकित्सा कक्ष में कार्य करने वाले चिकित्सक, परिचारिकाएँ तथा अन्य स्टाफ भी अति संवेदनशील तथा चुस्त एवं दुरूस्त होकर बड़ी मुस्तैदी के साथ अपनी ड्यूटी निभायेंगे। अतः इस कक्ष के निर्माण के लिए सर्वोत्तम स्थान वायव्य कोण हैं। चिकित्सालय के लिए प्रकल्पित भूखंड के वायव्य कोण या उसके आसपास के स्थान पर इस कक्ष का निर्माण करना चाहिए। गहन चिकित्साकक्ष में रोगियों का बिस्तर उत्तर दक्षिण में लगाया जाए। शौचालय नैऋत्य तथा दक्षिण के बीच में हो। पैन्ट्री आग्नेय कोण में होनी चाहिए।

८. प्रसूति (मैटर्निटी) वार्ड--

चिकित्सालय में जच्चा-बच्चा का कक्ष या प्रसूति कक्ष का निर्माण ऐसे स्थान पर करना चाहिए जहाँ गर्भिणि महिला का जनन बच्चा पैदा करने में तकलीफ कम हो तथा उत्पन्न होने वाला बच्चा स्वस्थ एवं निरोग हो तथा दोनों जच्चा और बच्चा पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न हो। प्राचीन समय में घर के सौलह कक्षों में से एक प्रसूति कक्ष होता था जहाँ पर दाई या किसी विज्ञ महिला के संरक्षण में बच्चा पैदा कराया जाता था। इस प्रकार के कक्ष का निर्माण ईशान और पूर्व के मध्य में होता था। इस कक्ष को वहाँ रखने का अभिप्राय यह है कि पूर्व से भगवान भास्कर की सौर ऊर्जा तथा ईशान से चुम्बकीय एवं सौर इन दोनों उर्जाओं के योग से उत्पन्न इस उर्जा का लाभ नवजात शिशु तथा उसकी माता को पूर्ण रूप से मिल सके। इस स्थान के देवता भगवान की भास्कर तथा शिव हैं। सूर्य समस्त जगत की आत्मा है तथा भगवान शिव ज्ञान के भंडार के नायक है। अत: नवजात शिशु को जहाँ भगवान सूर्य का तेज ओज एवं ऊर्जा स्वस्थता प्रदान करता है वहीं उसकी माता को संतान उत्पन्न करने के कष्ट एवं पीड़ा से निवृत भी करता है, प्रसूति कक्ष में महिलाओं के लिए बेड इस प्रकार लगाया जाए ताकि उनका मुँह पश्चिम एवं उत्तर की तरफ हो। दक्षिण की तरफ मुँह वाले बेड को कभी नहीं लगाना चाहिए।

९. बाह्य रोगी विभाग (ओ.पी.डी.)–

हर चिकित्सालयों/अस्पतालों में ओ.पी.डी. (Out Door Patient Department) बनाया जाता है जहाँ पर रोगियों का रजिस्ट्रेशन करके डाक्टर/चिकित्सक को दिखाया जाता है। बहिरंग विभाग में चिकित्सक रोगी की प्रथम दृष्टया जाँच करता है और उसके रोग के लक्षणों को जानकर उसे चिकित्सा के सम्बन्ध में परामर्श देता है। रोगी की प्रारम्भिक चिकित्सा यहीं से प्रारम्भ होती है ओ.पी.डी. चिकित्सालय का महत्वपूर्ण स्थान है। ओ.पी.डी. को चिकित्सालय के भूतल पर रखना अच्छा है तथा इसका निर्माण यदि पूर्वाभिमुखी चिकित्सालय है तो इमरजेन्सी वार्ड के दूसरी तरफ पूर्व दिशा में तथा उत्तराभिमुखी चिकित्सालय के दक्षिण भाग में बहिरंग (ओ.पी.डी.) अनुभाग होना चाहिए। ओ.पी.डी. कक्षों के दरवाजे का मुँह भी पूर्वाभिमुखी एवं उत्तराभिमुखी होना चाहिए। ओ.पी.डी. को पूर्व एवं उत्तर में रखने का अभिप्राय यह है कि रोगी का परीक्षण करते समय चिकित्सक/डाक्टर को रोग जल्द समझ में आ जाए (डायगनोज) जिससे तुरन्त सही इलाज/उपचार करने से रोगी को लाभ होता है। प्राय: देखा जाता है कि जल्दी रोग समझ में ही नहीं आता अर्थात् (डायगनोज) नहीं हो पाता है जिससे नाना प्रकार के परीक्षणों से रोगी को गुजरना पड़ता है इससे रोगी और धन दोनों को हानि पहुँचती है। इसलिए ओ.पी.डी. का निर्माण यदि सही दिशा में वास्तु के अनुरूप किया जाए तो रोगी को शीघ्र लाभ होता है।

१०. शल्य कक्ष (ऑपरेशन थियेटर) –

बहुत से रोग एवं बिमारियाँ अत्यन्त जटिल एवं दुरूह हो जाती है जिनका उपचार औषधि के अतिरिक्त शल्य क्रिया से आवश्यक हो जाता है। कई बार मानव अंगों में इस प्रकार की विकृति हो जाती है जिसको काटकर निकालना पड़ता है। तभी वह ठीक हो पाता है। आजकल रोग इतने जटिल एवं भयावह हैं कि चिकित्सक को शल्य क्रिया करना अनिवार्य हो जाता है। दुर्घटनाओं में कई बार चोट के कारण भी शल्य चिकित्सा अनिवार्य हो जाती है। शल्य चिकित्सा करते समय डाक्टर/चिकित्सक का ध्यान पूर्णतः रोगी के उस विकृत अंग पर होना चाहिए जिसकी वह शल्य क्रिया कर रहा है। ध्यान के विचलित होने पर बड़ा से बड़ा अनर्थ यहाँ तक कि रोगी की जान भी चली जाती है। बहुधा देखा गया है कि शल्य क्रिया करते समय कई बार चिकित्सक के रोगी के पेट या विशेष अंग जिसकी चिकित्सा कर रहा है उसी अंग के भीतर कैंची, सुई, चाकू तथा कपड़ा आदि भूलवश छूट जाते हैं जिससे रोगी को परेशानी कम होने के वजाय बढ़ जाती है और पुनः शल्य क्रिया करके उस वस्तु को रोगी के शरीर से बाहर निकाला जाता है। इस प्रकार की दुर्घटनाओं से बचने तथा रोगी को त्वरित लाभ पहुँचाने तथा चिकित्सक एवं चिकित्सालय की ख्याति बढ़ाने के लिए शल्य कक्ष का वास्तुसम्मत निर्माण करना चाहिए। शल्य कक्ष का निर्माण अथवा स्थान का निर्धारण दक्षिण अथवा पश्चिम में करना चाहिए। दक्षिण दिशा का स्वामी मंगल है जो कि शल्य चिकित्सा का कारक ग्रह है। तथा पश्चिम दिशा का स्वामी शनि है यह भी कई व्याधियों एवं रोगों का जनक है इस दिशा में शल्य क्रिया करने से रोगी को आराम पहुँचता है। शल्य क्रिया करते समय डाक्टर का मुँह पूर्व तथा उत्तर की तरफ रहे और रोगी का सिर दक्षिण या पूर्व की ओर रहे।

११. निदानशाला (पैथोलोजी) –

रोगियों के रोग की पहचान तथा रोगी के शरीर के अन्दर रोग की उग्रता की पहचान के लिए चिकित्सक कुछ परीक्षण कराते हैं। जैसे कि मलमूत्र, बलगम, रक्त आदि तथा कुछ असाध्य एवं जटिल रोगों की उग्रता जानने के लिए विकृत अंग से निकाले गये सैम्पल की जाँच के लिए प्रयोगशाला में भेजते हैं जिसे पैथोलोजी कहते हैं। वास्तुसम्मत चिकित्सालय में पैथोलोजी का निर्माण दक्षिण एवं नैऋत्य कोण में सर्वोत्तम है। यह निर्माण दक्षिण और नैऋत्य के बीच में अथवा दक्षिण पश्चिम के बीच में भी किया जा सकता है। पैथोलोजी कक्ष का वहाँ निर्माण करने का अभिप्राय प्रकल्पित वास्तु पुरुष का पैर और गुदा का स्थान है तथा वह स्थान राहु का भी है। इसलिए पैथोलोजी (प्रयोगशाला) के लिए यह स्थान प्रशस्त माना गया है। पैथोलोजी कक्ष में मलमूत्र का सैम्पल नैऋत्य में रखना चाहिए तथा रक्त का सैम्पल उत्तर में रखना चाहिए एवं बलगम का सैम्पल पूर्व में रखना चाहिए। जाँच करने वाली मशीनों को दक्षिण पश्चिम में रखना चाहिए। टैक्निसियन (जाँच कर्त्ता) का टेबल इस प्रकार लगाना चाहिए उनका मुँह उत्तर दिशा में अथवा पूर्व में हो

पैथोलोजी कक्ष का ईशान भाग साफ सुथरा रखना चाहिए वहाँ पर किसी प्रकार का दूषित पदार्थ अथवा मलमूत्र का सैम्पल किसी हालत में नहीं रखना चाहिए। प्रधान टैक्निसियन का टेबल दक्षिण अथवा पश्चिम में लगाना चाहिए। प्रयोगशाला (पैथोलोजी) कक्ष में कूड़े की टोकरी (डस्टबीन) को नैऋत्य भाग में रखना चाहिए।

१२. एक्स-रे कक्ष

वास्तु सम्मत चिकित्सालय में एक्स-रे कक्ष का निर्माण आग्नेय कोण में प्रशस्त माना गया है। वहाँ पर जाँच के सभी विद्युत उपकरण जैसे एक्स-रे मशीन, सी.टी. स्कैन, एम.आर.आई, फिजियो थैरेपी की मशीने तथा अन्य विद्युत उपकरणों को आग्नेय में रखना चाहिए। बहुत से ऐसे रोग होते हैं जिनकी पहचान तथा उनका शरीर पर प्रभाव जानने के लिए विशेष अंगों का फोटो (एक्स-रे) लेना पड़ता है। ये सभी यन्त्र विद्युत से प्रचालित होते हैं इसलिए इनके गुण धर्म के अनुसार आग्नेय कोण ही उचित है। भारी-भारी मशीनों को दक्षिण एवं पश्चिम में रखना चाहिए तथा एक्स-रे के लिए रोगी का बेड अथवा लेटने की जगह उत्तर दक्षिण में अथवा सुविधानुसार पूर्व-पश्चिम में रखा जा सकता है लेकिन यह ध्यान रखना चाहिए कि रोगी एक्स-रे के समय सिर पूर्व या दक्षिण की तरफ रखे तभी उसके शरीर का संतुलन ठीक रहेगा और एक्स-रे भी ठीक होगा अन्यथा असंतुलित होने पर एक्स-रे का फोटो खराब हो जाता है जिससे टेक्नीसियन को बार-बार एक्स-रे करना पड़ता है।

१३. रोगियों के कक्ष (वार्ड) –

रोग की निवृति के लिए रोगियों को चिकित्सक के संरक्षण में रहना पड़ता है इसलिए रोगियों को अस्पताल/नर्सिंग होम अथवा चिकित्सालय में ठहरने तथा स्वास्थ्य लाभ के लिए वार्डों की व्यवस्था की जाती है। रोग की प्रकृति तथा चिकित्सालय में स्थित वार्डों की प्रकृति एवं गुण के अनुसार व्यवस्था की जाए तो रोगी को शीघ्र रोग से मुक्ति मिल सकती है। अतः वार्डों की स्थापना इस प्रकार करनी चाहिए–

(क) जनरल वार्ड–

रोगियों के अल्पावधि तक उपचार के लिए जनरल वार्ड की स्थापना की जाती है। इस वार्ड में वही रोगी रखे जाते है जिनको चिकित्सक समझते हैं कि एक दो दिन या अल्पावधि तक अस्पताल में डाक्टर के संरक्षण में चिकित्सा अनिवार्य है। इस प्रकार के रोगी कुछ समय तक जनरल वार्ड में रखे जाते हैं। फिर उनको छुट्टी दे दी जाती है। इस वार्ड में बच्चे, जवान, बूढ़े सभी के लिए एक समान बिस्तर होता है तथा जनरल वार्ड में स्त्रियों का कक्ष अलग से होता है। यदि जनरल वार्ड का निर्माण वास्तुसम्मत हो तो रोगी को प्राकृतिक उर्जाओं एवं पंच महाभूतों के समन्वय के कारण शीघ्र लाभ होता है इसलिए जनरल वार्ड का निर्माण हमेशा पूर्व दिशा में करना

चाहिए। इस वार्ड का मुख्य द्वार पूर्व की तरफ हो तथा ज्यादा से ज्यादा खिड़कियाँ पूर्व या उत्तर की तरफ होनी चाहिए जिससे कि सूर्य की प्रातः कालीन किरणें वार्ड में प्रवेश कर सके। रोगीयों के बिस्तरे उत्तर दक्षिण अथवा पूर्व-पश्चिम में हो जिनका सिर हमेशा पूर्व एवं दक्षिण में हो यह सामान्य नियम सर्वत्र लागू होता है।

(ख) क्षय रोगियों का वार्ड –

क्षय रोग से पीड़ित व्यक्तियों का वार्ड पूर्व दिशा के किसी भी मंजिल पर बनाया, जा सकता है। हृदय रोग, टी.बी, कैन्सर आदि भयंकर बीमारियाँ जिनसे पीड़ित व्यक्ति है उनका उपचार एवं डाक्टर की समुचित देखभाल के अलावा वास्तु के नियमानुसार बना हुआ वार्ड न केवल रोगी को ठीक कर देता अपितु अस्पताल और डाक्टरों के भी यश को बढ़ाता है। पूर्व दिशा का स्वामी सूर्य है तथा हृदय रोग तथा क्षय रोग का कारक भी है इसलिए पूर्व दिशा इस वार्ड के लिए प्रशस्त है। सूर्य से उर्जा, ताप प्रकाश एवं अल्ट्रावायलेट किरणों का ज्यादा से ज्यादा लाभ रोगियों को प्राप्त होता है। सूर्य के सामने नग्न त्वचा स्वयं उसकी किरणों से विटामिन डी सोख लेती हैं जो जीवन रक्षण का काम करती है।

(ग) तन्त्रिकातन्त्र वार्ड (न्यूरोलोजी) –

चन्द्रमा का सम्बन्ध सीधे मन से है अतः चन्द्रमा मन का कारक है। इसके अलावा चन्द्रमा अन्य रोगों जैसे अनिद्रा, कफ, ऊर्जासार जलोदर, पाण्डु एवं मानसिक रोग उन सभी का कारक है। अतः यदि मानसिक रोग का वार्ड प्रकल्पित चिकित्सालय के चन्द्र के स्थान पर स्थापित किया जाए तो रोगी को अवश्य लाभ होगा। मानसिक रोगों का सम्बन्ध सीधा मन एवं दिमाग से होने के कारण मनुष्य प्रायः विक्षीप्त हो जाता है अतः उसको ऐसे स्थान की आवश्यकता होती है जहाँ पर उसे शान्ति, आराम मिले ताकी वह अपने को स्वस्थ महसूस करे। इसके लिए उपयुक्त स्थान उत्तर अथवा वायव्य एवं पश्चिम में है। उत्तर में ज्यादा श्रेष्ठ है। यहाँ पर रोगी के ऊपर पृथ्वी का चुम्बकीय शक्ति का प्रभाव पड़ता है तथा चन्द्रमा के द्वारा शीतलता प्रदान की जाती है। यहाँ पर रोगी का सिर दक्षिण एवं पैर उत्तर की तरफ होने चाहिए क्योंकि मानव शरीर स्वयं एक चुम्बक की भाँति काम करता जिसमें शरीर का सबसे भारी एवं महत्वपूर्ण भाग सिर उत्तरी ध्रुव होता है। सोते समय यदि सिर उत्तर दिशा की ओर हो तो पृथ्वी का और शरीर का उत्तरी ध्रुव एक दूसरे को प्रतिकर्षित करते हैं जिसका दुष्प्रभाव रक्त संचार पर पड़ने से अनिद्रा, तनाव तथा अन्य मानसिक पीड़ाये बढ़ जाती हैं।

(घ) चर्मरोग वार्ड (Skin Disease) –

चर्म रोग कई तरह के होते हैं। खाज, दाद, फोड़ा, फुन्सी, चेचक, माता (छोटी माता, बड़ी माता आदि) इन रोगों का कारक मंगल है। अतः इस रोग के वार्ड की स्थापना यदि मंगल के स्थान

अर्थात् प्रकल्पित चिकित्सालय के दक्षिण भाग में किया जाय तो रोगियों को लाभ होगा। चर्म रोग एक प्रकार छुआछूत की बिमारी है इस बिमारी में रोगी के कपड़े गर्म पानी में निकालते हैं ताकि उसके बैक्टिरिया या जीवाणु फिर से सक्रिय न हों। सुविधानुसार इस वार्ड की स्थापना उत्तर और ईशान के मध्य में भी कर सकते हैं। पूर्व में भी इस वार्ड की स्थापना की जा सकती है। जहाँ पर सौर उर्जा से रोगी को शीघ्र लाभ मिल सके।

ङ) तंत्रिका वार्ड–

तंत्रिका का कारक शनि है। अतः इस वार्ड की स्थापना पश्चिम भाग में करनी चाहिए। स्नायु विकार जो कि कफ एवं बात से प्रभावित होती है प्रयुक्त दिशा मे रोगी के रहने से शीघ्र लाभ मिलता है।

(च) अस्थि रोग वार्ड

हर प्रभाव के अस्थियों का कारक सूर्य है इस रोग में व्यक्ति को गठिया, वात, जोड़ो का दर्द, कमर दर्द, रीढ़ का दर्द आदि हो जाते हैं। इन रोगों से ग्रसित व्यक्ति के लिए चिकित्सालय के पूर्वी वार्ड में अस्थि रोग का वार्ड बनाना चाहिए जहाँ पर सूर्य की अल्ट्रावायलेट (पराबैंगनी) किरणों से अत्यधिक लाभ होता है।

(छ) स्त्री रोग वार्ड–

स्त्री रोगियों के लिए अलग से प्रखंड या वार्ड बनाना चाहिए। इसके लिए उचित स्थान शुक्र है जो कि प्रस्तावित भूखण्ड के पूर्व एवं आग्नेय के बीच में है। चूँकि स्त्रियों को हर प्रकार की बीमारी हो सकती है लेकिन उनको पुरुषों के साथ नहीं रखा जा सकता है। अतः उनको इसी दिशा में वार्ड बनाना उपयुक्त है। वैसे शुक्र वीर्य, कफज व्याधि, मूत्रकृच्छ, गुप्तेन्द्रिय, प्रमेह रोग एवं वीर्य जनित रोगों का कारक है। इन सभी रोगों के उपचार तथा इस रोग के स्पेशलिस्ट को भी पूर्व आग्नेय के मध्य में ही परामर्श कक्ष बनाना चाहिए।

(ज) जले हुए रोगियों का वार्ड–

जले हुए रोगियों के लिए एक अलग से वार्ड बनाना चाहिए। प्रायः यह सभी अस्पताल में सम्भव नहीं होता क्योंकि इसका उपचार अति कठिन होता है। अग्नि से दग्ध व्यक्ति को शीतलता चाहिए उसको किस स्थान पर रखने से शीतलता प्राप्त होगी इसका वास्तुशास्त्र ने विचार कर बताया कि इस प्रकार के वार्ड को ईशान तथा उत्तर के मध्य में बनाया जाए तो रोगी को अग्नि दाह से राहत मिल सकती है। ईशान क्षेत्र जल का है जहाँ जल का गुण धर्म शीतलता प्रदान करना है अग्नि से तप्त एवं दग्ध व्यक्ति को शीतल करेगा वही यदि दहकती अग्नि पर जल डाल दिया जाए तो अग्नि शीतल हो जाती है उत्तर की तरफ सोम का स्थान है वह भी शीतलता के प्रतीक

है। जहाँ पृथ्वी पर दिन के समय सूर्य के प्रचण्ड ताप से दग्ध जीवों को रात्रि में चन्द्रमा अपनी अमृतमयी किरणों से शीतलता प्रदान कर ओत-प्रोत कर देते हैं।

(झ) कुष्ठ रोगी वार्ड

कुष्ठ रोग भी क्षय रोग में आता है अतः इसके लिए भी रोगियों को अलग से रखने की व्यवस्था है। इस रोग का कारक राहु है। इसके अलावा राहु के कुपित होने पर और भी रोग होते हैं जैसे हृदयाघात, विष जन्य रोग, संक्रामक रोग, अपस्मार, चेचक आदि। कुष्ठ रोगियों को रखने के लिए नैऋत्य दिशा में वार्ड उपयुक्त होगा क्योंकि यह स्थान राहु का है तथा वह अस्पताल के पिछले वार्ड का हिस्सा है और राहु का गुण धर्म के अनुसार यह स्थान ठीक भी है। कुष्ठ रोग भी कई प्रकार के होते हैं। कुछ तो इतने भयानक होते हैं जिससे कि रोगी का अंग गलकर सड़ने लगता है। इसलिए इस प्रकार के रोगियों का वार्ड एक तरफ ही होना चाहिए।

(ञ) बाल रोग वार्ड

चिकित्सालय में एक ऐसे वार्ड की आवश्यकता होती है जहाँ पर शीशु रोगियों को रखा जाता है। बच्चों को भी कई प्रकार के रोग हो सकते हैं। बच्चे स्वभाव से चंचल तथा उनके शरीर में जीवनी शक्ति का संचार भी तेजी से होता है। अतः उनका वार्ड बुध या वायु के स्थान पर विशेष लाभदायक रहता है। अतः इस प्रकार वार्ड की स्थापना उत्तर एवं वायव्य के बीच या वायव्य में किया जा सकता है।

१४. अनुसंधान कक्ष–

आजकल बहुत से नये नये रोगों के उत्पन्न होने के कारण तथा डाक्टरों एवं चिकित्सकों के समझ के बाहर होने के कारण अनुसंधान कक्ष या रिसर्च सेन्टर का निर्माण आवश्यक है। रिसर्च सेन्टर ऐसे स्थान पर होना चाहिए जहाँ पर रोग के बारे में शीघ्र पता लगाया जा सके। वास्तुशास्त्र अनुसंधान कक्ष के निर्माण के बारे में विचार कर बताता है कि इसको शनि के स्थान पश्चिम भाग में निर्माण करना चाहिए। पश्चिम तथा पश्चिम वायव्य के बीच में भी बनाया जा सकता है क्योंकि शनि वैज्ञानिक शोध के स्थान का भी कारक है। अनुसंधान कक्ष को उत्तर बुध के स्थान पर भी बनाया जा सकता क्योंकि बुध बौद्धिक कार्यों का प्रतिनिधित्व करता है तथा बुध का गुण धर्म है। त्रिदोष धातुकारक क्योंकि पृथ्वी तत्व का ग्रह है तथा ज्योतिष, चिकित्साशास्त्र गणित विद्या एवं शिल्प आदि का भी कारक है। अतः बुध के स्थान पर अनुसंधान कक्ष का निर्माण शुभप्रद होगा। अनुसंधान कक्ष में प्रयोगशाला की स्थापना नैऋत्य में तथा भारी-भारी मशीनों को दक्षिण पश्चिम में रखना चाहिए। मुख्य चिकित्सक/वैज्ञानिक का कक्ष अनुसंधान कक्ष में दक्षिण पश्चिम या नैऋत्य में होना चाहिए।

१५. प्रशासनिक खंड–

चिकित्सालय का कार्य सुचारू रूप से चलाने तथा प्रशासनिक व्यवस्था के लिए प्रशासनिक खंड का निर्माण किया जाता है। यदि चिकित्सालय का प्रशासनिक अधिकारी चुस्त-दुरूस्त है तथा अपना कार्य ठीक से करते हैं तो अस्पताल के अन्य कर्मचारी भी कार्य ठीक से करेंगे। इससे रोगी को तो लाभ होगा ही साथ में चिकित्सालय का यश एवं कीर्ति के साथ-साथ अर्थोपार्जन भी प्रचुर मात्रा में होगा। अतः वास्तुसम्मत इस खंड का निर्माण दक्षिण, नैऋत्य एवं पश्चिम में करना चाहिए। इसका पूर्व एवं उत्तर का भाग खुला तथा दक्षिण एवं पश्चिम में निर्माण होना चाहिए। मुख्य प्रशासनिक अधिकारी का कक्ष इन दिशाओं में इस प्रकार होना चाहिए ताकि बैठते समय उसका मुँह पूर्व, उत्तर एवं ईशान की तरफ रहे।

१६. वित्त प्रखंड–

चिकित्सालय के खर्चे का लेखा जोखा तथा बिलों का भुगतान एवं कैश डिपोज़िट का स्थान, लेखा अधिकारी एवं प्रमुख लेखा अधिकारी के बैठने के स्थान के लिए वित्त प्रखंड का निर्माण किया जाता है। वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार इस प्रखंड का निर्माण चिकित्सालय के उत्तरी भाग जिसके ग्रह बुध एव देवता कुबेर हैं उस स्थान पर करना चाहिए। इस प्रखंड का मुख्य द्वार ईशान उत्तर अथवा पूर्व में रखा जा सकता है। मुख्य लेखाधिकारी का कक्ष दक्षिण में होना चाहिए ओर उनका टेबल इस प्रकार लगा होना चाहिए जिससे कि उनका मुँह उत्तर की तरफ रहे। बाकी अधिकारियों एवं कर्मचारियों का स्थान पद के अनुसार दक्षिण क्रम से होना चाहिए। कमरों का दरवाजा उत्तर की तरफ तथा आलमारियाँ दक्षिण दिवाल के साथ लगी हो ताकि उनको खोलते समय उत्तर की तरफ खुले।

१७. बेसमेन्ट–

स्वास्थ की दृष्टि से बेसमेन्ट अथवा तलघर का निर्माण श्रेष्ठ नहीं है लेकिन शहरों में भूमि का अभाव तथा बदली हुई परिस्थितियों में आजकल इसके निर्माण का प्रचलन तेजी से बढ़ रहा है। अतः वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार ही बेसमेंट का निर्माण करना चाहिए। चिकित्सालय में बेसमेन्ट का निर्माण रोगी कक्ष के लिए बिल्कुल नहीं करना चाहिए क्योंकि इसके अन्दर शुद्ध वायु एवं सौर ऊर्जा का लाभ रोगी को नहीं मिल पाता। वेसमेन्ट का निर्माण चिकित्सालय के पूर्वी एवं उत्तरी भाग में करना चाहिए। सम्पूर्ण भूमि पर वेसमेन्ट नहीं बनाना चाहए। वेसमेन्ट का भाग भूमितल से कुछ ऊँचा रखना चाहिए ताकि वायु एवं प्रकाश का लाभ मिल सके। इसके अन्दर प्रयोगशाला, रसायनशाला, औषधिशाला आदि का निर्माण किया जा सकता है। वेसमेन्ट बनाते समय इस बात का ध्यान रखना जरूरी है कि ब्रह्मस्थान के साथ कोई छेड़छाड़ न हो। गाड़ियों की पार्किंग में भी इसका प्रयोग किया जा सकता है। बेसमेन्ट में शौचालय नहीं बनाना चाहिए। इससे पूरा

वातावरण प्रदूषित होता है। क्योंकि मलमूत्र त्यागने से उसकी गैस निकालने के लिए पर्याप्त जगह बेसमेन्ट में नहीं होती।

१८. लिफ्ट एवं सीढ़ियाँ–

बहुमंजिले चिकित्सालय में एक मंजिल से अन्य मंजिल पर जाने के लिए तथा रोगियों को ले जाने के लिए लिफ्ट एवं सीढ़ियों का निर्माण करना पड़ता है। लिफ्ट एवं सीढ़ियाँ चिकित्सालय अथवा वार्डों के प्रखंडों में उसके दक्षिण पश्चिम भाग में निर्माण करना चाहिए। उनका निर्माण करते समय इस बात का ध्यान आवश्यक है कि उपयोग कर्ता का मुँह पूर्व या उत्तर की तरफ हो सीढ़ियों का निर्माण सोपान वास्तु के अनुसार होना चाहिए तथा सीढ़ियों के पौड़ियों की संख्या विषम हो। हर तल पर लिफ्ट के दाहिनी तरफ अग्निशमक यन्त्र लगा होना चाहिए तथा वार्डों एवं पूरे भवन में उत्तर अथवा उत्तर पूर्व में अग्निशमक यन्त्र अवश्य लगाना चाहिए।

१९. लान एवं फव्वारे–

चिकित्सालय के अन्दर क्यारियाँ, छोटे उपवन, घास तथा फूल के पौधे वास्तु के नियमों के अनुसार पूर्व, उत्तर अथवा ईशान में लगाना चाहिए इन क्यारियों में उन्हीं पौधों एवं वनस्पतियों को लगाना चाहिए जिनको वास्तुशास्त्र के नियमों के अनुसार शुभ कहा गया है। अशुभ वृक्षों का रौपण न तो रोगी को लाभप्रद होगा और न ही चिकित्सालय को बड़े एवं छायादार वृक्षों का रोपण दक्षिण एवं पश्चिम भाग में करना चाहिए। फव्वारे तथा झरनों का निर्माण पूर्व, उत्तर अथवा ईशान में श्रेयस्कर है। दक्षिण भाग में कभी भी फव्वारे का निर्माण नहीं करना चाहिए।

२०. पार्किंग

चिकित्सा केन्द्रों में गाड़ियों के पार्किंग की व्यवस्था पूर्व, वायव्य तथा दक्षिण पश्चिम में करनी चाहिए। छोटी गाड़ियों जैसे दो पहिये वाले एवं साइकिल आदि की व्यवस्था पूर्व भाग में तथा बड़ी गाड़ियों की व्यवस्था दक्षिण पश्चिम में करनी चाहिए। अम्बुलेन्स को वायव्य में रखना हितकर है।

२१. विश्रामालय–

रोगियों के परिजनों को ठहरने के लिए चिकित्सालय में एक ऐसे स्थान पर व्यवस्था करनी चाहिए जहाँ वे विश्राम कर सकें। कई भयंकर रोग से ग्रसित रोगी के ठीक होने में काफी समय लगता है और ऐसे रोगी डाक्टर के निरीक्षण में इलाज के लिए भर्ती कर लिए जाते हैं। इस प्रकार की परिस्थिति में रोगी के परिजनों के विश्राम एवं स्नानादि क्रियाओं के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। वास्तुशास्त्र के अनुसार चिकित्सालय परिसर के बाहर वायव्य कोण में अथवा वायव्य

पश्चिम में इसका निर्माण करना चाहिए। विश्रामालय में शौचालय, स्नानागार एवं कैन्टीन आदि की व्यवस्था वास्तु के सिद्धान्तों के अनुसार होनी चाहिए।

२२. ध्यान कक्ष, मंदिर का निर्माण–

चिकित्सा के लिए आये हुए रोगियों को मानसिक शान्ति, आत्मबल की प्राप्ति के लिए प्राय: चिकित्सालयों में ध्यान कक्ष, योग कक्ष एवं मंदिर आदि का निर्माण किया जाता है। अत: इन कक्षों का निर्माण पूर्व उत्तर अथवा ईशान में सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण इस प्रकार होना चाहिए जिससे कि बैठने वाला व्यक्ति पूर्वाभिमुखी अथवा उत्तराभिमुखी हो।

२३. स्टाफ/कर्मचारी आवास–

बड़े-बड़े सभी चिकित्सालयों एवं चिकित्सा केन्द्रों पर स्टाफ क्वार्टर/हॉस्टल अथवा कर्मचारी आवासों का निर्माण किया जाता है। इनका निर्माण वास्तु सम्मत पश्चिम दिशा में करना चाहिए। पश्चिम दिशा का स्वामी शनि है जो सेवा कर्म का कारक है। यदि हॉस्टल बनाना हो तो नर्सों का हॉस्टल वायव्य एवं उत्तर के बीच में तथा डाक्टरों का हॉस्टल दक्षिण या पश्चिम के बीच में बनाना चाहिए। इन दोनों हॉस्टलों के इस स्थान पर वास्तु के अनुसार निर्माण का प्रयोजन यह है कि डाक्टर और नर्स दोनों क्रियाशील रहें। नर्स वायु के स्थान पर तथा डाक्टर बुध तथा राहु के स्थान पर रहते हैं। दोनों गृहों का गुण धर्म चिकित्साशास्त्र के लिए उत्तम है तथा इसके कारक भी हैं।

२४. मुर्दाघर/पोस्टमार्टम कक्ष–

असाध्य एवं भयंकर रोग से पीड़ित रोगियों की कई बार मृत्यु हो जाती है। मृत्यु के बाद अस्पताल की कार्यवाही एवं बिल भुगतान आदि में समय लग जाता है इस दौरान मुर्दे (डेड वाडी) को रखने के लिए एक स्थान का निर्माण किया जाता है जिसको मुर्दाघर कहते हैं। तथा कई बार रोगियों के मृत्यु के कारण की जाँच के लिए मृत शरीर का पोस्टमार्टम (चिरफाड़) किया जाता है। इस कक्ष का निर्माण भी मुर्दाघर के आस पास किया जाता है। वास्तुशास्त्र के अनुसार श्मशान का कारक ग्रह राहु है अत: इसका निर्माण नैऋत्य अथवा दक्षिण में करना चाहिए क्योंकि दक्षिण में यम का स्थान है। वह भी मृत्यु के देवता हैं इसलिए यह स्थान भी मुर्दाघर के लिए श्रेयस्कर है मुर्दाघर में मुर्दों को रखने की इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए कि उनका सिर उत्तर तथा पैर दक्षिण की तरफ हो।

२५. औषधि कक्ष–

वास्तुशास्त्र के अनुसार चिकित्सा कक्ष का निर्माण "कौबेरेशानयोर्मध्ये चिकित्सा मंदिरं सदा" उत्तर एवं ईशान कोण के मध्य में कहा गया है। तरल औषधियों का कारक ग्रह चन्द्रमा है।

अत: यदि तरल औषधि कक्ष जैसे रसायनशाला आदि का निर्माण करना हो तो चन्द्रमा के स्थान उत्तर या उत्तर वायव्य के बीच किया जा सकता है। मंगल भी औषधालय एवं रसायनशाला का कारक ग्रह है। अत: औषधालय का निर्माण चिकित्सालय के दक्षिण में भी किया जा सकता है। चिकित्सालय का निर्माण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि पूर्व एवं उत्तर भाग खुला हो तथा औषधियों का भण्डारण दक्षिणी एवं पश्चिमी दिवाल पर बने रैक सैल्फ पर होना चाहिए ताकि सूर्य की अल्ट्रावायलेट (पराबैंगनी) किरणें प्रचुर मात्रा में औषधालय में प्रवेश कर संग्रह औषधियों पर जिवनी शक्ति प्रदान करें जिससे कि रोगी को ज्यादा लाभ हो सके।

उपसंहार–

चिकित्सालय, चिकित्सा केन्द्र, नर्सिंगहोम तथा अस्पताल आदि का निर्माण करने का प्रधान लक्ष्य यह है कि रोगी को शिघ्रातिशीघ्र लाभ हो तथा रोगी स्वस्थ एवं निरोग होकर इन चिकित्सालयों से जाये ताकि उनको निरन्तर लाभ होता रहे। रोग के कारण के विषय में आयुर्वेद का कहना है कि– **"रोगस्तु दोष वैषम्यं दोषसाम्यमरोगता"** दोषों का शरीर में विषयावस्था में रहना रोग एवं दोषों की साम्यावस्था में रहना ही निरोग है। अर्थात् रोग हमेशा शरीर में विद्यमान रहते हैं। उनका शरीर पर केवल साम्य एवं असाम्य का ही प्रभाव पड़ता है। जो द्रव्य शरीर को दूषित करते हैं वे दोष कहे जाते हैं। वात, पित्त एवं कफ ये शारीरिक दोष है। इसी प्रकार मन को दूषित करने वाले दो दोष रज एवं तम है। यदि चिकित्सा केन्द्रों का निर्माण करते समय पंचमहाभूतों एवं प्राकृतिक ऊर्जाओं को ध्यान में रखकर किया जाए तो अवश्य लाभ होगा। आचार्य चरक ने भी चरक संहिता में कहा है–**सर्व द्रव्यं पाँचभौत्तिकम्[१] महाभूतानि खं वायुराग्निरापः क्षितिस्तथा।[२]**

सम्पूर्ण सृष्टि की रचना पाँच भूतों से है। वे महाभूत भी आकाश, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी है। इन पंच महाभूतों का तारतम्य मानव शरीर के पाँच कर्मेन्द्रियों से है जैसे खं क्षेत्रे के अनुसार कान आकाशीय है। जो कि शब्द गुण ग्राहक है, 'त्वक्' वायव्य है अर्थात् वायु है। यह स्पर्श गुण ग्राह्य करता है। 'नेत्र' तेजस है (अग्नि) अत: रूप ज्ञान का कारण है। "रसना" जलीय है यह रस का ज्ञान का कारण है। 'घ्राण' पार्थिव है। अर्थात् (पृथ्वी है) यह गन्ध ज्ञान का कारण है।[३] इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पंच महाभूत हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पंच विषय हैं। ज्ञातृत्व, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार ये पंचविध अन्तःकरण हैं। ज्ञान, संकल्प, निश्चय, अनुसंधान और अभिमान ये अन्तःकरण पंच के पंचविध विषय हैं। उक्त रीति से पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच प्राण, पंच उपप्राण और अन्तःकरण इस पंचक का समुदाय ही सूक्ष्म शरीर है।

---

१. चरक संहिता –

२. चरक संहिता शरीर स्थान १.२७

३. चरक संहिता ८.१४

वृक्ष एवं वनस्पति रोपण

श्री रामेश्वरदयाल शर्मा

प्राणीमात्र के जीवन मे वृक्षों का बहुत महत्त्व है। उपयोगिता की दृष्टि से वृक्ष मानवमात्र के अभिन्न मित्रों में से एक है जो मित्रता की कसौटी पर खरे उतरते हैं। ये न केवल अच्छी वर्षा के ही सूचक हैं अपितु प्रदूषण के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने, जलवायु और वातारण के सन्तुलन को बनाये रखने में भी वृक्षों का योगदान सर्वोपरि है। वृक्षों के द्वारा हमें अमूल्य वस्तु उपहार स्वरूप प्राप्त होती है। प्राण वायु से लेकर लकड़ी, औषधि, फल, फूल, पत्ते, रबर, वृक्षों की जड़ एवं छाल आदि मानव के दैनिक जीवन की बहुमूल्य निधि है। अतः मनुष्य का यह नैतिक कर्त्तव्य एवं ध र्म है कि घर और राजमार्गों के समीप वृक्षारोपण करें।

इसी सन्दर्भ में बृहद्वास्तुमाला नामक ग्रन्थ में यह विषय स्पष्ट रूप से वर्णित है कि यदि कोई भी व्यक्ति एक पीपल, एक नीम, एक बरगद, दस इमली, तीन कपित्थ (कैथ), तीन विल्व, तीन आँवला और पाँच आम के वृक्ष लगाता है तो वह नरक का द्वार नहीं देखता है। अर्थात्–

अश्वत्थमेकं पिचुमन्देकं न्यग्रोधमेकं दशचिञ्चणीकम्।
कपित्थविल्वामलकत्रयञ्च पञ्चाम्रवापी नरकं न पश्येत्[१]।।

तुलसी का पौधा घर में सुख-समृद्धि एवं धन का प्रतीक है। अतः इस पवित्र पौधे को घर के आँगन, ईशान, पूर्व या उत्तर में लगाना चाहिए। फूलों के पौधे एवं घास का मैदान घर के पूर्व, पश्चिम, उत्तर या ईशान मे श्रेष्ठ है। इसी प्रकार अशोक, अनार, नारियल, नीम, सुपारी के वृक्ष घर के समीप ही और तुलसी, चन्दन, चमेली, मोगरा, गुलाब, विल्व एवं अगूर के पौधे घर में शुभकारक होते हैं।

वृक्षारोपण का उद्‌देश्य–

प्रान्तच्छायाविनिर्मुक्ता न मनोज्ञा जलाशयाः।
यस्मादतो जलप्रान्तेष्वारामान् विनिवेशयेत्[२]।।

---

१. बृहद्वास्तुमाला ५.२३

२. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद, श्लोक-१

सरोवर, कूप, तालाब आदि के बिना वृक्ष, लता एवं गुल्म रुचिकर नहीं होते हैं अतः जलभण्डारों एवं राजपथों के समीप फलदार वृक्षों और पुष्पों के पौधों एवं वृक्षों को लगाना महत्त्वपूर्ण माना गया है।

वृक्षारोपण हेतु श्रेष्ठ भूमि–

> मृद्वी भूः सर्ववृक्षाणां हिता तस्यां तिलान् वपेत्।
> पुष्पितांस्तांश्च मृद्नीयात् कर्मैतत्प्रथमं भुवः[१]।।

मुलायम, मृदु, कंकड़ पत्थरों से रहित एवं मन को प्रफुल्लित करने वाली भूमि सभी प्रकार के वृक्षों के रोपण के लिए शुभ होती है। इस प्रकार की भूमि में सर्वप्रथम तिल बोना चाहिए, जब तिलों में पुष्प खिलने लगें तो उन फूलों को वहीं पर तोड़-मरोड़कर भूमि को वृक्षारोण के लिए तैयार करना चाहिए।

उद्यान में लगाने योग्य वृक्ष–

> अरिष्टाऽशोकपुन्नागशिरीषाः सप्रियङ्गवः।
> माङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा[२]।।

सर्वप्रथम बाग या घर के नजदीक शुभफलदायक नीम, अशोक, पुन्नाग, शिरीष और प्रियंगु के वृक्षों को लगाना उत्तम है।

वृक्षारोपण में दिशा-विभाजन–

> ईशाने रोपयेद्धात्रीं नैर्ऋत्ये चिञ्चिणीद्रुमान्।
> आग्नेय्यां दाडिमं चैव वायव्ये विल्ववृक्षकम्।।
> प्लक्षोत्तरे पूर्ववटं प्रशस्तं ह्युदुम्बरं दक्षिणभागके च।
> अश्वत्थवृक्ष दिशि वारुणस्यां मध्ये तथाम्रान्विविधप्रकारान्[३]।।

अर्थात् ईशानकोण में आँवला, नैऋत्व्य कोण में इमली, अग्निकोण मे अनार, वायव्यकोण में बेल के वृक्षों को लगाना श्रेष्ठ है। उत्तर में पाकड़, पूर्व में बरगद, दक्षिण गूलर, पश्चिम में पीपल, और मध्य भाग में अनेक प्रकार की प्रजातियों के आम के वृक्ष लगाना युक्ति-संगत है।

---

१. वहीं वृक्षायुर्वेद. श्लोक-२
२. वहीं वृक्षायुर्वेद. श्लोक-३
३. बृ.वा.मा.मिश्र. ५.२३-२४

वृक्षारोपण में त्याज्य और ग्राह्य वृक्ष–

> **वृक्षा दुग्धसकण्टकाश्चफलिनस्त्याज्या गृहाद्दूरतः**
> **शस्ते चम्पकपाटले च कदली जाती तथा केतकी।**
> **यामादूर्ध्वमशेषवृक्षसूरजा छाया न शस्ता गृहे**
> **पार्श्वे कस्य हरे रवीशपुरतो जैनोऽनुचण्ड्याः क्वचित्।।[१]**

काटने पर जिन वृक्षों में से दूध निकता हो ऐसे दूध–युक्त वृक्ष, काँटेदार वृक्ष घर के समीप अशुभफलकारक हैं चाहे वे वृक्ष फल और फूल देने वाले ही क्यों न हो, उन्हे घर में नहीं लगाना ही अच्छा है अर्थात् ऐसे वृक्षों को त्याग दें। घर में शुभ संकेत वाले वृक्षों को ही लगायें जैसे– तुलसी, अशोक, चम्पा, चमेली, गुलाब, केला, जाती, केवडा आदि। दिन में एक पहर बीत जाने पर यदि घर के ऊपर किसी वृक्ष की छाया पड़े तो वह अशुभ फलदायक है। ब्रह्मा के मन्दिर के पास में, विष्णु, सूर्य और शिव के मन्दिर के सामने, जैन–मन्दिर के पीछे और देवी के मन्दिर के किसी भी भाग में घर का निर्माण न करें, क्योंकि वह गृहपति के लिए अरिष्टकारक है।

दूध और काँटेदार वृक्ष–

दूध–युक्त वृक्ष घर के समीप हो तो धन का नाश करते हैं, काँटेदार वृक्ष शत्रु–भय, फलदार वृक्ष सन्तान की हानि तथा सुवर्ण वर्ण वाले फूल भी घर के पास अशुभ फल प्रदान करते हैं। यथा–

> **स दुग्धवृक्षा द्रविणस्थ नाशं कुर्वन्ति ते कण्टकिनोऽरिभीतम्।**
> **प्रजाविनाशं फलिनः समीपे गृहस्य वर्ज्याः कलधौतपुष्पाः[२]।।**

आँगन में वृक्षारोपण निषेध–

घर के मध्य भाग में वृक्षारोपण नहीं करना चाहिए, चाहे वह वृक्ष स्वर्ण का ही क्यों न हो। यथा– **अपि हेममयान् वृक्षान् वास्तु मध्ये न रोपयेत्[३]**। आँगन में केवल तुलसी का पौधा लगाना ही श्रेष्ठ है– **रोपयेत् तुलसीवृक्षं सुखदं ह्यजिरे बुधः।[४]**

वृक्षारोपण का समय–

कलमी से भिन्न वृक्षों अर्थात् अजातशाखा सम्पन्न वृक्षों का शिशिरऋतु अर्थात् माघ और

---

१. राजवल्लीमण्डनम्–१.२९
२. बृ.वा.मा.मिश्र. श्लोक–१०
३. वास्तुसौख्य, ४०
४. गृहरत्नविभूषण, पृ. ९४ श्लोक १३९

फाल्गुन मास में, कलमी युक्त वृक्षों का हेमन्तऋतु में अर्थात् मार्गशीर्ष और पौष मास में, बड़ी-बड़ी शाखायुक्त वृक्षों का वर्षाकाल अर्थात् श्रावण और भाद्रपद मास में ही आरोपण करना चाहिए। वराहमिहिराचार्य के मत से यह पक्ष श्रेष्ठ है। यथा-

अजात् शाखान् शिशिरे जातशाखान् हिमागमे।
वर्षागमे च सुस्कन्धान् यथा दिक्स्थान् प्ररोपयेत्।।[१]

वृक्षारोपण का नियम-

प्राचीन काल से वैदिक सभ्यता और भारतीय संस्कृति में वृक्षारोपण को एक धार्मिक एवं सर्वश्रेष्ठ कृत्य माना जाता था। अतः घी, खस, तिल दूध और गोबर इन सभी को एकत्रित करके पीसकर पौधे की जड़ अर्थात् मूल भाग से लेकर अग्रभाग तक लेपकर वृक्ष को एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थान परिवर्ततन कर सकते हैं। इस प्रकार करने से पत्तों से युक्त वृक्ष आसानी से लग जाता है। जैसे-

घृतोशीरतिलक्षौद्रविडङ्गक्षीर - गोमयैः।
आमूलस्कन्धलिप्तानां सङ्क्रामणविरोपणम्।।[२]

वृक्षारोपण की विधि-

वृक्षारोपण से पूर्व व्यक्ति स्नानादि से निवृत्त होकर चन्दन आदि से वृक्ष की पूत्रा करके उस पूजित वृक्ष को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाकर लगाना सर्वोत्तम है। इस विधि से लगाया गया वृक्ष कभी भी नहीं सूखता है। यथा-

शुचिर्भूत्वा तरोः पूजां कृत्वा स्नानानुलेपनैः।
रोपयेद्रोपितश्चैव पत्रैस्तैरेव जायते।।[३]

वृक्ष सेचन विधि-

वृक्षारोपण के बाद वृक्षों को ग्रीष्म काल में सायं काल, प्रातः काल दोनों समय, शीतकाल में एक-एक दिन के बाद और वर्षाकाल में जब भूमि सुख जाये तब वृक्षों को सींचना चाहिए। यथा-

सायं प्रातश्च घर्मर्तौ शीतकाले दिनान्तरे।
वर्षासु च भुवः शोषे सेक्तव्या रोपिता द्रुमाः।।[४]

---

१. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद. श्लोक ६
२. वहीं वृक्षायुर्वेद. श्लोक ७
३. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद. श्लोक ८
४. वहीं वृक्षायुर्वेद. श्लोक ९

वृक्षारोपण का क्रम–

इसी क्रम में अब वृक्षारोपण के क्रम के बारे मे बताते है कि उपवनादि में वृक्षारोपण में अन्तराल विचारणीय तथ्य है। अर्थात् दो वृक्षों के मध्य २० हाथ का अन्तर उत्तम, १६ हाथ का अन्तरात मध्यम और १२ हाथ का अन्तर अधम माना गया है। यथा–

उत्तमं विंशतिर्हस्ता मध्यमं षोडशान्तरम्।
स्थानात् स्थानान्तरं कार्यं वृक्षाणां द्वादशावरम्।।[१]

वृक्षारोपण में वाटिका भेद–

वृक्षारोपण प्रकरण में वाटिका को सात भागों में विभक्त किया गया है जो निम्न प्रकार है–

१. आम्र वाटिका
२. पीपल वाटिका
३. वट वाटिका
४. पाकड वाटिका
५. निम्ब वाटिका
६. जामुन वाटिका
७. इमली वाटिका आदि।

वाटिकाओं का विभाजन बृद्धवास्तुमाला नामक ग्रन्थ में इस प्रकार है–

आम्राणां वाटिकाश्चैव द्वितीयाश्वत्थ वाटिका।
तृतीया वटवृक्षाणां चतुर्थी प्लक्षवाटिका।।

पंचमी निम्बवृक्षाणां षष्ठी जम्बुकवाटिका।
चिञ्चिणीवृक्ष सम्भूता सप्तमी परिकीर्तिता।।[२]

स्वर्गप्राप्तिकारक आम्रवाटिका–

उपर्युक्त सात वाटिकाओं में आम्र वाटिका का महत्वपूर्ण स्थान है। अर्थात् बागों में आम का बाग सर्वश्रेष्ठ माना गया है। जो गृहस्थी अग्निहोत्रादि कर्म नहीं करता है, जो स्त्रीपुत्रादिको से रहित है, उसके सम्पूर्ण पाप आम्र वाटिका लगाने से तथा राजमार्ग में छायादार वृक्षारोपण करने से नष्ट हो जाते हैं। आम्र वाटिका का निर्माण करने वाले को स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यथा–

एतासां वाटिकानां च प्रशस्ता चाम्रवाटिका।
फलदा पुण्यदा चैव पापं संहरते ध्रुवम्।।

न तत्करोत्यग्निहोत्रं न पूत्रा योषितोद्भवा।
यत्करोति धनच्छायः पादपः पथि रोपितः।।[३]

---

२. बृ.सं. वृक्षायुर्वेद. श्लोक १२
३. बृ.वा.मा.६.२८–२९
२. बृ.वा.मा.६.३०–३१

वृक्षारोपण मुहूर्त्त–

इसी प्रकार इस वृक्षारोपण के प्रसंग में सारांश रूप में वृक्षारोपण मुर्हूत का निरूपण करते हैं कि उत्तरा के तीनों नक्षत्रों में अर्थात् उत्तरा फाल्गुनी, उत्तराषाढ़ और उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा, रेवती, चित्रा अनुराधा, मूल विशाखा, पुष्य, श्रवण, अश्विनी, हस्त आदि ये नक्षत्र दिव्य दृष्टि वाले ऋषियों ने वृक्षारोपण के लिए सर्वश्रेष्ठ माने हैं। यथा–

ध्रुवमृदुमूलविशाख गुरुभं श्रवणस्तथाश्विनी हस्तः।
उक्तानि दिव्यदृग्भिः पादसंरोपणे भानि।।[१]

जातक पारिजातकार आचार्य श्री वैद्यनाथ ने उपर्युक्त नक्षत्रों में केन्द्रस्थ गुरु तथा शुक्र, जलचर राशिस्थ चन्द्र, जलचर लग्न, चतुर्थस्थ शुभग्रह अथवा दृष्टि, शुभवार तथा शुभ लग्न में वृक्षारोपण करना शुभ माना है।[२]

भारतीय एवं पाश्चात्य वास्तुशास्त्रियों का मत है कि वृक्ष हमें दीर्घायु जीवन और सौंदर्यता प्रदान करते हैं। वृक्षों के द्वारा प्राणवायु रूपी आँक्सीजन तथा अनुकूल चुम्बकीय तत्त्वों की प्राप्ति सहजता से होती है। जिस प्रकार नीम का वृक्ष विविध जड़ी–बूँटियों एवं शिर से पैर पर्यन्त विभिन्न असाध्य रोगो से प्रतिशोध लेता है उसी प्रकार तुलसी का पौधा भी आरोग्य का प्रतीक तथा हिन्दु धर्म की अखण्डता का साक्षी है। जो स्वयं भी पवित्रता के कारण विश्वविश्रुत है। वेदों में इसे विष्णुत्रिया कहा गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से इसका विवचन करें तो यह प्रतीत होगा की इसमें पारा पाया जाता है। ज्योतिषशास्त्र की दृष्टि में ग्रहण के समय यही एक पवित्र पौधा है जो खाद्य पदार्थ एव पर्यारण प्रदूषण से पड़ने वाले कुप्रभाव से बचाता है। यह प्रातः काल जल चढाने एवं स्पर्श मात्र से ही अनेक प्रकार के रोगों का नाश करता है अतः यह हमारे लिए अमृत–तुल्य एवं दैवीय शक्ति का रूप है। देवों की पूजा से लेकर यज्ञ कर्म में भी तुलसी, दुर्वा, कुश, बेलपत्र, आम्रपत्र, चन्दन, पलाश, खदिर, अश्वत्थ, अर्क और साल वृक्ष का बहुत महत्त्व है। वृक्षों में देवी देवताओं का वास भी कहा गया है जैसे–अशोक में कामदेव, कदम्ब मे श्रीकृष्ण, और पीपल में विष्णु या यक्ष का वास होता है। अतः प्राचीन ऋषियों एवं दैवज्ञों का यह मत तर्क संगत है कि हमें वास्तुशास्त्रीय रीति से वृक्षारोपण करके सामाजिक एवं धार्मिक पुण्य की प्राप्त करना चाहिए।

---

१. बृ.सं. वृक्षायुर्वेदा. श्लोक ३९
२. जात. पारि. पृष्ठ – ११७, श्लोक ३३